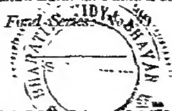
Shetha Devacanda Lālabhāi Jaina Pustakoddhāra Fund Series:



GAUTAMĪYA-KĀVYAM

BY

PĀṬHAKA RŪPACANDRA GAṆI

WITH

GAUTAMĪYA-PRAKĀŚA,

a commentary by Kṣamākalyāṇa Gaṇi

(composed in V. S. 1827-1852)



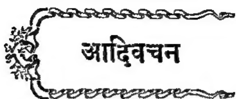
EDITED BY

MUNI KANAKAVIJAYA

Vikram Era 1996] [Christian Era 1940

Price 1-8-0

॥ णमोऽत्थु णं वीयरायाणं ॥



गौतमीयकाव्य ग्रन्थ :

गौतमीयकाव्य नामनो काव्यग्रन्थ विद्वान जनसमाजनी समक्ष रजू थाय छे. श्रीजैनशासनना चार प्रकारना अनुयोगोमां, धर्मकथानुयोगना विषयनी साथे द्रव्यानुयोगना विषयनुं प्रतिपादन करवाना कारणे आ काव्यग्रन्थ, श्रीजिनकथित सम्यक् श्रुतज्ञाननी प्राप्तिनुं परम साधन गणी शकाय तेम छे.

सामान्य रीतिये (१) द्रव्यानुयोग, (२) गणितानुयोग, (३) चरणकरणानुयोग अने (४) धर्मकथानुयोग—आ मुजबना चारे अनुयोगोमां श्रीजिनकथित अंग, उपांग अने प्रकीर्ण श्रुतज्ञान संकळायेलुं छे. जो के द्रव्यानुयोग आदि अनुयोगो अमुक दृष्टिये परस्परनी तरतमता अवश्य धरावे छे, छतां ते सघळा य परस्पर एकमेकनी साथे एक सांकळमां सळंग संकळाई रहेला अंकोडाओनी जेम एकांगीभावे जोडाईने रहेला छे. आ अपेक्षाये द्रव्यानुयोग आदि चारे य अनुयोगो, जैनशासनमां मोक्षप्राप्तिनां सम्यग् आलंबन तरिके एक सरखी रीतिये उपास्य छे.

श्रीजिनकथित प्रवचनना सारभूत द्वादशांगीरूप गणिपिटकना अंगसमा द्रव्यानुयोग तेम ज धर्मकथानुयोगना विषयोनुं सुन्दरतर प्रतिपादन आ ग्रन्थमां करवामां आव्युं छे. आ कारणे श्रीजिनकथित-

प्रवचनरसना रसिक, श्रद्धासंपन्न भव्य आत्माओने सारु आ काव्य-ग्रन्थनुं महत्त्व खूब वधे छे. ग्रन्थरचयिता महापुरुषे काव्यमय शैलीथी पद्धतिपूर्वक बन्ने अनुयोगोना विषयोनुं प्रतिपादन आ ग्रन्थमां कर्युं छे. आथी काव्य के महाकाव्य तरिके प्रस्तुत **गौतमीयकाव्य** अनेरी भात पाडे छे.

काव्य के महाकाव्यना सामान्य अभ्यासी या तेमां रस लेनार सौ कोई सहृदयजनने आ ग्रन्थ सुंदरमां सुंदर आलंबनरूप बने तेवो छे.

आटली वात स्पष्ट छेः काव्य ए शब्दशास्त्रनी व्युत्पत्तिनुं साधनभूत अंग छे. व्याकरण, कोश, लिंगानुशासननी जेम काव्य पण शब्द-शास्त्ररूप गंभीरसागरने पार पामवा माटेनुं सहकारी आलंबन छे. साहित्यनी साथे पण काव्यने गाढ संबन्ध होवो आवश्यक छे. आ आवश्यकतानी दृष्टिये, प्रस्तुत काव्यग्रन्थ साहित्यना अलंकार, रस, गुण वगेरे अंग-प्रत्यंगोनी साथे सविशेष विकासने पामी शक्यो छे, एम कहेवुं ए यथार्थ छे. माटे ज श्रीगौतमीयकाव्य, काव्यग्रन्थोमां पोतानुं विशिष्ट स्थान मेळवी शके तेम छे.

भागीरथीना स्वच्छ जळप्रवाहनी जेम वहेतो प्रतिभाप्रकर्ष; नैसर्गिक कवित्वशक्ति; अने मनोहर विषयप्रतिपादनशैली;—ग्रन्थ-कारना आ त्रणे य विशिष्टगुणोना संगमरूप प्रस्तुत गौतमीय-काव्य साचे ज साहित्य के काव्यरसना पिपासु वर्गने तोष आपी शकवाने समर्थ छे. विविध छन्दो, अलंकारप्रौढ भाषा, अर्थगंभीर शब्दो—काव्य के साहित्यना ग्रन्थोनी साथे सहज संकळायेली आ वस्तुओ प्रस्तुत काव्यग्रन्थमांथी आपणने मळी रहे छे.

एकंदरे: प्रस्तुत काव्यग्रन्थ, एक सामान्य काव्य नहि, पण महाकाव्य तरिके, विद्वान वर्गनी समक्ष ओळखावी शकाय तेम छे. आने अंगे ग्रन्थ प्रत्यक्ष होवाथी विशेष विवेचननो अत्र अवकाश जोतो नथी. ग्रन्थना अवलोकनथी आ वस्तु समजी शकवी शक्य छे.

'चरमतीर्थपति श्रमण भगवान श्रीमहावीर परमात्माए, अपापा-नगरीना महसेनवनमां इन्द्रभूति आदि अगियार ब्राह्मणोना जीवादि संशयोनुं निराकरण कर्युं'—ए वस्तु प्रस्तुत काव्यग्रन्थनो प्रतिपाद्य विषय छे. विविध प्रकारना वर्णनोथी; प्रासंगिक अलंकारोथी; अने अनेक रसोना समन्वयथी; ए वस्तुने आ ग्रन्थमां वर्णववामां आवी छे. शास्त्रीय परिभाषामां गणधरवाद तरिके ओळखातो विषय अत्र टूंकमां काव्यकार तरिके विशिष्ट शैली मुजब ग्रन्थकारे आपणी समक्ष मूक्यो छे.

आ वस्तु, विशेषावश्यक भाष्य, बृहत्टीका, आवश्यकटीका वगेरेमां खूब विशद रीतिये स्पष्ट करवामां आवेल छे. प्रस्तुत ग्रन्थमां केवळ दिशासूचन तरिके ज गणधरवादनी वस्तु रजू थई छे. काव्यना ग्रन्थ तरिके अन्य काव्यग्रन्थोनी जेम आ मुजब बनवुं ए संभाव्य छे.

ग्रन्थकार पाठकश्री रूपचन्द्रगणि:

गौतमीयकाव्यना रचयिता पाठक श्रीरूपचन्द्रगणिवर छे. ग्रन्थकार महापुरुषने अंगेनी विशेष माहिती प्रस्तुत काव्यग्रन्थना प्रशस्तिगत अन्तिम श्लोको परथी आपणने मळी रहे छे. ग्रन्थकारनो सत्ताकाल, गच्छ, ग्रन्थरचनाकाल वगेरे विगतो टूंकमां आ मुजब छे:

'विधाचारवर खरतर-गच्छमां, श्रीमत् श्रीजिनलाभसूरिना शासन-

काळमां, श्रीदयासिंह गुरु महाराजना शिष्य, अभयसिंह राजवी द्वाराये जेणे प्रतिष्ठा मेळवी छे अने अर्हतशास्त्रना तत्त्वरसिक; वळी साधुसमुदायमां रामविजयना नामथी प्रसिद्ध श्रीरूपचन्द्र गणिए, वि० सं० १८०७ ना मागशरमहिनाना शुक्लपक्षमां त्रीजने दिवसे जोधपुरनगरमां आ काव्यग्रन्थनी रचना करी छे'.

आथी प्रस्तुत ग्रन्थकारनो सत्ताकाल, विक्रमना १८मा शतकनी अन्त्यनो अने १९मा शतकनी शरूआतनो होवो संभवित छे. ग्रन्थकार तरिके श्रीरूपचंद्रगणिवरनां प्रौढ ग्रथनशक्ति; नैसर्गिक कवित्वगुण; वगेरेना कारणे कल्पी शकाय छे के 'प्रस्तुत ग्रन्थकारनी अन्य ग्रन्थकृतिओ होवी जोईए'; आने अंगेना विशिष्ट के निश्चयात्मक प्रमाणो आपणने मळी शकतां नथी, जो के प्रस्तुत काव्यना प्रशस्तिना श्लोको परथी ग्रन्थकार श्रीरूपचन्द्रगणिवरना गच्छ, सत्ताकाल, ग्रन्थरचनानी देश-कालपरिस्थिति विगेरे सामान्यरीतिये जाणी शकाय छे. ते सिवाय विशेष ऐतिहासिक वृत्तान्त हजू अनुपलब्ध ज रहे छे.

प्रस्तुत ग्रन्थकारना काळनी साहित्य-परिस्थितिने अंगे आथी विशेष कांईक जाणवा जेवुं मळे छे, ते 'जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास' नामना ग्रन्थना संपादक श्रीमोहनलाल दलीचंद देसाईना शब्दोमां आ मुजब छेः

"१९मी सदीमां संस्कृत साहित्यमां बहु ग्रन्थो रचाया नथी, "जे कांई रचाया छे तेनी नोंध लईशुं. सं० १८०४मां ओ० उदय-"सागरसूरिए स्नात्रपंचाशिका. सं० १८०७मां खरतरगच्छीय

"क्षेमकीर्तिशाखाना शांतिहर्ष–जिनहर्ष सुखवर्धन अने श्रीदया-
"सिंह–अभयसिंहना शिष्य श्रीरूपचंद्र अपरनाम श्रीरामविजये,
"श्रीजिनलाभसूरिना राज्ये जोधपुरमां रामसिंहना राज्यमां गौतमीय-
"महाकाव्य ११ सर्गमां (रचेल छे). * * * सं० १८१४ मां
"उक्त स्व० श्रीरामविजयगणिए, श्रीजिनलाभसूरिनी आज्ञाथी
"गुणमाला-प्रकरण(नी रचना करी)".

पृ० ६७५–६, पा० ९९३.

व्याख्याकार श्रीक्षमांकल्याण:

मूलकारना गंभीर आशयोने स्फुमजावनारी प्रस्तुत काव्यग्रन्थनी

---

१ श्रीअभयसिंहना शिष्य तरिकेनो आ निर्देश असंगत छे. गौतमीयकाव्यनी प्रशस्तिमां आ मुजब उल्लेख छे.

'तच्छिष्याः सुखवर्द्धना अपि दयासिंहास्तदीयास्तथा
'तच्छिष्योऽभयसिंहनामनृपतेर्लब्धप्रतिष्ठो महा-
'गंभीराऽऽर्हतशास्त्रतत्त्वरसिकोऽहं रूपचंद्राह्वयः
'प्रख्यातापरनामरामविजयो गच्छे स दत्ताख्यया ।'

वळी गुणमाला प्रकरणमां पण आ मुजब स्पष्ट उल्लेख छेः

'तच्छिष्यविदितदया दयादिसिंहाख्यवाचका विबुधाः
'तच्चरणरेणुरंजितमौलिरियं रामविजयाख्यः ।'

आ बन्ने उल्लेखोथी आ वस्तु स्पष्ट थाय छे, के श्रीरूपचंद्रपाठक अपरनाम श्रीरामविजयपाठकना गुरुनुं नाम श्रीदयासिंह छे. ज्यारे अभयसिंह, ए राजानुं नाम छे. अने ते राजा द्वाराये प्रस्तुत ग्रन्थकारे प्रतिष्ठाने प्राप्त करी छे. आ कारणे अत्र प्रस्तुत ग्रन्थनी प्रशस्तिमां ते राजाना नामनो निर्देश ग्रन्थकारे कर्यो छे.

२ आ गुणमाला प्रकरण ग्रन्थकार पाठक श्रीरूपचन्द्रगणि अपरनाम पाठकश्री रामविजयगणिये जेसलमेरमां आसो सुदि दशमीना दिवसे रच्युं छे. श्रीपंचपरमेष्ठीना तेम ज श्रावकनागुणोनुं वर्णन आमां करवामां आव्युं छे. वि० सं० १९८०-मां आ ग्रन्थनुं प्रताकारे प्रकाशन थयुं छे, ग्रन्थनुं श्लोकप्रमाण आशरे ३०००नुं छे.

व्याख्या, के जे 'गौतमीयप्रकाश'ना नामथी रचायेली छे, ते प्रकाश व्याख्याना रचयिता पाठकश्री क्षमाकल्याणजी गणिवर छे. प्रस्तुत व्याख्यामां व्याख्याकार महापुरुषे अति परिश्रम लईने मूलकारना अर्थगंभीर शब्दोने तेम गूढ भावोने खूब ज सरळ अने मनोरम पद्धतिपूर्वक स्पष्ट करेल छे. साचे ज 'गौतमीय-काव्य'नी व्युत्पत्तिना मार्गमां, आ व्याख्या सुन्दरतर प्रकाशने पाथरे छे. आ कारणे प्रस्तुत व्याख्यानुं 'प्रकाश' ए अभिधान वास्तविक छे.

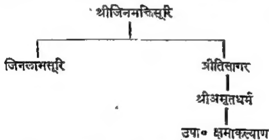
व्याख्याकारे, मूळ काव्यग्रन्थना अभ्यासक वर्गना उपकारनी दृष्टिये प्रस्तुत व्याख्यामां, मूलकारना आशयने स्पष्ट करवानी खूब काळजी लीधी छे. साथे मूलश्लोकोना शब्दोने समजाववा माटे, व्याकरणना सूत्रो ठामठाम मूक्या छे. तेम श्रीअभिधान-चिन्ता-मणि आदि कोशोनी साक्षी पण अवसरे अवसरे टांकी छे. आ प्रकारनी विशिष्टताना योगे प्रस्तुत प्रकाश व्याख्या, काव्यना विषयनुं ज्ञान मेळववा इच्छनार अभ्यासक वर्गना; व्याकरण तेम ज कोश वगेरेना ज्ञाननो विकास करे छे. आ रीतिये दरेक दृष्टिये प्रस्तुत व्याख्या, अभ्यासी के विद्वान सौ कोईनुं आकर्षण करी शके तेवी छे, अने व्याख्याकारनी समर्थ विद्वत्ता; प्रौढ अनुभव-शीलता; तथा अनुपम विवेचनाशक्ति; वगेरे सूचित करे छे.

व्याख्याकार पाठकश्री क्षमाकल्याणजीना सत्ताकाल वगेरे जीवनवृत्तने अंगे, प्रस्तुत प्रकाश व्याख्यानी प्रशस्तिमां व्याख्याकारे स्वयं करेल उल्लेख परथी केटलुंक जाणवा जेवुं आपणने मळी रहे छे. आविषेना विशेष ऐतिह्यवृत्तनी नोंध, 'जैन साहित्यना संक्षिप्त इतिहास'मां आ मुजब छे:

"आ (१९मा) शतकमां खरतरगच्छना श्रीक्षमाकल्याण उपा-
"ध्याय थया के जे खरतरगच्छीय श्रीजिनलाभसूरिना शिष्य अमृत-
"धर्मना शिष्य हता. तेमणे सं० १८२९थी १८६९ना गाळामां
"अनेक ग्रन्थोना दोहनरूपे सादी भाषामां विवरण करेल छे. तेमना
"ग्रन्थो आ छेः श्रीगौतमीयकाव्य व्याख्या, सं० १८३०मां
"खरतरगच्छ पट्टावली, सं० १८३५मां चातुर्मासिक–होलिका आदि

---

१ जिनलाभसूरिना शिष्य नहि, पण जिनलाभसूरिना गुरु श्रीजिनभक्ति-सूरिना शिष्य प्रीतिसागरना शिष्य अमृतधर्म हता. जुओ उपाध्याय क्षमाकल्याणजीनी–'स्वकृत खरतरगच्छपट्टावलीप्रशस्ति'—



"श्रीजिनभक्तिसूरीन्द्र-[सु]शिष्या बुद्धिवार्द्धयः ।
प्रीतिसागरनामानस्तच्छिष्या वाचकोत्तमाः" ॥ २ ॥
"श्रीमन्तोऽमृतधर्माख्यास्तेषां शिष्येण धीमता ।
क्षमाकल्याणमुनिना, शुद्धिसम्पत्तिसिद्धये" ॥ ३ ॥
"संवत्सरे व्योमकृशानुसिद्धि–क्षोणीमिते फाल्गुनमासि रम्ये ।
विशुद्धपक्षे लिखिता नवम्यां, गुरुस्तुतिर्जीर्णगढे नवाऽसौ" ॥ ४ ॥
[१८३०].

खरतरगच्छ-पट्टावली-संग्रह, बाबू पूरणचंदजी
नाहरवाळी, सने १९३२ नी छापेली पानुं ३९.

"दशपर्वकथा, सं० १८३९मां जेसलमेरमां यशोधरचरित,
"१८४७मां मकसुदाबादमां सूक्तमुक्तावलीवृत्ति, सं० १८५०मां
"बीकानेरमां जीवविचार पर वृत्ति".

"सं० १८५१ प्रश्नोत्तर सार्धशतक, सं० १८५४मां तर्कसंग्रह
"फक्किका, सं० १८५०मां जेसलमेरमां अक्षयतृतीया अने पर्युषण
"अष्टाह्निक व्याख्यान, अने ते ज वर्षमां बीकानेरमां मेरुत्रयोदशी
"व्याख्या अने सं० १८६९मां (श्री)श्रीपालचरित्रव्याख्या योजेल
"छे. ते अरसामां योजायेला तेमना अन्य ग्रन्थो नामे परमसमयसार-
"विचारसंग्रह, विचारशतकबीजक, समरादित्यचरित, सूक्तरत्ना-
"वलीवृत्ति आदि छे". × × × ×

"भाषासाहित्यमां तेमणे जूनी गूजरातीमां गद्यरूपे श्रावकविधि-
"प्रकाश नामनो ग्रन्थ गुंथ्यो छे. ख० श्रीक्षमाकल्याणे सं० १८३८-
"मां पाक्षिकादि पडिक्कमणविधि गद्यमां संग्रहित करी तथा प्रश्नोत्तर-
"सार्धशतक भाषामां रच्युं".

पृ० ६७६–८०; पा० ९९४–९९९;

प्रस्तुत संपादन अने प्रकाशन :

आ गौतमीयमहाकाव्य व्याख्यासहित, आजे प्रथम वार ज प्रसिद्ध थाय छे. अत्यार अगाऊ काशीनी पुस्तक प्रकाशन संस्था द्वारा आ काव्यग्रन्थ केवळ मूळमात्ररूपे प्रकाशनने पाम्यो हतो, ज्यारे श्रेष्ठी **देवचंद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फंड** संस्था मारफते आ रीतिये प्रस्तुत काव्यग्रन्थ व्याख्यासहित प्रसिद्धिने पामे छे.

---

१ तदुपरांत चतुर्विंशतिजिनचैत्यवंदनो तेमणे संस्कृत भाषामां रच्यां छे, जे हजु प्रचलित छे.

कोईपण पुस्तकप्रकाशकसंस्था के व्यक्तिना प्रकाशनकार्यनी साथे, ते ते पुस्तकोना संपादकना संपादनकार्यनो पण संबन्ध संकळायेलो रहे छे. प्रस्तुत पुस्तकना प्रकाशनकार्यनी साथे संपादक-तरिके संपादनकार्यमां मारो संबन्ध आ मुजब संकळायोः—

'गतसाल (वि० सं० १९९५)नुं अषाढ चातुर्मास, पू० परमगुरुदेवोनी आज्ञा मुजब मुंबई लालबाग—मूलेश्वर खाते थयुं, ते अवसरे पूज्यपाद परममाननीय आचार्यदेव श्रीमद् विजयक्षमाभद्रसूरि महाराजनी हितद सूचनाथी आ पुस्तकना संपादनकार्यमां में मेहनत लीधी'.

आ प्रसंगे एक स्पष्टता करी दउं. संपादनकार्यने अंगेनो मने तेवा प्रकारनो खास अनुभव नथी. आ कारणे, आवा ग्रन्थोनुं संपादनकार्य मारे माटे आ विषयनी नवी शरूआत गणी शकाय.

हुं जाणु छुं; कोईपण ग्रन्थनुं संपादन के संशोधन वगेरेनुं कार्य, ए अगत्यनी जुवाबदारी भरेलुं गणाय छे. अति सावधानी; अमुक महेनत; अने सर्वतोमुखी बहुश्रुतता वगेरेना सुन्दर सहकारना योगे ग्रन्थनुं संपादनकार्य सफळ अने संतोषप्रद बनी शके छे. जो के प्रस्तुत काव्यग्रन्थनुं संपादनकार्य, आ उच्चतर स्थितिए न पहोंची शक्युं होय ए संभाव्य छे.

छतां य प्रस्तुत संपादनकार्य, जे विद्वान जनसमाजने संतोषी शके ते रीतिये थयुं छे, तेना आदिकारण तरिके पूजनीय शान्तमूर्ति समर्थ विद्वान आचार्यदेव श्रीमद् विजयक्षमाभद्रसूरीश्वरजी महाराज छे. तेओश्रीनो विशाळ अनुभव, प्रौढ प्रतिभा अने

खास तकेदारी आ त्रणेयना सुमेळे मारा हाथे आ रीतिनुं संपादन-कार्य थई शक्युं छे.

मुख्यतयाए आ ग्रन्थना संपादनने अंगे, हस्तलिखित प्रेसकॉपी-योनो आश्रय लेवायो छे. जे प्रेसकॉपीयो संस्थाना अवैतनीक मंत्री जीवणचंद साकरचंद झवेरी द्वाराये मने प्राप्त थई हती ते, तेम अत्यार अगाउ काशीथी प्रकाशित थयेल मूळग्रन्थ पण आना संशोधननी वेळाये नजर समक्ष राखवामां आव्यो हतो. आ त्रणे य प्रतिओ सामान्य रीतिये अर्थ शुद्ध जेवी हती, आ कारणे महेनत लई, वस्तुसंकलनाने लक्ष्यगत करी यथामति परिमार्जन करवामां आव्युं छे. आमां ज्यां ज्यां संशय जेवुं लाग्युं, त्यां त्यां कौंस वगेरे मूकीने अमुक सूचन कर्युं छे. काशीना मुद्रित पुस्तकमांनी केटलीक स्खलनाओ, संदिग्धताओ वगेरेनो निर्देश अत्र करवामां आव्यो छे. अवसरे आवश्यक टीप्पणी पण करवामां आवी छे. केटलीक टीप्पणीओ मूळ प्रतिमां हती ते पण अत्र मूकवामां आवी छे.

आ प्रकारना संपादन पछी, श्रेष्ठी देवचंद लालभाई जैन पुस्तको-द्धार फंड संस्थाद्वारा प्रस्तुत गौतमीय-काव्यग्रन्थ व्याख्यासहित प्रकाशनने पामे छे. आ प्रकाशननी पाछळ; श्रेष्ठी दे० ला० जैन पु० फं० संस्थाना प्राणभूत व्यवस्थापक मंत्री झवेरी जीवणचंद साकरचंदनी मूंगी व्यवस्थाशक्ति, यथाशक्ति आपभोग, अने संस्थाना प्रकाशनकार्यने आगळ वधारवानी काळजी; आ त्रणे य वस्तुओनो मेळ कारणभूत छे. आ कारणे आ प्रकाशन आ रीतिये विद्वान जनसमाज समक्ष रजू थाय छे.

मारा पूजनीय परमोपकारी परमशासनप्रभावक परमगुरुदेवोना अमेय उपकारने हुं आ अवसरे याद करुं छुं, के जेओनी असीम कृपादृष्टिना योगे हुं रत्नत्रयीनी आराधना यथाशक्ति करी शकुं छुं. प्रस्तुत संपादनकार्यमां मने पूर्ण हितभावथी मार्गदर्शन आपनार पूजनीय शासनप्रभावक आचार्यदेव श्रीमद् विजयक्षमाभद्रसूरीश्वरजी महाराजजीना ए वात्सल्यभावने हुं केम भूली शकुं !

भ्रान्तेः प्रेसदोष, प्रुफसुधारणानो दोष के अन्य अज्ञानताजन्य स्खलना आ ग्रन्थमां रहेवा पामी होय तेनुं परिमार्जन करवापूर्वक विद्वान अने अभ्यासी वर्ग आ काव्यग्रन्थनुं अध्ययन-अध्यापन करी, श्रीजिनकथित श्रुतधर्मनी आराधनामां पोतानुं वीर्य फोरवो अने आत्मकल्याणने साधो ए अभिलाषा.

वि० सं० १९९६,
श्रावण शुक्ला पूर्णिमा.
जैनशाला-टेकरी,
स्थंभनतीर्थ. [खंभात]

पू० परमशासनप्रभावक आचार्यदेव श्रीमद्
विजयरामचन्द्रसूरि-विनेयाणु
मुनि कनकविजय

शेठ देवचंद लालभाई जैनपुस्तकोद्धार फंडना कार्यकरो



—: प्र स्ता व ना :—

मन्याम्भोरुहबोधने दिनकरश्रियसमा भूतले
मोहाज्ञानतमोमरं विघटयन् यो धर्मराज्यं व्यधात् ॥
यश्चाह्वाय निनाय जन्तुनिकरं स्वर्गापवर्गालयं
स श्रीवीरजिनेश्वरो भवतु वै सङ्घस्य हि श्रेयसे ॥

—भा र ती य - सा हि त्य म्—

प्रकृतकाव्यविषये प्रास्ताविकं किञ्चिद्यावन्निवेदयामि ततः पूर्वं भारतीयसाहित्यस्य स्वरूपाऽनिवेदने न किल प्रकृतसंदर्भशुद्धिर्भवेदिति साहित्यस्यास्य स्वरूपमंशतो निवेदयामि —

भारतीयं किल साहित्यं विश्वसाहित्यम् । यस्माद्धि साहित्यात्सुदूरदूरवर्तिष्वपि देशेषु — अन्यान्यभाषामयानि साहित्यानि कुत्रचिज्जननमवापुः, कुत्रचिच्चात्मनः संस्कारमकार्षुः । दृष्टान्तरूपेण गृह्यताम् — आर्यावर्ते एवाविर्भूताद् बौद्धसंप्रदायात् कस्मिंश्चन समये ते ते ग्रन्थाः प्रादुर्भूताः, यैर्हि न केवलं भारतवर्षे एव अपि तु समुद्रपरपारवर्तिष्वपि देशेषु लोकानां हृदये स्वीयः प्रभावः प्रतिष्ठापितः । येषां प्रभावेणानुप्राणिताः सिंहल-ब्रह्म-चीन-जयपाणदेशीया बौद्धाः प्रत्यक्षमेव नः प्रमाणम् ।

न केवलमेतावदेव, भारतीयसारस्वतभाण्डागारस्यालौकिकरत्नच्छटया प्रलोभितहृदया निर्निमेषीकृतनेत्रद्वयाश्च अन्यान्यदेशीया विद्वांसः सुमहता परिश्रमेण भारतवर्षे समागत्य तांस्तान् ग्रन्थान् लिलिखुः । अत्रत्येभ्यः पण्डितेभ्यश्च पठित्वा स्वस्वभाषायां तान् ग्रन्था-

नन्ववादिषुः । सुप्रसिद्धं किल चीनदेशीययात्रिणां ह्युएन्त्सांग-[1]इत्सांग-प्रभृतीनां भारतयात्रावर्णनम्, यत्र हि ते समागत्य भारतीयं साहित्यं महता गौरवेण स्वभाषायां निन्युः । एतदर्थं कियान् परिश्रमः सोढस्तैः, कियती दूरयात्रा चाऽनुभूता, कियन्तः पण्डिताश्च स्वप्रयोजनसिद्ध्यर्थमुपासितास्तैः, इत्याद्यध्यवसायस्तेषां यात्रावर्णने सुस्पष्ट एवैतिहासिकानाम् । फलमिदं तस्य संपन्नम् — आर्यावर्ताद् बौद्धसाहित्ये विलयं गतेऽपि तत्संबन्धिनो बहवो ग्रन्थाश्चीनभाषयाऽनूदिताः सांप्रतं चीनदेशे समुपलभ्यन्ते । नैतत् किल भारतीयानां स्वसाहित्यकीर्तिकीर्तनं स्वमुखजल्पितम्, अपि तु इदंयुगस्य सुमथिताः प्रामाणिकाः साहित्यानुरागिणः पाश्चात्त्यदेशीया एव तत्तेषु साहित्यविवरणपुस्तकेषु इदं सडिण्डिमघोषमुद्घोषयन्ति । एवं सति भारतीयसाहित्येन चीनसाहित्यस्य कस्यचिदंशस्य जननं संपादितमिति न किं वक्तुं शक्यते ? सत्येवं च भारतीयं साहित्यं विश्वसाहित्यमिति न किं साधयितुं प्रभवेम ?

पाश्चात्त्यदेशीयैरस्मत्साहित्याद्दर्शनशास्त्राणां न्याय(तर्क)शास्त्रस्य ज्यौतिषादिविषयाणां च स्वभाषायां वर्तमानसमय एव समावेशः कृतो यं हि सांप्रतिका उभयभाषाविद्वांसः प्रत्यक्षं परिजानते । चत्वारिंशद्वर्षेभ्यः पूर्वं तर्कादिविषयपाठनाय नासन् समुचिताः समपेक्षिताश्च ग्रन्था इंग्लिशभाषायाम्, परं सांप्रतं 'लॉजिक्' (Logic) विषयस्य पाठ्यक्रमः (Course) स्वतन्त्ररूपेण नियमित-

---

1 Cf. "Yuan Chwang's Travels in India" by Hüan Tsang. and also the Records of Buddhist Practices in India by I-tsang.

स्वैरारम्भभाषायाम् । किं नेदं भारतीयसाहित्यादपरसाहित्यस्य संस्करणं नाम? अपि च—समुद्रपरपारवर्तिषु देशेषु असत्सा-हित्योपजीवनेऽपि किं भारतीयं साहित्यं विश्वसाहित्यमिति नाला-भिधेयं शक्येत?

—जैनसंप्रदायः, तत्साहित्यं च—

कारणमस्येदमेव—यदत्र साहित्यप्रचारका महापुरुषास्तथा प्रभाव-शालिनः समभूवन् येषामनुभावात् साहित्यमेव किम्, समग्रो देश एव सर्वतः प्रभावाक्रान्तः समभवत् । सकलजगति श्रेयःप्रचाराय परितो घोषितडिण्डिमो हि जैनसंप्रदाय एव गृह्यताम् । अत्र हि तथाविधा महापुरुषाः प्रादुरासन् येषामुपदेशाश्चरितानि च जनताया हृदये मन्त्रमेव प्रभावमुत्पादयामासुः । येन किल मनीषिणा पक्षपात-मुत्त्यज्य तेषामुपदेशः श्रद्धयाऽश्रद्धया वा परिगृहीतस्ते बलादिव तदनुगामिनो बभूवुः, श्रद्धानेन च तान् नियमान् स्वीचक्रुः । आर्यावर्तस्य कोणकोणे आर्हतसंप्रदायस्य विजयदुन्दुभिः कस्मिंश्चन काले यत्समन्तान्मुखरितो बभूव तस्य किं नायं स्पष्टो हेतुर्यदस्य धर्मस्य साहित्ये तादृशी शक्तिरासीत्, यत् मार्मिकजनताया हृदये अक्षुण्णं प्रभावं प्रस्फुटमुत्पादयामास? अवश्यं श्रोतुर्हृदयवशीकारे उपदेशकस्य आध्यात्मिकं बलम्, चारित्र्यसंपत्, सत्यं श्रद्धानं चेत्यादिकं कारणम्, किंतु एवंविधैर्महापुरुषैः प्रचारितं साहित्यमपि तादृशमेव प्रभावशालि भवति यस्य हि हृदयतो मनने कृते मनन-कर्तुरन्तःकरणे अवश्यं खलु श्रद्धानस्योदयो भवेत् ।

जैनधर्मेण श्रद्धानानां शिवप्राप्तये ते ते ग्रन्थास्ते ते उपदेशास्तानि तानि साधनानि च संपादितानि येषां प्रभावो न केवलं भारते एव,

अपि तु भारतदूरवर्तिदेशेष्वपि कदाचित्स्वैरं प्राचरत् । देश-काल-शासकादिमहिम्ना सांप्रतं यद्यपि विपरीता परिस्थितिस्तथापि भारतेऽस्मिन् अन्यान्यधर्मापेक्षया जैनधर्मस्य कियान् प्रसारः, कियद् गौरवम्, तदनुयायिषु च कियत् श्रद्धानमिति न वर्णनविस्तरमर्हति । स्थूलरूपेणैव गृह्यताम्—यद् व्यावहारिककार्यक्षेत्रेष्वेव जैनधर्मानुयायिनां कियान् भागः कीदृशश्च प्रभावो नाम ।

अस्तु, कारणमेतस्य प्रभावशालिनः साहित्यस्य प्रचारणमेव सर्वोपरिगम् । यस्य हि धर्मस्य सिद्धान्तो निर्दुष्टो वरीवर्ति, साहित्यं सुदृढं प्रभावसंपन्नं च भवति, स एव धर्मः प्रसरति, लोकेषु श्रद्धानं च लभते, चिरकालं च लोकालये विहरति । जैनसाहित्ये त इमे गुणाः सुस्पष्टं प्रमाणिता भवन्ति । एतदर्थं न प्रमाणान्वेषणस्य परिश्रमः सोढव्यो भवेत् । प्रत्यक्षमिदमेव प्रमाणमस्ति यदसङ्ख्येषु वर्षेषु व्यतीतेषु, तत्प्रचारकेषु शासकेषु नष्टेषु, प्रत्युत विपरीत-धर्मानुयायिषु शासकेषु वर्तमानेषु, किं देशे किं काले पात्रे सर्वत्रैव विपरीतपरिस्थितावुपस्थितायामपि सांप्रतं जैनधर्मः स्वैरं विहरति, मोदते अन्यान्यधर्मापेक्षया बहुलं बलशाली च । किं नास्य कारण-मिदम्, यदेतस्य साहित्यं प्रचुरं प्रभावशालीति ! शासन-सत्तायां लुप्तायामपि यत्कस्यचिन्मतस्य परितः प्रचारो दृश्यते तत्र तदीयं साहित्यमेव कारणभूतम् । साहित्यं हि व्यतीतेष्वप्यनन्तवर्षेषु अक्षुण्णबलमिव सर्वतः स्वप्रभावं प्रसारयति ।

—जैन काव्यानि—

साहित्यपदेन 'लिटरेचर' (Literature) पदवाच्यं तदीयं वाङ्मयम् (लेखसङ्घातः, ग्रन्थसमूहो वा) गृह्यते । साहित्ये च यथा

नियमग्रन्थाः पुराणानि सूत्रग्रन्थसङ्घातो न्याय-व्याकरणादिप्रमाण-ग्रन्थाश्च परिगृह्यन्ते तथा काव्यान्यप्यत्रैवान्तर्भवन्ति । मर्मविचारे तु — प्रधानं स्थानमधिकुर्वन्ति । लोकानुरञ्जको रमणीयोऽर्थः, तदनुकूलाः कर्णसुखदाः शब्दाश्चेत्येतत्सङ्घातात्मकं हि काव्यं प्रत्यायते । काव्यं हि स्वमाधुर्येण विद्वेषिणमपि जनमात्मवशे करोति । खिन्नमपि हृदयं प्रसादयति, प्रतिकूलमप्यनुकूलमापादयति । धर्मस्य तत्सिद्धान्तानां च प्रचारे कठिनकठिनाः प्रमाणग्रन्था वादग्रन्थाश्च कदाचिन्न प्रभवन्ति । तेषां हि शक्तिसद्ग्रहणसामर्थ्यशालिषु विद्वत्स्वेव परिजृम्भते । विद्वांसश्च स्वस्वमते दृढाग्रहशालिनो भवन्ति । अत एव तेषां पुरतः स्वधर्मविवादस्योपस्थापनेन न तावत् फलमीक्ष्यते ।

ये तु सामान्यबोधशालिनो भवन्ति, येषां च हृदयं जिज्ञासापरवशं भवति, ज्ञानपिपासा च येषां हृदये जागर्ति, कस्मिन्नपि विषये येषां संशयो ह्युदेति, कमपि विषयं ज्ञातुं कौतुकं वा येषां भवति ते हि मार्मिकरूपेण बोधिताः स्वल्पायासेनैव वक्तव्यविषयं गृह्णन्ति । यदि च वक्तव्यविषयः सत्यः प्रभावशाली च भवति तर्हि सर्वदाऽर्थं ते तदनुयायिनोऽपि भवन्ति । एवंविधानामधिकारिणां बोधाय 'काव्यम्' एव सर्वतो लब्धसाफल्यम् । क्लिष्टम् अमनोनीतमपि गुडजिह्विकारूपेण ग्राहीतुमेव काव्यस्य जन्म । काव्यं हि श्रोतुर्हृदयम् अनुरञ्जनपूर्वकं स्ववशे कृत्वा ततस्तदनन्तरं स्वोपदेशं तस्मिन् संचारयति । एतदेव प्रमेयानामभिमुखीकरणं नाम । अस्तु नाम नायं विषयो विस्तरमर्हति ।

जैनसंप्रदायस्य साहित्यांशः, तत्रापि च काव्यविभागो न कस्य-

चिदपि संप्रदायस्य साहित्याञ्न्यूनतां स्पृशति, जैनविद्वद्भिरनेकानि गद्य-पद्यकाव्यानि प्रकटितान्यद्यावधि येषां हि प्रभावच्छन्ना न केवलं जैनधर्मानुयायिन एव, अपि तु अन्यान्यधर्मग्राहिला अपि काव्यमाधुर्यमुग्धास्तेषु सप्रशंसं प्रवर्तमाना दृश्यन्ते। प्रत्यक्षं प्रमाणमिदमेव यत् शैव-वैष्णवधर्माग्रहिभिरपि विद्वद्भिरात्मपुस्तकमालासु जैनकाव्यानि परमादरेण संगृहीतानि, यद्यपि जैनपुस्तकमालासु शैवादीनां काव्यानि न कदाचित्स्पृष्टानि। मुंबय्यां निर्णयसागरयन्त्रालयेन बहोः कालात्पूर्वं या 'काव्यमाला' नाम्नी ग्रन्थमाला (Series) प्रकाशिता यस्या हि प्रारंभको महामहोपाध्यायः पं. श्रीदुर्गाप्रसादशर्माऽभूत्। एतस्याश्च पुस्तकमालायाः संस्कृतसाहित्योपरि अनपाकरणीयमृणम्। यतो हि काव्यमालायां तत्तादृशानि पुस्तकानि प्रकाशितानि यैर्विना संस्कृतसाहित्यमन्दिरस्य भूयानंशः शून्य एवासीत्। काव्यमालाप्रकाशनात् पूर्वं प्रायः पञ्च महाकाव्यान्येव विद्वांसो जानन्ति स्म। किन्त्वनया पुस्तकमालया अलङ्कार-नाट्य-नाटककाव्यादीनां ते ते ग्रन्थाः प्रकाशिता यान् दृष्ट्वा समग्रं साहित्यजगत् चमत्कृतमभूत्, यैश्च संस्कृतसाहित्यमिदं वास्तव एव शोभाशालि संवृत्तम्।

एतस्याः काव्यमालाया भूयानंशो जैनविदुषां लेखनीप्रसूतः। श्रीतीर्थङ्करचरितानि चन्द्रप्रभचरित—नेमिदूत—नेमिनिर्वाणादिकान्यनेकानि यथा प्रकटितानि तथा धर्मशर्माभ्युदयादीन्यपि प्रकाशं नीतानि। साक्षात्स्तोत्रग्रन्थानां श्रीभक्तामरस्तोत्रादीनां तु मालैव पृथगेका प्रकाशिता येषां कृते तस्या एको 'गुच्छकः' एव पृथङ् निगुम्फनीयोऽभवत्। एवमेव गद्यकाव्यानि यशस्तिलकचम्पू—तिलक-

मञ्जरीप्रभृतीन्यपि काव्यमालायां प्रकाशितानि जैनपण्डितानां सारस्वतवैभवसूचकानि । एभिः काव्यैर्लोकानुरञ्जनपूर्वकं धर्मश्रद्धानप्रचारस्य जैनसिद्धान्तप्रकाशनस्य च कार्यं किमार्यावर्ते न कृतम् ? प्रत्यक्षं प्रमाणमिदमेव—यत् काव्यमाला विना जैनकाव्यैरपूर्णैवाभविष्यत् । अद्यापि च तत्तेषां काव्यानां प्रशंसका अन्यान्यधर्मनिष्ठा अपि काव्यमालावाचका विद्वांसो बहुशः श्रूयन्ते । इदमेव हि काव्यनिर्माणस्य मन्ये साफल्यं नाम ।

—श्री गौ त मी य का व्य म्—

प्रकृतमिदं काव्यमनेनैवोद्देश्येन जैनसारस्वतभाण्डागारे रत्नमिव चमत्कुरुते । जैनसंप्रदायं प्रति प्रमेयानुन्मुखीकर्तुम्, अहिंसा-दया-व्रतानुगामिनीं श्रद्धां दृढीकर्तुमेव च कविगगनचन्द्रेण श्रीमता पाठकेन रूपचन्द्रेण तदिदं काव्यमुपनिवद्धम् । नामतस्त्विदं काव्यम्, किंतु जैनसंप्रदायरहस्यबोधने प्रमाणग्रन्था वादग्रन्था वा यावन्न प्रभवन्ति ततोऽप्यधिकमिदं तनुशरीरं महाकाव्यं सिद्धान्तबोधने सम्यक् प्रभवति । अत एवैतदर्थंकृते अमोघं साधनम्, वाचकलोकानामभिमुखीकरणाय सफलमुपकरणम्, आर्हतमतप्रचारणाय च सर्वतः प्रभावशालि शस्त्रं नाम ।

एतस्मिन् हि श्रोतॄणां मनोरञ्जनाय पूर्वमुपवनशोभावर्णनम्, षड्ऋतुवर्णनम्, समवसरणसुषमावर्णनम्, एतदादिका विषयाः प्रगुम्फिताः कविना । तदनन्तरं तु साक्षादुद्देश्यमेव (अर्थात् जैनसिद्धान्तवर्णनम्) उपक्रान्तं भवति । काव्यगगनरवेः श्रीरूपचन्द्रकवेः कवितानिगुम्फनपाटवं तथा विद्यते येन हि

क्लिष्टोऽपि विषयो नीरसोऽपि च वर्ण्यो लोकानां हृदयावर्जनक्षमो भवति । कस्यचन संप्रदायस्य प्रमेयवर्णनं सिद्धान्तपरिस्थापनं वा न किल मनोरञ्जककथेव लोकानां हृदयहरणे प्रभवेदिति जानन्ति सर्वेऽपि । किंतु श्रीमतो रूपचन्द्रगणेः कवितानैपुण्येन शुष्कापि सेयं सिद्धान्तवर्णनाऽऽरमटी तथा संवृत्ता यथा मनोयोगेन वाचयितुरन्तःकरणमवश्यं तदनुगामि भवति । अयमेव कवेः कवितायाश्च प्रभावो नाम । एतेनैव हि काव्यस्य साफल्यं परीक्षितं भवति । प्रमेयानामुपदेशायैव हि काव्यानामुत्पत्तिः । यत उक्तम्—"काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये । सद्यः परनिर्वृतये कान्तासंमिततयोपदेशयुजे" इति । ततश्च श्रोतारो मनोरञ्जनपूर्वकं वक्तव्यविषयानुगामिनश्चेत् संपद्यन्ते तर्हि सुस्पष्टमिदं सफलं काव्यं नाम ।

—काव्यस्य वर्णनाशैली—

ऋतु-उपवनादिवर्णने तु कवेर्मधुरा रचनाऽस्त्येव, परं सिद्धान्ततत्त्वबोधनेऽपि सैव कवेः शैली एकान्तभावेन प्रचलतीति महदेव गौरवं कथयितुः । दृश्यताम्—गौतमस्य (इन्द्रभूतेः) संशयनिवारणपूर्वकं चारित्रप्रवेशाय यदिदं भगवतः प्रकथनमुपनिबद्धं तस्य प्रारम्भे,—

"यदहं संशयच्छेदी सर्वज्ञं मां प्रतीहि तत् ।"

इत्यारम्य (पृ० १४०, श्लो० १४) सप्तमसर्गस्यान्तपर्यन्तमतिगहनो विषयो वर्णितोऽस्ति । अत्र हि आत्मपदस्य साधनं कृतम् । पाश्चात्त्या वैज्ञानिका आत्मपदार्थं नाऽधुनापि मन्यन्ते । बहवः किंचित् किंचिन्मत्वापि न मन्यन्त एव । बहवस्तु—बुद्ध्या न बोद्धुं

शक्यत इति निरस्ता भवन्ति । एवंविधगहनस्याप्यात्मविषयस्य काव्येऽस्मिंस्तथा वर्णनम्, आत्मनस्तथा सिद्धिः कृता दरीदृश्यते यथा काव्यबोधशक्तिशाली जनो निःसंशयं तत्तत्त्वबोधने क्षमेत । वीरेण भगवता गौतमस्य हृदयगतः संशयः स्वमहिम्ना परिज्ञातः । आसीद् गौतमस्य हृदये वेदवाक्यतत्त्वानवबोधात् संदेहः । तस्य हि स्वशास्त्रानुसारमात्मनः साधनं निःसन्देहतया हृदि स्थिरीभवति स । यतो हि आत्मज्ञाने न प्रत्यक्षं प्रमाणं भवितुमर्हति । आह कविः —

"प्रत्यक्षेण प्रमाणेन ग्रहीतुं नैव शक्यते ।
इन्द्रियग्राह्यताभावात्तस्मान्नास्ति खपुष्पवत् ॥ १८"

एवमनुमानमपि तत्र न प्रमाणं प्रभवति । यथा —

"कृशानोर्धूमवल्लिङ्गं किमप्यस्य न लभ्यते ।
यत्संबन्धेन जीवोऽयमदृष्टोऽप्यनुमीयते ॥ १९"

अनुमानं हि लिङ्गेन (हेतुना) लिङ्गिनः (साध्यस्य) संबन्धे सति (यथा धूमस्य वह्निना सह कार्यकारणभावसंबन्धे सति) सिध्यति । तथा आत्मनः किञ्चिल्लिङ्गं न दृश्यते येनाऽनुमानं भवेत् ।

ननु चेतना आत्मनो लिङ्गम् । न हि आत्मानं विना चैतन्यमवतिष्ठते । अत एव चैतन्येन लिङ्गेन आत्मनोऽनुमानं स्यादिति पूर्वपक्षमपि निरस्यति कविः —

"अस्तु वा चेतना लिङ्गं संबन्धस्त्वनयाऽस्य च ।
प्रत्यक्षो नेक्षितः क्वापि प्राक्, ततः क्वानुमेयता ? ॥ २०"

एवंप्रकारेण — अनुमानमुपमानं शब्दादिकं सर्वमपि प्रमाणजातमात्मनः साक्षात्कारार्थं निरस्यति श्रीमहावीरो भगवान् । किं बहुना,

शब्दरूपं वेदाख्यं प्रमाणमपि यद् गौतमस्य हृदये जागर्ति स तदपि भगवता निरस्यते । यथा—

"परस्परविरोधिन्यागमानामपि भारती ।
बृहस्पतिर्हि भूतातिरिक्तं जीवं न मन्यते ॥ २६"
(पृ० १४८)

एवं किल आत्मनः साधनाय ये ये उपायाः प्रसिद्धा आसंस्ते सर्वेऽपि निरस्ता तत्रभवता वीरभगवता । समाधानाय अप्रभवन् महाविद्वानपि गौतमश्चित्रीयते स्म,—

"श्रुत्वेति भगवद्वाक्यं गौतमोऽन्तश्चमत्कृतः ।
अहो ! सर्वज्ञ एषोऽस्तु दध्याविति विशुद्धधीः ॥ ३६"
(पृ० १५३)

एवं प्रमाणबले गर्वितस्यापि गौतमस्य सर्वमपि ज्ञानबलं निरस्य स्वयुक्तिभिरात्मपदार्थस्य साधनं शिक्षयति श्रीवीरो भगवान्—

"सुखदुःखे स्वसंवेद्ये प्रत्यक्षे भवतो यदि ।
शृणु गौतम ! संदेहविज्ञानं किं तथा न हि ॥ ४१
विज्ञानमय एवं हि प्रत्यक्षो जीव इष्यते ।
प्रमाणान्तरसाध्यत्वमसत्यस्मिन् विचार्यते ॥ ४२"
(पृ० १५५)

अर्थात् तव सुखदुःखे स्वेनैव संवेद्ये, ततश्च प्रत्यक्षज्ञानविषये । एवं तव हृदये संशयोऽपि जागर्त्येव, यतो हि संशयवशादेव त्वं व्यामुह्यसि । एवं च सुखदुःखानुभवस्य स्वीकारे, संशयज्ञानस्य चाङ्गीकारे सिद्ध एवात्मा । यतो ह्यात्मानं विना नानुभवः, न

चाज्ञानम् । अत एव विज्ञानमय आत्मा स्पष्टं सिध्यत्येवेत्याशयः । एवमेव —

" अहंप्रत्यय एकोऽपि क्रियां त्रैकालिकीं स्पृशन् ।
प्रत्यक्षो दृश्यते, जीवं विनाऽहंप्रत्ययः कुतः ? ॥ ४३
शरीर एव चेदेष प्रत्ययो गृह्यते तदा ।
तदवस्थे शरीरेऽपि मृतस्य न भवेत्कथम् ॥ ४४ "
(पृ० १५७)

इत्यादिभिरन्याभिरपि युक्तिभिः आत्मपदार्थस्य साधनं बोधयति भगवान् श्रीमहावीरः । किं बहुना, ये ये विषया वेदादितोऽपि गौतमस्य हृदये सम्यग्रूपेण प्रमाणिता नासन् तेऽपि सर्वे गहनविषया श्रीवीरेण भगवता तथा बोधिता यथा न केवलं गौतमश्चकित एव, अपि तु, —

" इत्थं संशयघातकानि वचनान्यापीय वीरप्रभोः
सर्वज्ञत्वमिहाधिगत्य जगतामीशत्वमालोक्य च ।
बाणैश्छात्रशतैरसौ परिवृतो मिथ्यात्वमोहोज्झित-
श्चारित्रं प्रतिपेद्य सर्वविरतिं तीर्थाग्रणीर्गौतमः ॥ ८१ "
(पृ० १७९)

एवमेव गौतमस्य (इन्द्रभूतेः) भ्रातुः अग्निभूतेरपि मनोगतं संशयादिकं ज्ञात्वा तं तथोपदिशति यथा सोऽपि एतत्प्रभावाच्छ्लो भवति । अस्मिन् प्रकरणे कर्मण एव सर्वतः प्रभुत्वं समर्थितम् । तदपि तथा युक्तिभिर्यथा ताः समधिगम्या भवेयुः —

"साधनेष्विह समेषु विशेषो यः फलेऽस्ति स च कारणयोगात् ।
गौरवन्धुषु समेषु य एकः श्यामलः स विषमाशनहेतोः ॥ १५"
(पृ० १८७)

अयमपि तथोपदिष्टो भवति यथाऽन्ते —

"खण्डिकैः सह शिवोचितमार्गे सोऽग्निभूतिरपि दीक्षित आसीत् ॥"

एवमनयोर्भ्रात्रोर्लघुबन्धुर्वायुभूतिरपि देह-जीवयोर्भेदं रोचकयुक्तिभिरुपदिष्टः । यथा हि —

"वस्तुराङ्गसमवायसमुत्था
क्षीबता न परतोऽञ्चति किञ्चित् ॥
चेतना क्षिति-जला-ऽनलवायु-
व्यूहजेयमिति चेतसि वेत्सि ॥ ३४" (पृ० १९८)

इति शङ्कायाम्, —

"या च शक्तिरसती प्रतिवस्तु सा कुतः समुदये समुदेति ।
चेदिदं न, सिकतासमवाये किं न तैलजननं जगतीष्टम् ? ॥ ३६"
(पृ० १९९)

इत्युत्तरमाह । अर्थात् यद्येकस्मिन् वस्तुनि असती अपि चेतना वस्तुसमुदये स्वतः समुदेति तर्हि सिकताया एकैककणे असदपि तैलं सिकतासमुदये कुतो नोत्पद्येत ? अतो देहे भूतसमुदयजा चेतना नास्तीत्याशयः ।

एतदनन्तरं व्यक्ताचार्य-सुधर्मोपाध्यायमण्डितस्वामि-मौर्यपुत्र-अकम्पितोपाध्याय-अचलभ्रातृ-मैतार्यादयो विभिन्नसंप्रदाये लब्धप्रतिष्ठाः सुमहान्तो विद्वांसोऽपि तथोपदिष्टा यथा ते भक्तिपूर्वकं जैनागमदीक्षां जगृहुः, ये भगवदनुमतेन गणनायाः सन्तश्चतुर्विधसङ्घं प्रतिबोधयन्तो मुक्तिपदं प्रापयामासुः । एतेषामुपदेशप्रसङ्गेन देवानामस्तित्वं, नारकादिसत्ता, धर्माऽधर्मव्यवस्थादिकं च तथा स्फीताभि-

रुपपत्तिभिः प्रतिपादितं यथा साधारणव्युत्पत्तिशाल्यपि जनो गूढानपि विषयानिमानञ्जसाऽवबुध्येत ।

कविमुकुटमाणिक्यचन्द्रेण श्रीरूपचन्द्रेण इतिहासोऽयं तथा महत्त्वशालिन्या पद्धत्या प्रगुम्फितो यथा विरुद्धविचारशालिनोऽपि जनस्य जैनागमं प्रति महत्त्वबुद्धिरुदयेत् । यतो हि गौतमो महाविद्वान् वेद-वेदाङ्ग-द्वासप्ततिकलादिसमग्रज्ञातव्यानां पारंगम आसीत्, यश्च शिशुत्वे क्रीडाऽऽसक्तोऽपि शब्दशास्त्रवेदिनां मूर्द्धमणिरभूत् । उक्तं हि —

> "पुरःसरोऽसौ पदवाक्यवेदिना-
> मभूच्छिशुत्वेऽपि लल्न् सलीलया ॥
> ततो द्वयोर्गोपतिसर्पराजयो-
> रयं तृतीयो भुवि पूज्यतापदे ॥ १५"
>
> (पृ० ८४)

यो वेदोक्तकर्मकलापे जन्मतः शब्दशाली सुनिपुणश्चासीत्, यस्य चैतादृश्यलौकिकी शक्तिरासीत् सोऽपि महाप्रभावो गौतमो वीरजिनेश्वरस्य वचनामृतेन आजन्माऽभ्यस्तं मार्गं परित्यज्य जैनागमे दीक्षितो बभूव । ततः सांप्रतिकविद्वन्मानिनां तु जैनमतखण्डनाय को वा दम्भः स्यात्?

एवं किल जैनागमविजयडिण्डिमं सर्वतः प्रचारयन् महाकाव्यमिदं यथा धर्मतत्त्वबोधनायाऽलम्, तथा श्रद्धानदृढीकरणायापि पर्याप्तम् । विचार्यतामिदानीमस्य काव्यस्य साफल्यं मार्मिकैः । काव्यं हि शिक्षणीयान् स्वाभिमुखीकृत्य स्वाभिप्रेतमुपदेशविषयं तेषु

प्रचारयत्येव काव्यनिर्माणस्य मुख्यमुद्देश्यम् । तदिदमुद्देश्यं सुस्फुटमेव पूरितम्, यतो हि जैनागमस्य तात्त्विकमुपदेशं श्रुत्वा वैदिकादिमार्गेषु सुदृढाः, सर्वतः प्रसिद्धपाण्डित्या अपि महाविद्वांसोऽत्र श्रद्धाशालिनः संपद्यन्ते । एवंविध एव प्रभावस्तीर्थङ्करमहिम्ना प्रचारितः, अयमेवातिशयो महावीरादिवाणीनामिति सुदृढमुपदेशः काव्येनानेन वाचयतां हृदये दृढीक्रियते । अनेनोपदेशेनाभिमुखीभूतेषु प्रमेयेषु किं न साफल्यं महाकाव्यस्याऽस्य ?

तदिदम् पाठकश्रीक्षमाकल्याणगणिकृत 'गौतमीयप्रकाशाख्य'-व्याख्यासहितं श्रावकानां ज्ञानदृढीकरणाय संप्रति महता परिश्रमेण प्रकाश्यते । टीकेयमतिविशदा, अतिसरलपद्धत्या सान्वयं व्याख्यानमुपस्थापयति । लोकप्रसिद्धस्य पाणिनीयव्याकरणस्यानुसारेण च सर्वत्र शब्दसाधुत्वं बोधयति । सांप्रदायिकमावश्यकं तत्त्वमपि स्थाने स्थाने सेयं सुरुचिरया सरण्योपदिशति । स्थले स्थले श्रीहेमचन्द्रसूरीणां विशेषावश्यकवृत्त्यादीनां चोद्धरणान्यपि टीकायामस्यां दत्तानि ।

काव्यमिदं कस्मिन् स्थाने कदा निर्मितम्, कश्चायं कविरची रूपचन्द्रकविरित्यादिकं विवरणं नाहमत्रोल्लिखामि । ग्रन्थे एव

"संवच्छैल-वियद्गजोडुप(१८०७)मिते मासे सहस्याऽऽह्विये
पक्षे दक्षसुताधिनाथदिवसे शुद्धे तृतीयातिथौ ।
श्रीमद्योधपुरे कमध्वजरवौ श्रीरामसिंहे नृपे
श्रीमच्छ्रीजिनलाभसूरिगणभृद्राज्ये पुनर्द्धार्मिके ॥ १
विद्याचारवरे गणे खरतरे श्रीक्षेमकीर्त्त्यन्वये
सञ्जाता भुवि शान्तिहर्षगणयः श्रीवाचकाख्याभृतः ।

तच्छिष्या जिनहर्षनामयुनयो वैरङ्गिकाग्रेसरा-
स्तच्छिष्याः सुखवर्द्धना अपि दयासिंहाख्दीयास्तथा ॥ २
तच्छिष्योऽभयसिंहनामनृपतेर्लब्धप्रतिष्ठो महा-
गम्भीराऽऽर्हतशास्त्रतत्त्वरसिकोऽहं रूपचन्द्राह्वयः ।
प्रख्याताऽपरनामरामविजयो गच्छे स दत्ताख्यया
काव्येऽकार्षमिमं कवित्वकलया श्रीगौतमीये श्रमम् ॥ ३"

(पृ० २८८) इत्यादिभिः स्पष्टरूपेण दत्तम् । एतद्ग्रन्थस्य तत्त्वानुशीलनेन मार्मिकजनाः स्वयमेतस्य गुणान् महत्त्वं च परिजानीयुरिति किं वा वृथाक्षरक्षरणेन ?

सर्वथा जैनागमदीक्षापालकानां शिक्षोपयोगि महाकाव्यमिदं श्रद्धालूनां निश्चितं श्रद्धावर्धनाय भवेदिति भगवतः संप्रार्थ्याहं विरमामि—

निर्णयसागरमुद्रणालयम्
मुंबई नं. २
१–१–४१

सुधीविधेयः
नारायण राम आचार्यः
"काव्यतीर्थः"

श्रीमत्कृष्णाराधितपार्श्वनेमिजिनाभ्यां नमः

किञ्चिद्वक्तव्य

विद्वद्वृन्दमनोज्ञकाव्यततिभिर्यः स्तूयते सर्वदा,
भूपालप्रतिबोधको गुरुमतिः सिद्धान्तपारङ्गमी ।
व्याख्यादानविचक्षणः शुभगुणैर्विख्यातकीर्तिः सुधीः,
आनन्दर्षिप्रमुनीश्वरं गणपतिं वन्दे महाज्ञानिनम् ॥

शेठ देवचंद लालभाई जैनपुस्तकोद्धार फंडनो " अङ्क ९० " 'गौतमीयमहाकाव्य' ग्रन्थ प्रसिद्ध करवा 'सिद्धिदातानीकृपा'वडे प्रयत्नवान् थयो छुं. ग्रन्थकार, टीकाकार तथा काव्यादि संबंधे संशोधक **श्रीकनकविजयजीना** आदिवचनमां अने **शास्त्रीजी नारायण राम आचार्य "काव्यतीर्थ"** नी प्रस्तावनामां कहेवामां आवेलुं होवाथी विशेष कांई कहेवुं रहेतुं नथी. शास्त्रीजी काव्यतीर्थ नारायण आचार्ये संस्कृतमां विद्वत्ता अने विचारपूर्ण प्रस्तावना लखी ग्रन्थने समजवामां सुगमता करी आपी होवाथी ए महाशयनो उपकार मानुं छुं.

तपगच्छनी विजयशाखामां सुप्रसिद्ध पंजाब–उद्धारक **श्रीविजयानंद** (आत्मारामजी) सूरीश्वरनी पहेली विजयकमलसूरीय शाखामां श्रीमद् दानसूरिना शिष्य विद्यमान आचार्य म० श्रीविजयप्रेमसूरिजीना पट्टधर श्रीमद् विजयरामचन्द्रसूरिना शिष्य बालब्रह्मचारी श्रीकनकविजयजीये श्रीमद् विजयक्षमाभद्रसूरिनी प्रेरणाथी आनुं संशोधन करी आप्युं छे, ते बदल एओश्रीनो अंतःकरणपूर्वक आभार मानुं छुं.

आ पछी प्रसिद्ध थनारा ग्रन्थोमां (१) वैराग्यशतक, वैराग्यरसायन, पद्मानंदशत ऋषभासिकस्तोत्र, धर्मशिक्षाप्रकरण आदि वैराग्यादि शतको (२) अभिधानकोष, निघंटुशेष, लिंगानुशासन, शब्दभेदप्रकाश, एकाक्षर नाममाला, शिलोंछ आदि अने (३) जैनकुमारसंभवसटीक वगेरे प्रेसमां चालु छे. तेमज (१) प्रमाण-नयतत्त्वलोकालंकार स्याद्वादवतारिका टीका, टिप्पण, पंजिका सहित तथा (२) आवश्यकनिर्युक्ति छपाववानो विचार ट्रस्टीयो करी रह्या छे.

मुंबई ता. १३–१–४१
सं. १९९७ पौष शुक्ल पूर्णिमा.

जीवणचंद साकरचंद जवेरी
अवैतनिक मंत्री.

॥ विश्वहितयोधिदायकश्रीअमीविजयगुरुभ्यो नमः ॥

श्रेष्ठि-देवचन्दलालभाई-जैनपुस्तकोद्धारे—

पाठकश्रीरूपचन्द्रगणिविरचितं

श्रीगौतमीयकाव्यम् ।

श्रीक्षमाकल्याणगणिकृतगौतमीयप्रकाशाख्यटीकया सहितम् ।

॥ ॐ ह्रीँ नमः ॥

॥ श्रीगवडीपार्श्वनाथाय नमः ॥

अनन्तविज्ञानमयं विशुद्धं निरुद्धरागादिपरप्रचारम् ॥
जिनोत्तमं वीरमऽचिन्त्यशक्तिं निधाय भक्त्या हृदयाब्जकोशे ॥१॥
निराश्रवोद्दामगुणैकधामसमुल्लसद्विघ्नविघातदक्षम् ॥
गणेश्वराणां गणमुक्तियुक्त्या विधाय सद्यःस्तुतिगोचरं च ॥ २ ॥
प्रणम्य रम्यं गुरुपादपद्मं सरस्वतीं चाभिनिवेश्य चित्ते ॥
श्रीगौतमीयोत्तमकाव्यग्रन्थे वितन्यतेऽसौ प्रवरः प्रकाशः ॥ ३ ॥

त्रिभिः संटङ्कः ।

अथ तत्रभवन्तः श्रीमन्तः कवयः पाठकरूपचन्द्रगणयः सत्काव्यस्याऽनेकश्रेयःसाधनतां पश्यन्तो निर्दुष्टसकलजनमनश्चमत्कारकारि चारु गौतमीयाख्यं महाकाव्यं चिकीर्षवश्चिकीर्षितस्यार्थस्याविघ्नपरिसमाप्त्यर्थम्, 'आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्' इत्युक्तत्वाद्ग्रन्थादावाशीराद्यन्यतमं मङ्गलमवश्यं कर्तव्यमिति मन्वानाः

१ अनेन ज्ञानातिशयः सूचितः । २ अनेनापायापगमातिशयः सूचितः । ३ अनेन पूजातिशयः । ४ अनेन वचनातिशयः ।

श्रीवीरप्रभोरपापापुरीं प्रति या प्रस्थानेच्छा तद्रूपं वस्तु निर्दिशन्तः प्रबन्धमुपनिबध्नन्ति ॥

तत्रादिमं काव्यमाह—

श्रीराविरासीदिव दिव्यदीप्तिर्यस्यात्मनि ज्ञानमयी समग्रा ।
तीर्थप्रवृत्त्यै स च वीरनाथः प्रस्थातुमैच्छन्नगरीमपापाम् ॥ १ ॥

स वीरनाथो वीरप्रभुस्तीर्थस्य चतुर्विधसङ्घस्य प्रवृत्त्यै प्रवृत्तिं कर्तुं, तीर्थं प्रवर्त्तयितुमिति यावत् । अपापाम् । अपापासंज्ञिकां नगरीं प्रस्थातुं गन्तुमैच्छत्—वाञ्छति स्म । यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धात् स क इत्यत आह—यस्येत्यादि । यस्य वीरप्रभोरात्मनि चेतने समग्राऽखण्डिता ज्ञानमयी निखिलघनघातिकर्ममण्डलविपक्षपक्षक्षयसमुद्भूतकेवलज्ञान-स्वरूपा श्रीर्लक्ष्मीराविरासीत्—प्रादुरभूत् । श्रीः केव ? दिव्यदीप्तिरिव अद्भुतं ज्योतिरिव, यथा भगवत एव अन्यस्य वा कस्यापि उत्तम-स्यात्मनि दिव्यदीप्तिः प्रादुर्भवति तथेयमपीति भावः । केवलश्रियो हि लोकालोकप्रकाशकत्वाद्दिव्यदीप्त्यौपम्यम् ॥ आविरासीदिति । आविरिति निपातः प्राकट्यार्थस्तत्पूर्वात् 'अस भुवि' इत्यस्माद्धातोः कर्त्तरि लङ् । दिव्यदीप्तिरिति । दिव्या चासौ दीप्तिश्चेति कर्मधारयः, दिव्येत्यत्र 'द्युप्रागपागु' (४।२।१०१) इति यत् 'दिव्यं वल्गु-लवङ्गयोः, द्युभवेऽपी'ति हैमानेकार्थः । ज्ञानमयीति । ज्ञायते परिच्छिद्यते वस्त्व-नेनेति ज्ञानं तत्स्वरूपमस्या इति स्वरूपेऽर्थे मयट्, ततः "टिड्ढाणञ्" (४।१।१५)इति ङीप् । तीर्थप्रवृत्त्यै इति । तीर्यते संसारवारिधिरने-नेति तीर्थम्, 'तॄ प्लवनतरणयोः' इत्यस्मादौणादिकस्थक्प्रत्ययः, प्रवर्तनं प्रवृत्तिस्ततः षष्ठीतत्पुरुषः "क्रियार्थोपपदस्य" (२।३।१४) इति चतुर्थी, तादर्थ्ये चतुर्थी वा । वीरनाथ इति । वीरश्चासौ नाथश्चेति

कर्मधारयः । 'वीरो जिने भटे श्रेष्ठे' इति हैमः । प्रस्थातुमिति । प्रपूर्वात् 'ष्ठा गतिनिवृत्तौ' इत्यस्मात् "समानकर्तृकेषु" (३।३।१५८) इति तुमुन्प्रत्ययः, यतोऽत्र प्रस्थानविषयिणीच्छा प्रतीयते, न तु प्रस्थानार्थेच्छा इत्यतः "तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्" (३।३।१०) इति पूर्वसूत्रेणाप्राप्तिरिति भावः । ऐच्छदिति । 'इषु इच्छायाम्' इत्यस्मात्कर्तरि लङ् । ननु भगवतो वीतरागस्य सर्वथा निःस्पृहत्वेन इच्छाया अभावात् कथमैच्छदित्युक्तम् ? उच्यते । उपचारात् । इत्थमेव च श्रीभगवतीसूत्रवृत्त्योः प्रारंभेऽप्युक्तमस्ति । तथाहि 'संपाविउकामिति,' प्राप्तुकाम इति च यदुच्यते तदुपचारात्, अन्यथा हि निरभिलाषा एव भगवन्तः केवलिनो भवन्ति । 'मोक्षे भवे च सर्वत्र निःस्पृहो मुनिसत्तम' इति वचनादिति । अपापामिति । प्रायः सकलसुकृतिजनाधिष्ठितत्वात् नास्ति पापं यस्यां सा, तामित्यन्वर्थसंज्ञेयम् । स चेत्यत्र चकारस्तु पादपूरणे वाक्यालङ्कारे वा, अव्ययानामनेकार्थत्वादिति भावः । इह प्रबन्धे आदितः श्रीशब्दप्रयोगाद्वर्णगणादिदोषोत्पत्तिर्नात्रातीवोपयोगभाग् भवति । तथोक्तम्—"देवतावाचकाः शब्दा ये च भद्रादिवाचकाः । ते सर्वे नैव निन्द्याः स्युर्लिपितो गणतोऽपि च" इति ॥ १ ॥ सर्गेऽस्मिन्निन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रोपजातयो वृत्तानि । तल्लक्षणानि यथा—"स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः १, उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ २, अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः ॥ ३ ॥" इत्यलं प्रसङ्गेन ॥ १ ॥

तदानीं किं संजातमित्याह—

तावद्विदित्वागममस्य धात्रीपतेरिव व्यन्तरदेवसङ्घः ।
इव क्रियावान्वनपालवर्गस्ससर्ज रम्यं महसेनषण्डम् ॥ २ ॥

तावत् प्रथमं क्रियावान् स्वोचितकार्यकरणोद्यतो व्यन्तरदेवसङ्घो व्यन्तरजातीयसुरसमूहोऽस्य वीरप्रभोरागममागमनं विदित्वा ज्ञात्वाऽवधिज्ञानेनेति शेषः । महसेनषण्डं । अपापापुर्युपकण्ठवर्त्ति महसेननामकं वनं रम्यं रमणीयं ससर्ज रचयामास व्यन्तरदेवसङ्घः । क इव । वनपालवर्ग इव, वनपालकसमूह इव अस्य । कस्येव । धात्रीपतेरिव भूपतेरिव, यथा क्रियावान् वनपालवर्गो धात्रीपतेरागमनं विदित्वा काननं रम्यं सृजति तथेत्यर्थः । विदित्वेति । "विदक् ज्ञाने" इत्यस्मात्पूर्वकाले क्त्वाप्रत्ययः । "रुदविद–" (१।२।८) इति तस्य कित्वान्न गुणः । आगममिति । आगमनमागमः, "ग्रहवृद्दनिश्चिगमश्च" (३।३।५८) इति गमेर्भावेऽप् । अस्येति । "कर्तृकर्मणोः कृति" (२।३।६५) इति कर्त्तरि षष्ठी । धात्रीपतेरिति । दधाति भूतानीति धात्री भूमिस्तस्याः पतिर्नाथस्तस्य । व्यन्तरेत्यादि । चक्रवर्त्यादिसेवाकारित्वाद्विगतमन्तरं विशेषो नरेभ्यो येषां ते व्यन्तरास्ते च ते देवाश्च व्यन्तरदेवास्तेषां सङ्घः । क्रियावानिति । करणं क्रिया; सा विद्यतेऽस्येति अस्त्यर्थे मतुप् । 'क्रियावान् कर्मसूद्यतः' इत्यभिधानचिन्तामणिः । वनपालेत्यादि । वनं पालयन्तीति वनपालास्तेषां वर्गः । 'वर्गस्तु सदृशाम्' इति हैमः । सदृशानां वृन्दं वर्ग उच्यते इति तदर्थः । ससर्जेति । 'सृज विसर्गे' इत्यस्मात्कर्त्तरि लिट् । रम्यमिति । रन्तुं योग्यमित्यर्थे रमेर्यत् । महसेनेति । महसेनयक्षाधिष्ठितत्वादेतद्वनं महसेनाख्ययैव प्रसिद्धिं गतम् । 'स्यात् षण्डं काननं वनम्' इति हैमः ।

ऋतुस्तदान्यानपि वर्त्तमानः समाजुहावैकपदे वसन्तः ।
जगत्पतिं दर्शयितुं जनः को न ह्युत्सहेतेश्वरदर्शनाय ॥ २ ॥

तदा तस्मिन् काले वैशाखमासे वर्तमानः साक्षाद्विद्यमानो वसन्तो वसन्ताख्य ऋतुः । जगत्पतिं विश्वनाथं वीरं दर्शयितुं दृग्विषयं कारयितुमन्यानपि स्वव्यतिरिक्तान् ग्रीष्मवर्षाशरद्धिमशिशिराख्यानपि ऋतून् एकपदेऽकस्मात्समाजुहाव आहूतवान् । युक्तोऽयमर्थः—हि यतः कारणात् ईश्वरदर्शनाय त्रिभुवनेश्वरं द्रष्टुं को जनो लोको न उत्सहेत नोत्साहं कुर्यात् ? अपि तु सर्वोऽप्युत्सहेत एवेत्यर्थः । वर्तमान इति । वर्तते इति विग्रहे 'वृतु वर्तने' इत्यस्मात् कर्तरि लटः शानच् । समाजुहावेति । सम् आङ्पूर्वात् हु दानादावित्यस्मात्कर्तरि लिट् । एकपदे इति । एतदव्ययम् अकस्मादित्यर्थे । 'सहसैकपदे सद्योऽकस्मात् सपदि तत्क्षणे' इति हेमचन्द्रोक्तेः । दर्शयितुमिति हेतुमण्णिजन्तात् दृशेस्तुमुन् । उत्सहेतेति । उत्पूर्वात् सहेः कर्तरि लिङ् । ईश्वरेत्यादि । ईष्टे इतीश्वरः । दृष्टिर्दर्शनं, ईश्वरस्य दर्शनमीश्वरदर्शनं तस्मै 'क्रियार्थोपपदस्य—' (२।३।१४) इति चतुर्थी ॥ ३ ॥

स्वराज्यदेशानिव राजवर्या विभज्य वृक्षानृतवोऽध्यवात्सुः ।
स्वसारसम्भारमथाभिरामं विकासयामासुरिनार्चनाय ॥ ४ ॥

ऋतवो वसन्ताद्या वृक्षान् सहकारादितरून् विभज्य यथास्वं विभागं विधाय । अध्यवात्सुराश्रयामासुः, वृक्षेषु निवसन्ति स्मेत्यर्थः । के कानिव ? राजवर्या नृपमुख्याः स्वराज्यदेशान् निजराज्यजनपदानिव, यथा प्रधाना राजानः स्वराज्यदेशान् विभज्य तेषु निवसन्ति तथेत्यर्थः । अथाधिवासानन्तरे(रं) ऋतवः इनार्चनाय इनं परमेश्वरमर्चयितुं पूजयितुं अभिरामं मनोहरं स्वसारसम्भारं निजसारभूतपुष्पफलपत्रप्रकरं विकासयामासुर्विकस्वरं चक्रुः यद्वा प्रकटं चक्रुः, तदानीं सर्वेऽपि तरवः पुष्पादिमन्त आसन्नित्यर्थः । स्वराज्येत्यादि । राज्ञः

कर्म राज्यं स्वस्य राज्यं स्वराज्यं, तस्य देशास्तान्। 'देशो जनपदो नीवृत्' इति हैमः। राजेत्यादि। राजसु वर्याः। 'मुख्यं प्रकृष्टं प्रमुखं प्रवर्हं वर्यम्' इति हैमः। विभज्येति। विपूर्वाद्भजेः पूर्वकाले क्त्वा तस्य ल्यबादेशः। वृक्षानिति। "उपान्वध्याङ्वसः" (१।४।४८) इत्यधिकरणस्य कर्मत्वाद्द्वितीया। अध्यवात्सुरिति। अधिपूर्वाद्वसः कर्त्तरि लुङ्। स्वसारेत्यादि। स्वस्यात्मनः सारं पुष्पादिद्रव्यं तस्य सम्भारस्तं यथासारं प्रधानीभूतं वस्त्वित्यर्थः। 'सारो मज्जस्थिरांशयोः, बले श्रेष्ठे च सारं तु द्रविणन्यायवारिषु' इत्यनेकार्थः॥ विकासयामासुरिति। णिजन्तात् "कस गतौ" इत्यस्मात् 'कास्प्रत्ययात्' (३।१।३५) इत्याम्। ततोऽस्तेरनुप्रयोगः। "विकासः स्फुटने व्यक्तौ" इति दन्त्यान्तो धरणिः। इनार्चनायेति। इनस्यार्चनमिनार्चनं तस्मै, चतुर्थी प्राग्वत्, 'ईशितेनो नायकश्च' इति हैमः॥ ४॥

प्राग् ये स्थिताः श्रीवियुतास्तदानीं
सश्रीकतां प्रापुरगास्त एव।
श्रियस्तु लभ्याः समयेऽसुमद्भिः
सर्वत्र सत्यो हि दशाविवर्त्तः॥ ५॥

येऽगा वृक्षाः प्राक् पूर्वं श्रीवियुताः शोभारहिताः स्थिता अतिष्ठन् ते एव तेऽपि वृक्षास्तदानीं तस्मिन्काले प्रभोरागमनसमये सश्रीकतां शोभायुक्त्वं प्रापुः प्राप्नुवन्ति स्म। युक्तोऽयमर्थः—असुमद्भिः प्राणिभिः श्रियो लक्ष्म्यस्तु समयेऽवसरे लभ्याः क्वाप्यवसरे एव लभ्यन्ते, नतु यदा तदापीति भावः। कथमित्याह—सर्वत्रेत्यादि। हि यतो दशायाः अवस्थायाः विवर्तः परावर्तः सर्वत्रास्मिन् लोके सत्योऽवितथोऽस्तीति शेषः। प्राणिनां हि यदा सद्दशाऽभ्युदेति तदैव

सौख्यादिलाभो भवतीत्यर्थः । स्थिता इति । स्थाधातोरकर्मकत्वात्कर्त्तरि क्तः । श्रीत्यादि । श्रिया लक्ष्म्या वियुताः इति तृतीयातत्पुरुषः । तदानीमिति । अखण्डमव्ययमिदं सश्रीकतामिति सह श्रिया वर्त्तन्ते इति सश्रीकास्तेषां भावस्तत्ता तां प्रापुरिति । प्रपूर्वादाप्नोतेर्लिट् । अगा इति । न गच्छन्तीत्यगाः । 'नगोऽप्राणिषु' (६।३।७७) इति वैकल्पिकत्वात्पक्षे नञो न लोपः । त एवेति । अत्र एवकारोऽपि-शब्दार्थे । लभ्या इति । "पोरदुपधात्" (३।१।९८) इति कर्मणि यत् । असुमद्भिरिति । असवः प्राणाः सन्त्येषामित्यसुमन्तस्तैः कर्त्तरि तृतीया, "पुंसि भूम्न्यसवः प्राणा" इत्यमरः । दशेत्यादि । "अवस्था तु दशा स्थितिः" इति हैमः । "विवर्त्तो नर्त्तने सङ्केऽपावृत्तौ" इत्यनेकार्थः ॥ ५ ॥

रागाक्तलोकेरितदृष्टिपातादिवाप्तरागैः प्रचिताः प्रवालैः ।
द्रुमा न पुंसां न मनांसि जह्रुर्मनोहरं किं न भवेत्समृद्धम् ॥६॥

रागेण स्नेहेनाक्ता युक्ता ये लोकास्तैरीरिताः प्रेरिता या दृष्टयो नेत्राणि तासां पातः पतनं तस्मादिव आप्तः प्राप्तो रागो रक्तिमा यैस्तैः प्रवालैः किसलयैः प्रचिताः पुष्टाः द्रुमाश्चूतादिवृक्षाः पुंसां मनुष्याणां मनांसि चेतांसि कर्मतामापन्नानि न न जह्रुः न न हरन्ति स्म, हरन्ति स्मैवेत्यर्थः । 'द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं सूचयत' इत्युक्तत्वादिह नञ्द्वयेन हरणरूपोऽर्थ एव द्योत्यते, नतु निषेधार्थः । उक्तमर्थमर्थान्तरन्यासेन द्रढयति । समृद्धं समृद्धियुक्तं सत् किं वस्तु मनोहरं मनोहारकं न भवेत् ? । सर्वमपि स्यादेवेति भावः । अक्तेति । 'अञ्जु गतौ' अस्मात्कर्त्तरि क्तः । 'यस्य विभाषा' (७।२।१५) इति 'नट्' । ईरितेति । 'ईर् गतिकम्पनयोः' अस्मात्कर्मणि क्तः । एवमाप्तेत्यत्रापि ।

रागैरिति "रागः स्याल्लोहितादिषु । गन्धारादौ क्लेशादिकेऽनुरागे मत्सरे नृपे" इति हैमः । प्रचिता इति । प्रपूर्वाच्चिनोतेः कर्तरि क्तः । जह्रुरिति । हृञः कर्तरि लिट् । समृद्धमिति संपूर्वात् 'ऋधु वृद्धौ' इत्यस्मात्कर्तरि क्तः, "यस्य विभाषा" (७।२।१५) इति नेट् ॥ ६ ॥

सुस्निग्धसान्द्राणि हरिच्छदानि प्रपश्यतां भूमिरुहोऽनिमेषम् ।
अत्यन्तभेदेऽपि तदा नराणामकारयन्देवगणैरभेदम् ॥ ७ ॥

तदा तस्मिन् काले भूमिरुहो वृक्षाः सुस्निग्धसान्द्राणि सुतरामतिशयेन स्निग्धानि चिक्कणानि सान्द्राणि निबिडानि हरिच्छदानि हरिद्वर्णपत्राणि अनिमेषमक्षिस्पन्दरहितं यथा स्यात्तथा प्रपश्यतां प्रकर्षेण विलोकयतां नराणां देवगणैः सुरसमूहैः सहात्यन्तभेदेऽत्यन्तभिन्नत्वे सत्यपि अभेदं तैः सहाऽभिन्नत्वमकारयन् कारयामासुः । अयमर्थः—यद्यपि नराणां सुरैः सहैश्वर्यादिकृतो महान् विशेषोऽस्ति तथापि तदानीमनिमेषतयाऽवलोकनेन तैः सहाऽभिन्नत्वं जातमिति । एतेन वृक्षाणामतिरमणीयत्वमुक्तम् । ननु देवानामनिमेषत्वे किं प्रमाणम् ? । न तावत्प्रत्यक्षादित्रयं, प्रकृते तत्तल्लक्षणानामसंभवादिति चेत्, आगमप्रमाणमत्राऽवेहि । तदुक्तं—"अणिमिसनयणा मणकज्जसाहणा पुप्फदाम अमलाणा । चउरंगुलेण भूमिं न छिवंति सुरा जिणा बिंति" ॥१॥ हरिदित्यादि । हरिंति च तानि छदानि चेति विग्रहः । 'हरिद्दिशि तृणान्तरे, वर्णभेदेऽश्वभेदे च' इत्यनेकार्थः 'बर्हं पर्णं छदं दलम्' इति हैमः । प्रपश्यतामिति । प्रपूर्वाद्दृशेर्लटः शतृधातोः पश्यादेशः । भूमीत्यादि । भूमौ रोहन्तीति रुहेः क्विप् । अनिमेषमिति । न विद्यते निमेषो यत्र कर्मणि तत् क्रियाविशेषणमिदम् । अत्यन्तेत्यादि । अन्तं विराममतिक्रान्तोऽत्यन्तः, स चासौ भेदश्च तस्मिन् । अकारयन्निति । हेतुमण्णिजन्तात् कृञो लङ् ॥ ७ ॥

वातोच्छलत्पल्लवहस्ततालै रोलम्बझङ्कारसुगीतनादैः ।
कारस्करास्तीर्थकरागमोत्थं निदर्शयामासुरिव प्रमोदम् ॥ ८ ॥

कारस्करा वृक्षाः कर्तारः वातेन वायुना उच्छलन्त उत्पतन्तो ये पल्लवाः प्रवालास्त एव हस्ततालाः प्रसारिताङ्गुलिपाणयस्तैस्तथा रोलम्बानां भ्रमराणां ये झङ्कारशब्दास्त एव सुष्ठु शोभना गीतनादा गानध्वनयस्तैः करणभूतैः तीर्थंकरागमोत्थं वीरजिनागमनसमुद्भवं प्रमोदं हर्षं निदर्शयामासुरिव ज्ञापयामासुरिवेत्युत्प्रेक्षा । उच्छलदिति । उत्पूर्वात् 'शल गतौ' इत्यस्माल्लटः शतृ । हस्ततालैरिति । यद्यपि 'प्रसारिताङ्गुलौ पाणौ चपेटः प्रतलस्तलः, प्रहस्तस्तालिकातालं' इत्युक्तत्वादत्र तालपदेनैव प्रस्तुतार्थावगतौ हस्तपदं व्यर्थमिव प्रतिभाति । तथापि अस्य करिकलभादिवदुत्कर्षपोषकत्वान्न दोषः[1] । रोलम्बेत्यादि । "इन्दिन्दिरोऽली रोलम्बो द्विरेफ' इति हैमः । गीतेत्यत्र भावे क्तः । 'गीतं गानं गेयं गीतिः' इति हैमः । कारस्करा इति । पारस्करादित्वात्साधुः 'जर्णो दुर्विटपी कुठः, क्षितिरुहः कारस्करो विष्टर' इति हैमः । तीर्थंकरेत्यादि । तीर्थं चतुर्विधः सङ्घः प्रथमगणभृद्वा तत्करोतीति 'कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु' (३।२।२०) इति टप्रत्ययः, तीर्थंकरस्य आगमेन उत्तिष्ठतीति तीर्थंकरागमोत्थस्तं उत्पूर्वात् स्थाधातोर्डप्रत्यये 'उदः स्थास्तम्भोः—' (८।४।६१) इति पूर्वसवर्णः । निदर्शयामासुरित्यादि । हेतुमण्णिजन्ताद्दृशेर्लिट् कास् प्रत्ययादित्याम् । इह जनमिति शेषः । तस्य चाऽणिकर्तुः 'हक्रोश्च' (५४० वा.) इत्यनेन णौ कर्मत्वात् द्वितीया ॥ ८ ॥

[1] "विशिष्टवाचकानां पदानां सति पृथक् विशेषणवाचकपदसमवधाने विशेष्यमात्रपरता" इति न्यायोऽत्र सञ्चरते, 'करिकलभादिवत्' इति टीकाकृत्समाधानग्रन्थोऽप्येतदभिप्रायगर्भितः इति प्रतिभाति.

इति सामान्यतः षड् ऋतवो वर्णिताः । अथ विशेषतस्तान्वर्णयितुकामः कविस्तावद्दशभिः काव्यैर्वसन्तं वर्णयति—

सूनुप्रसूताविव मोदमाप्ताः सूनोद्गमे चूततरोर्द्विरेफाः ।
एषामतो मङ्गलगायनानामिव ध्वनिर्माङ्गलिको जजृम्भे ॥ ९ ॥

द्विरेफा भ्रमराः चूततरोः सहकारवृक्षस्य सूनोद्गमने पुष्पोद्गमने जाते सति मोदं हर्षं आप्ताः प्राप्नुवन्ति स्म । कस्यामिव, सूनुप्रसूताविव पुत्रोत्पत्ताविव, यथा पुत्रोत्पत्तौ सत्यां जना मोदमाप्नुवन्ति तथेत्यर्थः । अतोऽस्मात्कारणादेव एषां भ्रमराणां माङ्गलिको मङ्गलसूचक इव ध्वनिर्झङ्कारशब्दो जजृम्भे उल्ललास, विस्तृतवानित्यर्थः । केषामिव । मङ्गलगायनानामिव, यथा क्वापि हर्षकारणे मङ्गलगानकर्तॄणां माङ्गलिको ध्वनिर्गीतनादो जृम्भते तथेत्यर्थः । सून्वित्यादि । सूनोः प्रसूतिः सूनुप्रसूतिस्तस्यां, प्रपूर्वात् षूङो भावे क्तिन् । 'प्रसूतिः स्यादपत्ये प्रसवेऽपि च' इति हैमः । सूनेत्यादि । सूनानामुद्गमः सूनोद्गमस्तस्मिन् 'पुष्पं सूनं सुमनस' इति हैमः । द्विरेफा इति । द्वौ रेफौ येषां भ्रमरस्वरूपे नाम्नि ते द्विरेफाः । मङ्गलेत्यादि । मङ्गलं गायन्तीति मङ्गलगायना गान्धर्वादयस्तेषां । माङ्गलिक इति । मङ्गलं प्रयोजनमस्येति 'प्रयोजनम्' (५।१।१०९) इति ठक् । यद्वा मङ्गलमर्हतीति 'तदर्हति' (५।१।६३) इति ठक् । अथवा मङ्गले नियुक्त इति 'तत्र नियुक्त' (४।४।६९) इति ठक् । जजृम्भे इति । 'जृभी गात्रविनामे' अस्मात्कर्त्तरि लिट् । धातूनामनेकार्थत्वादस्य विस्तारार्थता ॥ ९ ॥

ये सुन्दरीणां मुखशीधुलाभा-
दामोदमत्ता बकुला बभूवुः ।
ते षट्पदान् उन्मदयिष्णवः किं
नासन् यतः कारणकार्यसाम्यम् ॥ १० ॥

ये वकुला वृक्षविशेषाः सुन्दरीणां स्त्रीणां मुखशीधुलाभात् । आमोदेन परिमलेन मत्ता मदयुक्ता बभूवुस्ते वकुलाः षट्पदान् भ्रमरान् उन्मदयिष्णवो मदोत्पादकाः किं न आसन् न बभूवुः, बभूवुरेवेत्यर्थः । अत्र किं कारणमित्यत आह—यत इत्यादि । यतो यस्मात्कारणात् कारणकार्ययोर्हेतुहेतुमतोः साम्यं सादृश्यमस्तीति शेषः । अयमर्थः—कारणं हि प्रायः स्वानुरूपमेव कार्यं जनयति, न तु स्वतो विरुद्धस्वभावम्, प्रायेण पित्रा तुल्यः पुत्र इत्याद्यभिधानात् । ततश्चात्र वकुलानां स्त्रीमुखमद्यसीकारजनितमत्तत्वेन तन्मकरन्दपायिनां भ्रमराणां मत्तत्वं युक्तमेवेति । एतावता वकुलमत्तताकारणं भ्रमरमत्तता च कार्यमिति स्थितम् । निःशेषाभरणभूषिता भामिनी समीपमुपेत्य यदा वकुले स्वमुखान्मद्यचुलुकं निक्षिपति तदैव तस्य पुष्पादिसम्पत्तिरुपजायते इति तत्स्वभावः । मुखेत्यादि । मुखस्य यः शीधुस्तस्य लाभस्तस्मात् 'मैरेये शीधुरासव' इति हेमः । लभेर्घञि वृद्धौ लाभेति । न च 'लभेश्चे'त्यनेन नुमागमः कुतो न स्यादिति चेदुच्यते, 'उपसर्गात्खल्घञोः' (७।१।६७) इति नियमान्न नुम् । खल्घञोः परयोरुपसर्गादेव लभेर्नुम् न तु केवलस्येति तदर्थः । आमोदेति । 'आमोदो गन्धहर्षयोः' इति हेमः । मत्ता इति । 'मदी हर्षे' 'कर्तरि निष्ठानच्यास्त्यापृमूर्छिमदां' इति निषेधात् निष्ठा (?) तस्य न नत्वं । वकुला इति । 'वकुलः केसर' इति हेमः । षडित्यादि । षट् पदा येषां ते तान् 'नलोकाव्यय—' (२।३।६९) इति षष्ठीनिषेधः । उन्मदयिष्णव इति । उत्पूर्वाण्णिजन्तात् 'मदी हर्षे' इत्यस्मात् 'णेश्छन्दसि' (३।२।१३७) इति सूत्रेण इष्णुच् । अयामन्तेति । णेरय् 'मदी हर्षग्लेपनयो'रिति मित्वात् 'मितां—' (६।४।९२) इति

द्भवः । ननु छान्दसोऽयं प्रयोगः कथमत्रोपात्त इति चेदुच्यते । लोकेऽपि कविभिरादृतत्वान्न दोषः । यथा छान्दसमपि प्रभविष्णु-शब्दं माघः प्रायुङ्क्त 'जगत्प्रभोरप्रभविष्णुवैष्णवं' इति वृहत्सिद्धान्त-कौमुद्यां बहुषु माघपुस्तकेषु तु असहिष्णु इति पाठो दृश्यते । किं नासन्निति काकूक्तिरियं अस्तेः कर्तरि लङ् । कारणेत्यादि । कारणं च कार्यं च कारणकार्ये, समयोर्भावः साम्यं, कारणकार्ययोः साम्यमिति विग्रहः । 'अल्पाच्तरं' (२।२।३४) इत्यनेन कार्यशब्दस्य प्राग्निपाते प्राप्तेऽपि कारणस्य प्राधान्यादभ्यर्हितं चेति तत्पूर्वनिपातः ॥ १० ॥

पश्यन्तु भो भो प्रमदाकटाक्षान्मधुव्रतालीं मधु पाययन्तु ।
इत्यागमोक्तीरिव सौगतानां सत्यापयन्तस्तिलका विरेजुः ॥११॥

तिलकास्तिलकनामानो वृक्षा विरेजुः शोभन्ते स्म । किं कुर्वन्त इव इति । इत्थं सौगतानां बौद्धानां आगमोक्तीः शास्त्रवचनानि सुगत-प्रणीततत्त्ववाक्यानीति यावत्, सत्यापयन्त इव सत्याः कुर्वन्त इव । इतीति किमित्याह—पश्यन्त्वित्यादि । भो भो लोकाः भवन्तः प्रम-दानां स्त्रीणां कटाक्षान् कटाक्षविक्षेपान् पश्यन्तु तथा मधुव्रतालीं मधुपजनश्रेणिं मधु मद्यं पाययन्तु पानं कारयन्तु इति ॥ अयमत्र तात्पर्यार्थः—यत्सत्तत् क्षणिकमिति व्याप्तिवादिनः सौगता एव-मुपदिशन्ति, 'यदहो लोकाः परमरमणीयरमणीरूपनिरीक्षणमनोऽ-भिलषितभोज्यभक्षणमधुपानमृदुशयनीयशयनादिभिरेव मोक्षावाप्तिः, न तपोनुष्ठानादिभिस्तेषां हि क्लेशरूपत्वेन लोके दुःखस्यैव साधनत्वात् । तस्मान्मोक्षार्थिभिः सुखेन स्त्रीभोगादि भोक्तव्यम्', तथा ये सुरा-पानकर्तारस्तेषां तत्पानं कारयितव्यमेतदेव तत्त्वमस्तीति तिलकानां पुनरयं स्वभावः । यदा नवयौवना कामिनी अभ्युपेत्य कटाक्षान्

विक्षिपति तदैव ते पुष्पादिभाजो भवन्ति । तथा विकसिताः सन्तो मधुव्रतालीं भ्रमरश्रेणिं मधु मकरन्दं पाययन्तीति । तत्रेदं कविनोत्प्रेक्षितम्—पश्यन्त्विति । एतत्क्रियाभिसम्बन्धादिहानुक्तोऽपि भवन्त इत्येव कर्ता अध्याहार्यो न तु यूयमिति तदध्याहारे तु पश्यतेति क्रियापदस्य प्रसक्तिः स्यात् । तथा च सति छन्दोभङ्ग इति । मधुव्रतेत्यादि । 'मधुव्रतो मधुकर' इत्यमरः । मधु व्रतं भक्ष्यं यस्येति तद्वृत्तिः । एवं च मधु मद्यं व्रतं यस्येति योगमात्रेण मधुव्रताः मद्यपायिन उच्यन्ते, योगरूढ्यां तु मधुशब्दस्य मकरन्दार्थतामपेक्ष्य मधुव्रता भ्रमरा उच्यन्ते । मधुव्रतानां या आली श्रेणिस्तां 'माला-स्यावलिपङ्क्तय' इति हेमः । इह 'गतिबुद्धि-' (१।४।५२) इत्यादिना कर्मत्वाद्द्वितीया । यद्यपि पा-धातोः पानमर्थः, नतु भक्षणम्, तथापि भक्षणमपि विशेषणीभूय भासते इत्येतावन्मात्रेण प्राशिर्बोध्या । मध्विति । 'मधु क्षीरे जले मद्ये क्षौद्रे पुष्परसेऽपि च' इत्यनेकार्थः । पाययन्त्विति । हेतुमण्णिजन्तात्पिबतेर्लोट् । आगमेत्यादि । आगमस्य उक्तयः आगमोक्तयस्ताः । सौगतानामिति । सुगतस्येमे सौगतास्तेषां 'तस्येदम्' (४।३।१२०) इत्यण् । सत्येत्यादि । सत्यशब्दात्तत्करोतीत्यर्थे 'सत्यापपाश-' (३।१।२५) इत्यादिना णिच् । सूत्रे सत्यापग्रहणादापुगागमः, ततो लटः शतृ । विरेजुरिति विपूर्वात् 'राजृ दीप्तौ' इत्यस्मात्कर्तरि लिट् ॥ ११ ॥

नितम्बिनीनां परिरम्भलाभाः
पादप्रहारोऽपि सुखाय येषाम् ।
तेऽशोकसाला विलसत्प्रवालाः
सेराः सखायो न कथं स्मरस्य ॥ १२ ॥

परिरम्भ आलिङ्गनं तस्य लाभः प्राप्तिर्यस्मिन् स तथाभूतो नितम्बिनीनां कामिनीनां पादस्य चरणस्य प्रहारस्ताडनं, लत्ताप्रहार इति यावत् । येषामशोकवृक्षाणां सुखाय सम्पद्यते सुखकारको भवतीत्यर्थः । ते सेरा विकसिता अत एव विलसन्तः शोभमानाः प्रवाला येषां ते तथाभूता अशोकसाला अशोकवृक्षाः स्मरस्य कामस्य कथं केन प्रकारेण न सखायो न सहायाः, अपि तु सखायस्ते इत्यर्थः । अशोकानां किलाऽयं स्वभावो यदा सकलालङ्कारशोभिता सुन्दरी प्रचरन्नूपुररणत्कारकारिचरणेन मूले प्रहारं विधत्ते तदैव ते पुष्पादिप्रसवन्तीति तेनैतेषां कामोद्दीपकत्वं युक्तमेवेति भावः । नितम्बिनीनामिति । स्त्रीकट्याः पश्चाद्भागो नितम्बः सोऽस्त्यासामिति मत्वर्थे इनिः, ततो ङीप् । परिरम्भेति । परिरम्भणं परिरम्भः, 'रभ राभस्ये' भावे घञ् 'रभेरशब्लिटोः' (७।१।६३) इति नुम् । 'आलिङ्गनं परिष्वङ्गः संश्लेष उपगूहनम् । अङ्कपाली परीरम्भ' इति हैमः । सुखायेति । क्लृप्यर्थक्रियाया गम्यमानत्वात् 'क्लृपि संपद्यमाने च' (५८० वा.) इति चतुर्थी, साला इति दन्त्यादिरयं, 'सालः मात्रप्राकारयोरपि' इति हैमः । सेरा इति । 'सेरं विनिद्रमुन्निद्रे' इति हैमः । स्मरेति । 'मधुदीपमारौ मधुसारथिस्मरौ' इत्यभिधानचिन्तामणिः ॥ १२ ॥

शश्वत् सुरूपे किल यत्सुगन्धः
पुष्पोच्चयेष्वैक्ष्यत चाम्पकेषु ।
तत्तार्किकाः संशयिताः श्रुतौ किं
वाङ्मात्रमेतन्न गुणा गुणेषु ॥ १३ ॥

किलेत्युत्प्रेक्षायाम्, यत् यस्मात्कारणात् चाम्पकेषु चम्पकसम्बन्धिषु पुष्पोच्चयेषु पुष्पसमूहेषु सुष्ठु शोभनं यद्रूपं तस्मिन् सुरूपे शश्वन्निरन्तरं सुगन्धः शोभनगन्धः ऐक्ष्यत दृष्टः, सर्वैरपि लोकैरिति

शेषः । तत्तस्मात्तार्किकास्तर्कशास्त्रविचारो विद्वांसः श्रुतौ शास्त्रे किं संशयिताः कथं संशयमापन्नाः, प्रत्यक्षनिर्णीते वस्तुनि संशयविधानमयुक्तमित्यर्थः । एवं तर्हि 'गुणेषु गुणा न भवन्ति' इति तर्कवाक्यस्य का गतिरित्याशङ्क्याह—वाङित्यादि । गुणेषु रूपादिषु गुणा गन्धादयो न तिष्ठन्तीत्येतद्वाक्यं वाङ्मात्रं वचनमात्रमेवास्ति नतु तात्त्विकमित्यर्थः । इह 'सुरूपतायां च सुगन्धता यत्' इति पाठान्तरम्, तत्र प्रयोगद्वयेऽपि भावे तल्प्रत्ययस्तु न संभवति । प्रस्तुतार्थाऽसङ्गतेः, ततः सुरूपमेव सुरूपतेत्यादि विगृह्य कथंचित्स्वार्थे तल्प्रत्ययं विधाय समाधेयम् । पुष्पोच्चयेष्विति । पुष्पाणामुच्चयाः पुष्पोच्चयास्तेषु ऐक्ष्यतेति ईक्ष्धातोः कर्मणि लङ् । चाम्पकेष्विति । चम्पकानामिमे चाम्पकास्तेषु 'तस्येदम्' (४।३।१२०) इत्यण् । तार्किका इति । तर्कं विदन्त्यधीयतेति 'तदधीते तद्वेद' (४।२।५९) इति ठक् । संशयिता इति । संशयो भ्रमात्मकं ज्ञानम्, स जात एषामिति, तारकादित्वादितच् । वाङ्मात्रमिति । वागेव वाङ्मात्रं 'मात्रं कार्त्स्न्येऽवधारणे' इत्यमरः॥१३॥

दूरोज्झिता या नवमालिकाली
सा चैव सेव्या भ्रमरैर्बभूव ।
अहो अहो स्वार्थपरो हि लोकः
स्वार्थं विना कोऽपि सुहृन्न कस्य ॥ १४ ॥

भ्रमरैर्या नवमालिकाली सप्तलाख्यलताश्रेणिर्दूरोज्झिता पूर्वं दूरे मुक्ता आसीत् सैव नवमालिकाश्रेणी सांप्रतं भ्रमरैः सेव्या सेवनीया बभूव, यतः पूर्वं निःश्रीकत्वेन त्यक्ता सांप्रतं पुनः श्रीकत्वेन पुनरादृता इत्यर्थः । एतदेव द्रढयति—अहो इत्यादि । हि यतः अहो अहो लोकः सर्वोऽर्थपरः स्वकीयकार्यसाधनतत्परो विद्यते इति शेषः । स्वार्थं

विना कोऽपि जनः कस्य जनस्य न सुहृत् न मित्रम्, अस्तीति शेषः। एतावता प्राणिनां यावत् स्वार्थसिद्धिः सुखेनोपजायते तावदेव परस्परं प्रचुरतरा प्रीतिरितीर्ववीरवर्चि तद्भाव (प्रीत्यभाव ?) एवेत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां स्वार्थ एव सौहार्दकारणमिति भावः। उज्झितेति। 'उज्झ त्यागे' कर्मणि क्तः। नवेत्यादि। 'सप्तला नवमालिका' इति हैमः। नवमालिकानां आलीति विग्रहः। सेव्येति। सेवितुं योग्याः 'षेवृ सेवायां' अस्माद् 'ऋहलोर्ण्यत्' (३।१।१२४)। अहो अहो इति। 'ओत्' (१।१।१५) इत्यनेन प्रगृह्यसंज्ञा, ततः 'प्लुतप्रगृह्या' (६।१।१२५) इति प्रकृतिभावः। स्वार्थेत्यादि। स्वस्यार्थः कृत्यं तत्र परः स्वार्थ एव परः प्रधानं यस्य स इति वा। 'अर्थः कृत्यं प्रयोजन'मिति हैमः। स्वार्थमिति। 'पृथग्विनानानाभिः' (२।३।३२) इति विनायोगे द्वितीया। सुहृदिति। शोभनं हृदयं यस्य स 'सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः' (५।४।१५०) इति हृदयस्य हृदादेशः॥ १४॥

सेवन्तिकानां मधुपानलोभात्कण्टाटनं नक्लमकारि जज्ञे।
मधुव्रतानां मधुपा जना यद्भूपातदुःखेऽपि सुखं लभन्ते ॥१५॥

मधुव्रतानां भ्रमराणां मधुपानलोभात् मकरन्दपानलिप्सया सेवन्तिकानां लताविशेषाणां यत् कण्टेषु कण्टकेषु अटनं भ्रमणं तत् क्लमकारि श्रमोत्पादकं न जज्ञे न जातं, लुब्धो जनो हि समविषमप्रदेशसंचारसमुद्भवं किमपि श्रमादिकं नापेक्षते इति भावः। युक्तोऽयमर्थः। यत् यस्मात्कारणात् मधुपा मद्यपानकर्तारो जना भूपातदुःखेऽपि भूमिपतनादिदुःखे सत्यपि सुखं लभन्ते सौख्यमनुभवन्ति,

१ 'तदभावे तदभावः'—इति 'स्वार्थाभावे-स्नेहाभाव' इत्यर्थकः पाठोऽत्र यद्वतिमानुयादिति प्रतिभाति। २ 'कारणसत्त्वे कार्यसत्ता, कारणाभावे कार्याभावः' इति तयोर्लक्षणम्।

अतिलुब्धत्वात् ते हि मद्यपानं सुखकारकं मन्वाना बहुलमपि भूमिपातादिदुःखं न गणयन्तीत्यर्थः । मध्वित्यादि । मधुनः पानं मधुपानं तस्य लोभस्तस्मात् 'लोभः तृष्णा लिप्सा वशः स्पृहा' इति हैमः । क्लमेत्यादि । क्लमं करोतीति 'सुप्यजातौ' (३।२।७८) इति णिनिः, 'क्लमः क्लेशः परिश्रमः' इति हैमः । जज्ञे इति । 'जनी प्रादुर्भावे' कर्त्तरि लिट् । मधुपा इति । मधु पिबन्तीति । मधुपूर्वात्पाधातोः क्विप् ॥ भूपातेति । पतनं पातः, भुवि पातो भूपातस्तस्य दुःखं तस्मिन् ॥ १५ ॥

पुष्पश्रिया किंशुकपादपाना-
माच्छादिता पत्रदरिद्रताऽपि ।
नरः सुरूपः खलु दुर्गतोऽपि
स्यादेव लोकस्य विलोकनीयः ॥ १६ ॥

किंशुकानां पलाशाख्यवृक्षविशेषाणां पुष्पश्रिया पुष्पलक्ष्म्या पत्रदरिद्रतादि आच्छादिता, पत्रैर्यद्धि दारिद्र्यं तदपि आच्छाद्यते सेत्यर्थः । एतावता अपत्रा अपि किंशुकाः केवलं पुष्पैरेव दर्शनीया बभूवुरिति भावः । युक्तोऽयमर्थः—खलु निश्चयेन दुर्गतोऽपि दरिद्रोऽपि नरो मनुष्यः सुरूपः शोभनाकृतियुक्तः सन् लोकस्य विलोकनीयो दर्शनीयः स्यादेव भवत्येवेत्यर्थः । किंशुकानां किलाऽयं स्वभावो यतः पुष्पकाले पत्राणि न भवन्ति पत्रसमये पुष्पाणि नेति । किंशुकेत्यादि । पादैः पिबन्तीति पादपाः किंशुकाश्च ते पादपाश्च तेषां । 'त्रिपत्रकः पलाशः स्यात्किंशुको ब्रह्मपादपः' इति हैमः । आच्छादितेति । आङ्पूर्वाच्चुरादिणिजन्तात् 'छद अपवारणे' इत्यस्मात्कर्मणि क्तः । पत्रेत्यादि । दरिद्राणां भावो दरिद्रता, पत्रैः दरिद्रतेति विग्रहः ।

सुरूप इति सुष्ठु रूपं यस्य सः। दुर्गत इति। 'दरिद्रो दुर्विधो दुःस्थो दुर्गत' इति हैमः ॥ १६ ॥

निमन्त्रिता यन्न समृद्धिकाले वयं तदेभिर्नहि सौहृदं नः।
इतीव पुष्पैर्हृदये स्वकीये कृतो मधूकेषु नु पर्णपातः ॥ १७ ॥

मधूकवृक्षाणामपि किंशुकवत् पत्रसमये पुष्पाणि न, पुष्पसमये च पत्रपातः स्यादिति स्वभावतस्तत्र कविरुत्प्रेक्षते—यत् यस्मात्कारणात् एभिः पत्रैः समृद्धिकाले निजसंपत्तिसमये वयं न निमन्त्रिता न चाहूताः, तत् तस्माद्धेतोर्नोऽस्माकमेभिः सह सौहृदम्, मैत्र्यं नहि-न विद्यते इत्यर्थः। इत्येवम्भूतविचारेणेव मधूकेषु वृक्षविशेषेषु पुष्पैः कुसुमैः स्वकीये उदये सति आत्मीयप्रादुर्भावे सति पर्णपातः पत्रविनाशः कृतो विहितः। इह नुशब्दो वितर्कद्योतकः। निमन्त्रिता इति। निपूर्वाच्चुरादिणिजन्तात् 'मन्त्रि गुप्तभाषणे' इत्यस्मात्कर्मणि क्तः। समृद्धीत्यादि। समृद्धेः कालः समृद्धिकालस्तस्मिन्, 'स्यात्कालः समयो-दिष्टे'ति हैमः। सौहृदमिति। सुहृदो भाव इत्यर्थे युवादित्वादण्। बाहुलकादुत्तरपदस्य न वृद्धिः, 'सख्यं तु सौहृदम्' इति हैमः। न इति 'बहुवचनस्य वस्नसौ' (८।१।२१) इति आमन्त्रितस्यास्मदो न सादेशः। स्वेत्यादि। स्वकस्यायं स्वकीयस्तस्मिन् स्वार्थिककप्रत्ययान्तात्स्व-शब्दात्, 'गहादिभ्यश्च' (४।२।१३८) इति छप्रत्ययस्तस्येयादेशः। कृत इति कृञः कर्मणि क्तः। मधूकेष्विति। 'मधूकस्तु मधुष्ठीलो गुडपुष्पो मधुद्रुमः' इति हैमः। पर्णपात इति। पातनं पातः, पर्णानां पातः इति विग्रहः, पतेर्णिजन्ताद् घञ् ॥ १७ ॥

निरन्तरश्वेतसुमोच्चयान्तर्वपुर्विकाशा चरणा विरेजुः।
सहस्रमुक्ताफलजालगुप्ता हरिन्मणीनां निवहा इवोच्चैः ॥ १८ ॥

निर्गतमन्तरं व्यवधानं येभ्यस्तानि निरन्तराणि संमिलितानि श्वेतानि उज्ज्वलानि यानि सुमानि पुष्पाणि तेषामुच्चयः समूहस्तस्यान्तर्मध्ये वपुषः स्वशरीरस्य विकाशः प्रकाशो येषां ते तथाविधा वरणास्तरुविशेषा विरेजुः शोभन्ते स्म। के इव, सुष्ठु सम्यक् प्रकारेण क्लृप्तं रचितं यन्मुक्ताफलानां मौक्तिकानां जालं जालिका तेन गुप्ता आच्छादितास्तथा उच्चैरुन्नताः हरिन्मणीनां मरकतमणीनां निवहाः समूहा इव यथाऽमी शोभां बिभ्रति तथा तेऽपीत्यर्थः। इह पुष्पाणां श्वेतत्वान्मौक्तिकैरौपम्यं वरणानां च हरिद्वर्णत्वात् हरिन्मणिभिरौपम्यमस्तीति। सुमेत्यादि। 'प्रसूनं कुसुमं सुम'मिति हैमः। 'वपुः पुद्गलवर्ष्मणी' इति च। वरणा इति। 'वरणो वरुणद्रुमे' 'प्राकारे वरणं वृत्यां' इति हैमानेकार्थः। विरेजुरिति। विपूर्वाद्राजतेः लिट्। हरिदित्यादि। 'पीतनीलः पुनर्हरिदि'ति हैमः। हरितश्च ते मणयश्च तेषाम्। 'मरकतं त्वश्मगर्भं गारुत्मतं हरिन्मणि'रिति हैमः। निवहा इति। 'जालं निवहसंचयौ' इति च॥ १८॥

इति वसन्तवर्णनम्॥ १॥

सांप्रतं पद्भिः पद्यैर्ग्रीष्मं वर्णयितुमुपक्रमते—

राज्यर्द्धभागाद्दिवसार्द्धभागं यावद्दिशः सौरभमुद्वमन्त्यः।
शिरीषपुष्पस्पृशि वाति वायावाह्लादयामासुरशेषलोकम्॥ १९॥

शिरीषस्य वृक्षविशेषस्य पुष्पाणि स्पृशतीति शिरीषपुष्पस्पृक् तस्मिन्, एवंविधे वायौ पवने वाति सति सौरभं सौगन्ध्यमुद्वमन्त्यः प्रादुःकुर्वाणाः दिशः पूर्वाद्याः ककुभो राज्यर्द्धभागात् अर्द्धरात्रादारभ्य दिवसार्द्धभागं यावत्, अशेषलोकं समस्तजनमाह्लादयामासुरानन्दितं चक्रुः। अयमर्थः—ग्रीष्मर्तौ हि एतदेव प्रहरचतुष्टयं शीतादिगुणोपपन्न-

पवनयुक्तत्वात्सुखदं, शेषं तु अतितापकारित्वान्न तादृशमिति, तथा तदैव शिरीषवृक्षोऽपि पुष्पितो भवतीति । रात्रीत्यादि । अर्द्धश्चासौ भागश्चार्द्धभागः, रात्रेरर्द्धभागस्तस्मात् समांशवाच्यर्द्धशब्दविवक्षायां तु अर्द्धश्चासौ भागश्चेति विग्रहः, 'अर्द्धः खण्डेऽर्द्धं समांशे' इति हैमः । एवमग्रेऽपि । उद्वमन्त्य इति । उत्पूर्वात् 'टुवम् उद्गिरणे' इत्यस्माल्लटः शतृ, तत 'उगितश्च' (६।३।४५) इति ङीप्, 'शप्श्यनोः' (७।१।८१) इति नुम् । वातीति । 'वा गतिगन्धनयोः' अस्माल्लटः शतृ, ततः सप्तम्येकवचनं ङिः । आह्लादयामासुरिति । 'ह्लादी सुखे' आङ्पूर्वः अस्माण्णिजन्तादाम् । अशेषेत्यादि । अशेषश्चासौ लोकश्चेति विग्रहः, 'विश्वाशेषाखण्डकृत्स्ने'ति हैमः ॥ १९ ॥

भ्रमद्घटीयन्त्रजलप्रपातोच्छलत्किरच्छीकरशीतलासु ।
भूमिष्वधःपुष्पितपाटलानां सुखं निदद्रौ वनचारिलोकः ॥ २० ॥

वनचारिलोकः काननसञ्चारिजनः भ्रमतो भ्रमणं कुर्वतो घटीयन्त्रस्य यत् जलं पानीयं तस्य प्रपातेन प्रपतनेन उच्छलन्त उत्पतन्तोऽत एव किरन्तो निजावयवान् विक्षिपन्तो ये शीकरा जलकणास्तैः शीतलाः शिशिरास्तासु एवंभूतासु पुष्पितपाटलानां कुसुमितपाटलीवृक्षाणामधोभूमिषु अधोवर्त्तिपृथ्वीप्रदेशेषु सुखं यथा स्यात्तथा निदद्रौ निद्रां चकार । भ्रमदित्यादि । 'भ्रमु चलने' अस्माल्लटः शतृ, 'उद्घाटकं घटीयन्त्र' इति हैमः । किरदिति । 'कॄ विक्षेपे' तुदादिरस्माल्लटः शतृ, 'ऋत इद्—' (७।१।१००) इतीत्त्वेरपरत्वम् । शीकरेति । 'अथ शीकरः वाताास्तजलेऽम्बुकणे' इत्यनेकार्थः । अध इति । पृथक्पदमेतत्, अव्ययत्वाद्विभक्तेर्लुक् । पुष्पितेत्यादि । पुष्पाणि जातान्यासामिति तारकादित्वादितच् । पुष्पिताश्च ताः

पाटलाश्च पुष्पितपाटलास्तासाम्, 'पाटलिः पाटले'ति हैमः । निदद्राविति । 'द्रा कुत्सायां गतौ' अस्मान्निपूर्वात्कर्त्तरि लिट् । वनेत्यादि । वने चरति तच्छीलो वनचारी, शीले णिनिः, स चासौ लोकश्चेति विग्रहः, 'स्यात् षण्डं काननं वनं' इति हैमः ॥ २० ॥

रसं निपीयार्जुनमञ्जरीणां मत्तालिभिस्तत्र तथा जुगुञ्जे ।
यथा प्रमोदोद्धुरमानवानामुद्गायतां गानसहायताऽभूत् ॥ २१ ॥

अर्जुनः ककुभवृक्षस्तस्य या मञ्जर्यस्तासां रसं मकरन्दं निपीय पीत्वा मत्तालिभिर्मदयुक्तैर्भ्रमरैस्तत्रार्जुनतरौ तथा जुगुञ्जे गुञ्जारवो विहितो यथा उद्गायतामुच्चैः स्वरेण गानं कुर्वतां प्रमोदोद्धुरमानवानामानन्दप्रमत्तमनुष्याणां गानसहायता गीतेषु साहाय्यकारित्वमभूत् जाता: । एतावताऽर्जुनतरुतलस्थितानां स्वेच्छया गायतां नराणां गाने गुञ्जद्भिर्भ्रमरैः साहाय्यं कृतमिति भावः । यद्वा सहायतेत्यत्र सामूहिकमत्ययं स्वीकृत्यायमर्थो विधेयः, भ्रमरैस्तथा जुगुञ्जे यथा उद्गायतां मानवानां गाने सहायता साहाय्यकर्तॄणां समूहोऽभूदिति । निपीयेति । 'पीङ् पाने'दिवादिः, निपूर्वादस्मात्पूर्वकाले क्त्वा तस्य ल्यबादेशः । अर्जुनेति । 'ककुभोऽर्जुन' इति हैमः । मत्तेत्यादि । मत्ताश्च तेऽलयश्च तैः । जुगुञ्जे इति । 'गुजि अव्यक्ते शब्दे' अस्मात्कर्मणि लिट् । प्रमोदेत्यादि । प्रमोदेनोद्धुरा उन्मदास्ते च ते मानवाश्च तेषां 'आह्लादः प्रमोदः प्रमद' इति हैमः । 'मनुजो मानवः पुमान्' इति च । उद्गायतामिति । उत् ऊर्द्ध्वं गायन्तीति उद्गायन्तस्तेषाम् । गानेत्यादि । सहायानां भावः सहायता, भावे तल्, यद्वा सहायानां समूह इति विग्रहे सामूहिकस्तल्, ततः सप्तमीतत्पुरुषः ॥ २१ ॥

समालिलिङ्गुर्गुरुभारनम्रा आम्रा ध्रुवं लोलतुलङ्गवाभिः ।
छायाप्रदानेन यनाम्युपेतान्पमत्रपन्थनिव सत्फलैश्च ॥ २२ ॥

गुरुर्महान् योऽसौ भारस्तेन नम्रा नमनशीला आम्राः सहकारतरवो लोलाश्चञ्चला अत एव लुलन्त्यो नम्रीभवन्त्यो या लताः शाखास्ताभिर्भुवं पृथ्वीं समालिलिङ्क्षुरालिङ्गयामासुः । उत्प्रेक्ष्यते—वनाम्युपेतान् वनं प्राप्तान् नृन् मनुष्यान् छायायाः प्रदानेन वितरणेन च पुनः सत्फलैर्न्यमन्त्रयन्निव निमन्त्रयामासुरिव, यथाऽन्योऽपि सत्पुरुषः स्वस्थाने समागतं जनं वसतिप्रदानेन सद्भोजनादिभिश्च निमन्त्रयतीति छायार्थः । समालिलिङ्क्षुरिति । सम्—आङ्पूर्वात् 'लिगि गतौ' अस्माल्लिट् । लोलेति । 'चटुलं चपलं लोलं' इति हैमः । लुलदिति । 'लुल विलसने' तुदादिरस्माल्लटः शतृ, यद्यपि धातुपाठेऽयं धातुर्न दृश्यते तथापि हैमकोशबृहद्वृत्तौ लोलशब्दाधिकारे लिखितोऽस्ति, यद्यपि तत्र भौवादिकस्य प्रयोगः कृतोऽस्ति परं महाकविप्रयोगाच्चौदादिकोऽपि ज्ञायते, तथाच श्रीहेमाचार्यकृतपरिशिष्टपर्वणि तृतीयसर्गे नागश्रीदृष्टान्ते लुलदिति तौदादिकस्य प्रयोगः । एवं 'लुलत्कर्णं नमत्पुच्छं' इत्यादियशोधरचरित्रादावपि ज्ञेयम् । अमरवृत्तौ तु लोलशब्दाधिकारे 'लुड विलोडने' धातुः प्रोक्तोऽस्ति, डलयोरैक्यमाश्रित्य शब्दसिद्धिः कृतास्ति । धातुपाठे तु अयमपि धातुर्न दृश्यते इति सुधीभिर्विमान्यम् । लतेति । 'शिखा शाखा लताः समाः' इति हैमः । वनेत्यादि । वनमभ्युपेता वनाभ्युपेतास्तान् अभिउपपूर्वात् 'इण् गतौ' इत्यस्मात्कर्तरि क्तः । न्यमन्त्रयन्निति । निपूर्वान्मन्त्रयतेर्लङ् । सत्फलैरिति । सन्ति समीचीनानि च तानि फलानि च तैः ॥ २२ ॥

नीलाभ्रलुम्ब्याचितहारहूरोचैर्मण्डपेष्वास्तृतचारुपत्राः ।
द्राक्षासवाघूर्णिततान्रनेत्राः कृतार्थयन्ति स्म वयो युवानः ॥२३॥

---

१ यशोधरचरित्रे—"......गृहीर्वी च लुलद्वौकस्त्या तस्यां शये कपम् ॥२०२॥"

नीलानि नीलवर्णानि यान्याम्राणि सहकारफलानि तेषां लुम्बिभिराचितानि पूरितानि यानि हारहूराणां द्राक्षालतानामुच्चैरुन्नतानि मण्डपानि तेषु आस्तृतानि चारूणि सुन्दराणि पत्राणि कदल्यादिदलानि यैस्ते तथा द्राक्षासवेन द्राक्षासुरापानेन आसमन्ताद् घूर्णितानि घूर्णनयुक्तानि अत एव ताम्राणि रक्तानि नेत्राणि येषां ते तथाविधा युवानस्तरुणपुरुषा वयस्तारुण्याभिधानं कृतार्थयन्ति स कृतकृत्यं चक्रुः, सफलमकार्षुरित्यर्थः । आचितेति । आङ्पूर्वात् 'चिञ् चयने' अस्मात्कर्तरि क्तः, 'पूर्णे स्याचितं छन्नपूरिते अरितं निचितं व्याप्तं' इति हैमः । हारहूरेति । 'द्राक्षा तु गोस्तनी । मृद्वीका हारहूरा चे'ति च हैमः । मण्डपशब्दोऽर्द्धर्चादित्वात्पुंक्लीबलिङ्गः । आस्तृतेति । आङ्पूर्वात् स्तृञः कर्मणि क्तः । आसवेति । 'मद्यसन्धानमासुतिः । आसवोऽभिषवः' इति हैमः । आघूर्णितेति । 'घूर्ण भ्रमणे' अस्मात्कर्तरि क्तः, कृतार्थयन्तीति कृतार्थं कुर्वन्तीति विग्रहे कृतार्थशब्दात् 'तत्करोति' (ग०) इत्यर्थे णिच्, 'स्मे लट्' (३।२।११८) इति सयोगे लिटोऽपवादो लट् ॥ २३ ॥

प्रलम्बजम्बूसहकाररम्भाछायातिशीतोदकपुष्करिण्यः ।
सूर्यातपश्रान्त्यपनोददक्षा वनेऽत्र नासन् किमु सेवनीयाः ॥२४॥

अत्रास्मिन्वने कानने सूर्यस्य आतपेन प्रतापेन उत्पन्ना या श्रान्तिः श्रमस्तस्या अपनोदे विनाशे दक्षाश्चतुरास्तथा प्रलम्बानां प्रचण्डानां जम्बूसहकाररम्भाणां जम्ब्वाम्रकदलीवृक्षाणां छायं प्रलम्बजम्बूसहकाररम्भाछायं तेन अतिशीतमुदकं पानीयं यासु तास्तथाविधाः पुष्करिण्यो वाप्यः किमु सेवनीया आश्रयणीया नासन्न बभूवुः, अपि तु बभूवुरेवेत्यर्थः । जनानामिति शेषः । रम्भा

छायेति । 'रम्भा मोचा कदल्यपि' इति हैमः । 'छाया बाहुल्ये' (२।४।२२) इति क्लीबत्वं । पुष्करिण्य इति । पुष्करं जलं पद्मं वा अस्ति आसामिति । 'पुष्करादिभ्यो देशे' (५।२।१३५) इतीनि, 'ऋन्नेभ्यः' (४।१।५) इति ङीप् । 'पुष्करिण्यां तु खातकं' इति हैमः । 'समचतुरस्रा वापी पुष्करिणी' इति मिश्राः । श्रान्तीति । 'श्रमु तपसि खेदे च' इत्यस्माद्भावे क्तिन्, 'तितुत्रतथ–' (७।२।९) इति नेट् । 'अनुनासिकस्य–' (६।४।१५) इति दीर्घः, सूर्यातपेनोत्पन्ना श्रान्तिः सूर्यातपश्रान्तिः शाकपार्थिवादित्वान्मध्यपदलोपः । आसन्निति । अस्तेः कर्त्तरि लङ् ॥ २४ ॥

इति ग्रीष्मवर्णनम् ॥ २ ॥

अथ चतुर्भिर्वर्षां वर्णयति—

दिव्युच्छलद्दुन्दुभिनादमेघध्वनिर्मयूरान् मदयाञ्चकार ।
तत्कूजनोत्कण्ठकितैः कदम्बैरिहैव लेभे सुमनोवनश्रीः ॥ २५ ॥

दिवि आकाशे उच्छलन्नुत्पतन् योऽसौ दुन्दुभिनादो दिव्यपटहनिर्घोषः स एव मेघध्वनिर्घनगर्जारवः स कर्तृतामापन्नो मयूरान्बर्हिणो मदयाञ्चकार मदयति स्म, आनन्दितान्विदधे इत्यर्थः । अथ इहैव अस्मिन्नेवावसरे तेषां मयूराणां कूजनेन जल्पनेन उत्कण्ठकिता उल्लसितास्तत्कूजनोत्कण्ठकितास्तैः कदम्बैर्नीपवृक्षैः सुमनोवनश्रीः पुष्परूपा वनलक्ष्मीर्लेभे, प्राप्यते स्मेत्यर्थः । एतावता त्रैलोक्यनाथागमनसमुद्भवं दुन्दुभिनादमेव मेघध्वनिमाशङ्क्य प्रमुदितानां मयूराणां कूजनेन समुल्लसिताः कदम्बाः प्रचुरतरपुष्पसम्पत्तिभाजो बभूवुरिति भावः । दुन्दुभीति । 'भेरी दुन्दुभिरानकः पटहः' इति हैमः । मदयामित्यादि । णिजन्तान्मदेराम्, 'मदी हर्षग्लपनयोः' इति मित्त्वात्

'मितां ह्रस्वः' (६।४।९२)। कदम्बैरिति । 'अथ हलिप्रियः, नीपः कदम्ब' इति हैमः । लेभे इति । लभेः कर्मणि लिट् । सुमन इत्यादि । वनसम्बन्धिनी श्रीर्वनश्रीः, सुमनसः पुष्पाण्येव वनश्रीरिति विग्रहः, सुमनस्शब्दो नित्यं बहुवचनान्तः स्त्रीलिङ्गश्च 'पुष्पं सूनं सुमनस' इति हेमचन्द्रोक्तेः, 'भूम्नि स्त्रियां सुमनसः' इति रत्नकोषकारोक्तेश्च । किन्तु 'पुष्पं सुमनाः कुसुमं' इति नाममालादिदर्शनेनास्यैकवचनान्तत्वमपि प्रतीयते । तथा च प्रयोगः—'वेश्या श्मशानसुमना इव वर्जनीया' इत्यादि ॥ २५ ॥

आच्छादितो यद्यपि यत्नवृत्त्या
यः केतकैः स्वप्रसवस्तथापि ।
स्वसौरभेणाथ स विश्रुतोऽभू-
न्महानुभावः क्व निलीयते यत् ॥ २६ ॥

केतकैर्वृक्षविशेषैर्यः स्वप्रसवो निजपुष्पं यद्यपि यत्नवृत्त्याऽऽच्छादितो यत्नपूर्वकमाच्छाद्य रक्षितोऽभूदित्यर्थः । तथापि अथ स प्रसवः स्वसौरभेण निजसौगन्ध्येन विश्रुतोऽभूत् प्रकटीबभूव । युक्तोऽयमर्थः—यत् यस्मात्कारणात् महान् अनुभावः प्रभावो यस्य स महानुभावः पदार्थः क्व निलीयते कुत्र प्रच्छन्नभावं भजते, अपि तु न कापीत्यर्थः । आच्छादित इति । आङ्पूर्वाच्छादयतेः कर्मणि क्तः । यत्नेत्यादि । यतनं यत्नस्तेन वृत्तिर्वर्तनं तया 'वृत्तिस्तु वर्तने, कैशिक्यादौ विवरणे' इत्यनेकार्थः । केतकैरिति । 'केतकः क्रकचच्छद' इति हैमः । प्रसव इति । 'पुष्पं सूनं सुमनसः प्रसवश्च मणीवकं' इति च हैमः । विश्रुत इति । 'अथ विश्रुतं ज्ञाते हृष्टे प्रतीते च' इत्यनेकार्थः । अनुभाव इति । 'अनुभावो प्रभावे स्यान्निश्चये भावसूचने' इति अनेकार्थः

च । निलीयते इति 'लीङ् श्लेषणे'दिवादिरात्मनेपदी च । निपूर्वाद्-सात्कर्तरि लट् ॥ २६ ॥

सदर्घ्यमर्हन्ति सदार्हणार्हा इतीव बुद्ध्वा कुटजैर्विदग्धैः ।
श्रीतीर्थनाथार्चनचारुहेतुं वितत्य पुष्पश्रियमाशु तस्थे ॥ २७॥

अर्हणां पूजामर्हन्तीति अर्हणार्हाः पूजायोग्याः पुमांसः सदा निरन्तरं सत्समीचीनमर्घ्यं पूजाविधियोग्यपुष्पादिद्रव्यमर्हन्ति । तदुपादानाय योग्या भवन्तीत्यर्थ इति एतत्माशुक्तं बुद्ध्वा इव ज्ञात्वा इव विदग्धैः विचक्षणैः कुटजैस्तरुविशेषैः श्रिया लक्ष्म्या निरुपमोत्तमकेवलज्ञानादिलक्षणया युक्तस्य तीर्थनाथस्य वीरप्रभोरर्चने पूजने चारुः शोभनो हेतुः कारणं तथाभूतं पुष्पश्रियं कुसुमलक्ष्मीमाशु शीघ्रं वितत्य विस्तार्य तस्थे स्थीयते स्म । अर्घ्यमिति । 'मूल्ये पूजाविधौ चार्थे' इत्यमरः । अर्घाय पूजाविधये इदमर्घ्यं 'पादार्घाभ्यां च' (५।४।२५) इति यत् । अर्हन्तीति । 'अर्ह पूजायां' कर्तरि लट् । अर्हणेति । 'पूजार्हणा सपर्याऽर्चा' इति हैमः । कुटजैरिति । 'कुटजो गिरिमल्लिका' इति च । श्रीतीर्थेत्यादि । उत्तरपदलोपी समासः । अत्र हेतुशब्दो नित्यपुंल्लिङ्गः । वितत्येति । विपूर्वात्तनोतेः पूर्वकाले क्त्वा तस्य ल्यबादेशो 'वा ल्यपि' (६।४।३८) इत्यनुनासिकलोपः । तस्थे इति । स्थाधातोर्भावे लिट् ॥ २७ ॥

घनच्छटाच्छोटनतो घनोद्यद्वर्षासु हर्षेण यथोज्जजृम्भे ।
श्रीवीरनाथागमजातहर्षैस्तथा पुपुष्पे तरुभिः शिलीन्ध्रैः ॥ २८॥

घनेन घनवृष्ट्या उद्यन्त्य उद्गच्छन्त्यः प्रादुर्भवन्त्यो या वर्षास्तासु घना निविडा याश्छटास्तासामाच्छोटनत आच्छोटनात् शिलीन्ध्रैः शिलन्ध्राभिधानैस्तरुभिर्वृक्षैर्हर्षेण प्रमोदेन यथा उज्जजृम्भे विकसितं तथा

तेनैव प्रकारेण श्रीवीरनाथस्यागमेन आगमनेन जात उत्पन्नो हर्षो येषां तैस्तथाविधैः सद्भिः शिलीन्ध्रवृक्षैः पुष्पे पुष्पितम् । इदमत्र तात्पर्यम्— यथा किल वर्षाकाले सान्द्रजीमूतच्छटासंस्पर्शादुत्पन्नप्रमोदाः शिलीन्ध्रा विकस्वरा बभूवुस्तथैवेदानीमपि श्रीवीरेश्वरागमनसमुद्भूतहर्षास्ते चारुतरपुष्पसम्भारभाजो जाता इति । घनेति । 'निविडं तु निरन्तरं, निबिरीसं घनं सान्द्रं' इति हैमः । घनोघदित्यादि । अयं घनशब्दो मेघपर्यायः । 'इण् गतौ' अदादिस्तत्पूर्वादस्माल्लटः 'उगितश्च' (४।१।६) इति ङीप्, 'पुंवत्कर्मधारय–' (६।३।४२) इति पुंवद्भावाद् ङीपो निवृत्तिः, 'वर्षास्तपात्ययः प्रावृट्' इति हैमः । ऋतुविशेषवचनोऽयं वर्षाशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः स्त्रीलिङ्गश्च बोध्यः । यस्तु वृष्टिवाचको वर्ष(र्षा)शब्दस्स त्वत्र न ग्राह्यः, तस्य पुंस्त्रीयलिङ्गत्वाद्बहुवचनान्तत्वानियमाच्च । जजृम्भे इति । जृम्भतेर्भावे लिट् । पुपुष्पे इति । 'पुष्प विकासने' अस्माद्भावे लिट् ॥ २८ ॥

इति वर्षाऋतुवर्णनम् ॥ ३ ॥

संप्रति चतुर्भिः शरदृतुं वर्णयति—

कुत्रापि सान्द्रद्रुमजालगर्भे सरो विरेजे विमलाम्बुगर्भम् ।
वृतान्धकारेण सुखैकभूमिः समुच्चिता शारदकौमुदीव ॥ २९ ॥

कुत्रापि सान्द्रा घना ये द्रुमा वृक्षास्तेषां जालं समूहस्तस्य गर्भो मध्यप्रदेशस्तस्मिन् निविडतरुवृन्दमध्यदेशे इत्यर्थः, विमलं वर्षापगमेन कर्दमाभावान्निर्मलं यदम्बु पानीयं तद्गर्भे मध्ये यस्य तत्तथाविधं सरस्तडागो विरेजे शुशुभे सरः । केन ? अन्धकारेण पार्श्ववर्त्तिकुञ्ज्यादितमसावृता वेष्टिता तथा सुखस्यैकाऽद्वितीया भूमिः सुखैकभूमिस्तथा पुनः समुच्चिता एकीभूता ईदृशी शारदकौमुदी इव शर-

द्धवचन्द्रज्योत्स्ना इव यथैवंविधा शारदकौमुदी विराजते तथा तदित्यर्थः । जालेत्यादि । 'जालं निवहसंचयौ' इति हैमः । 'गर्भः कुक्षौ शिशौ सन्धौ भ्रूणे पनसकण्टके । मध्येऽग्न्यपवरके' इत्यनेकार्थः । विरेजे इति । विपूर्वाद्राजतेः कर्त्तरि लिट् । धृतेति । धृञः कर्मणि क्तः, 'श्र्युकः किति' (७।२।११) इति नेट् । शारदकौमुदीति । शरदि घनात्यये भवा शारदी 'तत्र भवः' (४।३।५३) इत्यण्, 'टिड्ढा–' (४।१।१५) इति ङीप्, सा चासौ कौमुदी चेति विग्रहः । 'शरद्घनात्यये' इति हैमः । 'चन्द्रातपः कौमुदी च ज्योत्स्ना' इति च हैमः । 'नन्वत्र भिन्नलिङ्गयोः कौमुदीसरसीरुपमानोपमेयत्वेनोपादानमयुक्तमिति चेत्', मैवं, उपमानोपमेययोर्भिन्नलिङ्गत्वं न दोषाय बहुभिर्महाकविभिरादृतत्वात् उक्तं च–'लिङ्गसंख्याविभेदेऽपि विशेषणविशेष्यताविभक्तिः पुनरेकैव विशेषणविशेष्ययोरिति' । यथा विशेषणविशेष्ययोस्तथोपमानोपमेययोरपि बोध्यम् ॥ २९ ॥

चन्द्रातपे मूर्च्छितचन्द्रपादैर्दीप्रोदबिन्दून्नलिनीदलेषु ।
इह प्रमत्ता जगलुः सलीलं मुक्ताफलभ्रान्तिमिता मरालाः ॥३०॥

इहास्मिन् ऋतौ प्रमत्ताः प्रकृष्टमदोपेता अत एव मुक्ताफलानां भ्रान्तिं भ्रममिताः प्राप्ताः मराला हंसपक्षिणश्चन्द्रातपे चन्द्रज्योत्स्नायां नलिनीनां कमलिनीनां यानि दलानि पत्राणि तेषु मूर्च्छिता वृद्धिं प्राप्ता ये चन्द्रपादाश्चन्द्रकिरणास्तैर्दीप्रा दीप्तिमन्तो ये उदबिन्दवो जलकणास्तान् सलीलं लीलासहितं यथा स्यात्तथा जगलुर्गलन्ति स्म, भक्षयामासुरिति यावत् । अयमर्थः–शरत्काले हि चन्द्रवत्यां रजन्यां चन्द्रकिरणैर्दीप्तिमन्तो नलिनीदलस्था जलकणा मत्तैर्मरालैर्मुक्ताफलभ्रान्त्या भक्षिता इति । चन्द्रातपे इति । 'चन्द्रातपः कौमुदी च

ज्योत्स्ना' इति हैमः। मूर्च्छितेत्यादि। 'मुर्च्छा मोहसमुच्छ्राययोः' अस्मात्कर्त्तरि क्तः, 'पाद-दीधिति-कर-द्युति-द्युत' इति हैमः। दीप्रेत्यादि। 'दीपी दीप्तौ' 'नमिकंपिस्मि–' (३।२।१६७) इति रक्, उदकस्य बिन्दव उदबिन्दवः, अत्र 'मन्थौदनसक्तुबिन्दुवज्र–' (६।३।६०) इति उदकस्योदादेशः। जगलुरिति। 'गल अदने' अस्माल्लिट्, इत्ता इति इणः कर्त्तरि क्तः॥ ३०॥

परस्परालिङ्गितमातुलिङ्गा दूरादमेदं प्रतिदर्शयन्तः।
परस्परप्रत्युपदावदातं साधर्मिकस्नेहमिव प्रपन्नाः॥ ३१॥

परस्परालिङ्गितमातुलिङ्गा अन्योऽन्यानालिङ्ग्य स्थिता बीजपूरकतरवो जनान् दूरात् दूरदेशादमेदमभिन्नत्वं प्रतिदर्शयन्तः सन्तः। परस्परेभ्यो चतुर्थीबहुवचनम्, अन्योऽन्येभ्यः प्रति आभिमुख्येन या उपदा प्राभृतं सद्वस्तुढौकनमिति यावत्। तयाऽवदातं निर्मलं मनोज्ञं वा साधर्मिकस्नेहं समानधर्मधारकजनप्रीतिं प्रपन्ना इव प्राप्नुवन्ति स्मेवे-त्युत्प्रेक्षा। परस्परेत्यादि। परस्परैरन्योऽन्यैरालिङ्गिताः संश्लिष्टाः पर-स्परालिङ्गितास्ते च ते मातुलिङ्गाश्चेति विशेषणसमासः। 'मातुलिङ्गो बीजपूर' इति हैमः। दर्शयन्त इति। हेतुमण्णिजन्ताद् दृशेर्लटः शतृ, अत्र जनानिति द्वितीयं कर्मपदमध्याहार्यम्। प्रत्युपदेत्यादि। प्रतिशब्दोऽत्राभिमुख्यवचनः, उक्तं च 'व्याप्त्याभिमुख्ययोर्व्याप्तौ चारणे प्रतिरुच्यते' इति। उपदानमुपदा उपपूर्वाद्दाञ्, 'आतश्चोप-सर्गे' (३।१।१३६) इति स्त्रियामङ्, 'उपदा प्राभृतं प्रोक्तमुपग्राह्य-मुपायनं' इति हलायुधः। 'अवदातं तु विमले मनोज्ञे सितपीतयोः' इति हैमः। साधर्मिकेति। समानो धर्मः सधर्मस्तं चरन्तीति साध-र्मिकास्तेषां स्नेहस्तं 'धर्मं चरति' (४।४।४१) इत्यनेन ठक्। प्रपन्ना इति। 'पद गतौ' दिवादिरात्मात् प्रपूर्वादस्मात्कर्त्तरि क्तः॥ ३१॥

नगानुपङ्गात्तु वितानिताङ्गा वल्लीः समुल्लासवतीः समीक्ष्य ।
संयोगमिष्टैः सकलार्थसारं विलासिलोकोऽत्र विदाञ्चकार ॥ ३२॥

अत्रास्मिन् ऋतौ विलासिलोको भोगिजनो नगानां वृक्षाणां नगैः सह योऽनुपङ्गः सम्पर्कः सङ्गम इति यावत्, तस्मात् वितानं विस्तारो जातमस्येति वितानितं तथाविधमङ्गं शरीरं याऽऽसां ता वितानिताङ्गास्ता अत एव समुल्लासो विकाशोऽस्ति आसामिति समुल्लासवत्यस्ता एवंविधा वल्लीर्लताः समीक्ष्य दृष्ट्वा इष्टैर्वल्लभजनैः सह यः संयोगः संसर्गस्तं सकलार्थेषु समस्तवस्तुषु सारं तत्त्वभूतं विदाञ्चकार जानाति स्म । अयं भावः—तरुवल्लभसंसर्गात्प्राप्तसमुल्लासा लता निरीक्ष्य विलासिजन इत्यमतर्कयत्—'यदत्र संसारे इष्टसंयोगात्परं सारं किमपि नास्तीति' । अनुपङ्गात्त्विति । 'षञ्ज सङ्गे' अनुपूर्वः अस्माद्भावे घञ्, 'उपसर्गात् सुनोति०' (८।३।६५) इत्यादिना षत्वं, च 'चोः कुः' (८।२।३०) इति कुत्वं, तुशब्दः पादपूरणे पुनरर्थे वा । वितानितेत्यादि । वितानं कदके यज्ञे विस्तारे क्रतुकर्मणि' इत्यनेकार्थः । 'तदस्य सञ्जातं' (५।२।३६) इति तारकादित्वात् इतच् । समीक्ष्येति । संपूर्वादीक्षतेः क्त्वा तस्य ल्यप् । इष्टैरिति । सहार्थस्य गम्यमानत्वात् 'सहयुक्तेऽप्रधाने' (२।३।१९) इति तृतीया । 'वृद्धो यूना' (१।२।६५) इति निर्देशात् । विलासीति । विलसति तच्छीलः 'लस् संश्लेषणादौ' 'वीकपलस—' (३।२।१४३), इति घिनुण् । ततो लोकशब्देन कर्मधारयः । विदामिति । 'विद ज्ञाने' 'उपविद—' (३।१।३८) इत्याम्, विदेत्यकारान्तनिपातनात् लघुपधगुणः (?) ॥ ३२ ॥

इति शरद्वर्णनम् ॥ ४ ॥

साम्प्रतं त्रिभिर्हेमन्तं वर्णयति—

यथा रसो व्यापिपरद्धिमर्चौ
पुण्ड्रेक्षुकाण्डेषु तदा तथैव ।
कालो जडश्चेत्सकलार्थसिद्ध्यै
क्षमो भवेत्किं न पतिस्त्रिलोक्याः ॥ ३३ ॥

यथा येन प्रकारेण हिमर्चौ हेमन्तकाले पुण्ड्राः पुण्ड्रजातीया ये इक्षवो रसालवृक्षास्तेषां काण्डेषु स्कन्धेषु रसो मधुरास्वादो व्यापिपरत् व्याप्तोऽभूत् परिणमति स्मेति यावत् । तथैव तेनैव प्रकारेण तदा तस्मिन् काले प्रभोरागमनसमयेऽपीत्यर्थः । इक्षुकाण्डेषु रसो व्यापिपरत् इत्यावृत्त्या योज्यम् । 'ननु कालद्रव्यस्याऽजीवत्वेन जडरूपत्वात्कथमीदृग्विधानसामर्थ्यं सङ्घाघटीति' इत्याशङ्क्याह—काल इत्यादि । चेद्यदि कालोऽनेहा जडोऽचेतनस्तथाविधकार्यकरणेऽक्षमोऽस्तीत्यर्थः । तथापि त्रिलोक्याः पतिस्त्रैलोक्येश्वरो जिनः सकलार्थसिद्ध्यै समस्तकार्यसिद्ध्यै किं न क्षमो न समर्थो भवेत्, अपि तु भवेदेवेत्यर्थः । एतेन भगवदतिशयादेवैकस्मिन् काले सर्वर्तुप्रादुर्भावो न त्वन्यस्य कस्यापि प्रभावादित्यावेदितम् । व्यापिपरदिति । 'पृ पालनादौ' दीर्घान्तो जौहोत्यादिकश्च व्याङ्पूर्वादस्मात्कर्त्तरि लङ् । ततो द्वित्वादौ कृते 'ऋमोर्दिसोर्वा' इत्यडागमः, यद्यपि पाणिनीयादौ एतत्सूत्राभावाद् व्यापिपरित्येवं रूपं दृश्यते तथापि सारस्वतादावेतत्सद्भावान्न दोषः । हिमर्त्ताविति । हिमं प्रधानं यत्र स हिमप्रधानः, स चाऽसौ ऋतुश्च हिमर्तुस्तस्मिन् शाकपार्थिवादित्वान्मध्यपदलोपः । पुण्ड्रेति ।

१ वेंकटेश्वरमुद्रणालयप्रकाशिते माधवविवरणोपेते सारस्वतव्याकरणे २४२ तमपृष्ठे नवमपङ्क्तौ वार्तिकरूपेण दृश्यते.

'भेदाः कान्तारपुण्ड्राद्यास्तस्य' इति हैमः । कान्तार १ पुण्ड्र २ इत्यादयस्तस्येक्षोर्भेदाः सन्तीति तदर्थः । काण्डेष्विति । 'काण्डो नालेऽधमे वर्गे द्रुस्कन्धेऽवसरे शरे' इत्यनेकार्थः । सकलेत्यादि । सकलाश्च तेऽर्थाश्च सकलार्थास्तेषां सिद्धिर्निष्पत्तिस्तस्यै अलमर्थकस्य क्षमपदस्य योगे 'नमःस्वस्ति–' (२।३।१६) इत्यादिना चतुर्थी । त्रिलोक्या इति । त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रिलोकी, तस्याः 'तद्धितार्थ–' (२।१।५१) इत्यादिना समाहारे द्विगुः । 'द्विगोः' (४।१।२१) इति ङीप् ॥ ३३ ॥

प्राक्कुड्मलेषु प्रसवेषु पश्चा-
जनानुरागेण ततः फलेषु ।
दध्रे पदं दाडिमपादपानां
यत् सुन्दराणां न हि सुन्दरं किम् ॥ ३४ ॥

जनानां लोकानामनुरागोऽनुरतिस्तेन कर्तृभूतेन प्राक् पूर्वं दाडिमपादपानां दाडिमवृक्षाणां कुड्मलेषु मुकुलेषु ईषद्विकसितकलिकासु इति यावत्, पदं स्थानं दध्रे धृतं, पश्चात् प्रसवेषु तेषामेव पुष्पेषु पदं दध्रे । ततस्तदनन्तरं तेषां फलेषु पदं दध्रे । अयमर्थः—पुष्पफलोत्पत्तेः पूर्वं(हि)दाडिमानां मुकुलेष्वेव जनानामनुरागः समाजनिष्ट ततः पुष्पोत्पत्तौ सत्यां तत्रानुरागोऽभूत् तदनु फलप्रादुर्भावे तत्रैव जनानुरक्तता जातेति । एतदेव द्रढयति—यत् यस्मात्कारणात् सुन्दराणां शोभनानां किमप्यवयवादि सुन्दरं न हि भवेत् सर्वमपि सुन्दरमेव स्यादित्यर्थः । इदमत्र तात्पर्यम्—'यतो दाडिमवृक्षाः स्वयमेव शोभनास्ततो मुकुलाद्यास्तदवयवास्तु शोभनाः स्युरेव अथ शोभनत्वाच्च सर्वत्र सर्वावयवेषु जनानुरागो पतत' एवेति । कुड्मलेष्विति । कुड्मलो मुकुलोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । अन्वित्यादि । 'रागोऽनुरागो रतिः' इति

हैमः । दध्रे इति । धृञः कर्मणि लिट् । पदमिति । 'पदं स्थाने विभक्त्यन्ते शब्दे वाक्येऽङ्कवस्तुनोः' इत्यनेकार्थः ॥ ३४ ॥

विनाऽपि कालं यदहो कुवल्यः पुष्पैर्दलैः सान्द्रतरा बभूवुः ।
तद्दैवतैर्देवपतेः प्रभावो व्यक्तीकृतो भक्तिपरैः पुरैव ॥ ३५ ॥

अहो इति आमन्त्रणे, भो लोकाः ! कुवल्यो बदर्यः कालं विनाऽपि पुष्पाद्युत्पत्तिसमयमन्तरेणापि यत्पुष्पैः कुसुमैर्दलैः पत्रैश्च सान्द्रतरा अतिनिबिडा बभूवुस्तद्भक्तिपरैः सेवातत्परैर्दैवतैः सुरैः पुरैव प्रभोरागमनात् प्रागेव देवपतेर्वीरप्रभोः प्रभावो माहात्म्यं व्यक्तीकृतः प्रकटितोऽभूदित्यर्थः । कुवल्य इति । 'कर्कन्धुः कुवली कोलिर्बदरी' इति हैमः । सान्द्रेत्यादि । अतिशयेन सान्द्राः 'अतिशयेऽर्थे तरप्' । दैवतैरिति । देवता एव दैवतं, 'प्रज्ञादित्वात् स्वार्थेऽण्' पुंक्लीबलिङ्गोऽयम् । देवेत्यादि । देवानां चतुर्विधसुराणां ब्रह्मविष्णुमहेशादीनां वा ज्ञानादिपरमातिशयसम्पन्नत्वात्पतिरधिपतिर्देवपतिस्तस्य । व्यक्तीत्यादि । अव्यक्तो व्यक्तः सम्पद्यते तथाकृतो व्यक्तीकृतः 'कृभ्वस्ति–' (५।४।५०) इत्यादिना च्विप्रत्ययेऽस्य 'च्वौ' (६।३।१३८) ईतीकारः । भक्तीत्यादि । भक्तौ परा भक्तिपरास्तैः भक्तिरेव परा श्रेष्ठा येषां तैरिति वा । पुरेति । आदन्तमव्ययमिदं 'प्राक् पुरा प्रथमे' इति हैमः ॥ ३५ ॥

इति हेमन्तवर्णनम् ॥ ५ ॥

अथैकेन शिशिरं वर्णयति—

मुस्तादुरूपैर्वदरैर्लुलन्त्यो यतो बदर्यो भुवमाससञ्जुः ।
नयोगिनां चापि विलासिपुंसामासीद्रहोभूमिरिहाऽऽश्रितानाम् ॥

इहास्मिन् ऋतौ सुस्वादुरूपैः सुस्वादुभिः सुरूपैश्च बदरैर्निजफलैर्लुलन्त्यो नम्रीभवन्त्यो बदर्यः कुवलीवृक्षा यतो यस्मात्कारणाद्भुवं पृथ्वीमाससञ्जुरालिलिङ्गुः, तस्मादेतोः आश्रितानाम्—एनां भुवमाश्रित्य स्थितानाम्, योगिनां योगवतां नराणां, च पुनर्विलासिपुंसां भोगिमनुष्याणामपि रहोभूमिरेकान्तस्थानमासीद्‌भूव। रहोभूमिकाङ्क्षिणो हि योगिनो वा भोगिनो वा भवन्तीत्यतस्तेषामेव ग्रहणम्। सुस्वादुरूपैरिति। स्वादु मधुरो रसः, रूपं वर्णं आकृतिर्वा, स्वादु च रूपं च स्वादुरूपे शोभने स्वादुरूपे येषां तानि तैः। बदरैरिति। बदर्याः फलानि बदराणि तैः, अनुदात्तादित्वादञ् 'फले लुक्' (४।३।१६३) इति लुक्, 'लुक्तद्धित—' (१।२।४९) इति ङीपो लुक्। आससञ्जुरिति। 'षञ्ज सङ्गे' आङ्पूर्वादस्मात्कर्तरि लिट्। योगिनामिति। 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः', सोऽस्त्येषामिति मत्वर्थे इनिः। विलासीत्यादि। विलासिनश्च ते पुमांसश्च तेषाम्। रह इत्यादि। रहश्चासौ भूमिश्चेति विग्रहः। रह इति सान्तमव्ययमनव्ययं च। 'रहो गुह्ये रते तत्त्वे' इति हैमः। गुह्ये एकान्ते इत्यर्थः॥ ३६॥

इति शिशिरवर्णनम्॥ ६॥

अथ लेशतः सर्वर्तुसाधारणवर्णनमाह—

दलान्यपीभ्ये खलु दुर्लभानि
येषामगानां सुमनःफलं ते।
स्वर्तोविवात्यन्तविलोकनीया
भूता अहो भागवतोऽनुभावः॥ ३७॥

येषामगानां वृक्षाणां इभ्ये वसन्ते दलानि पत्राण्यपि दुर्लभानि अभूवन्निति शेषपुष्पफलादिकं [illegible] दूरे तिष्ठतु दलान्यपि नासन्निति

अपिशब्दार्थः, ते वृक्षाः स्वसात्मनो यः ऋतुस्तस्मिन्निव सुमनःफलैः पुष्पफलैरत्यन्तविलोकनीया अत्यन्तं यथा स्यात्तथा निरीक्षणीया भूता अभूवन् । यथा स्वर्तौ अतिरम्या भवन्ति तथेदानीं अभूता इत्यर्थः । अत्रोपपत्तिमाह—'अहो इत्याश्चर्ये' भगवतोऽयं भागवतः भगवत्सम्बन्धी अनुभावः प्रभावो विलोक्यतामिति शेषः, यद्धाना एवंविधास्तरवो जातास्तत्र प्रभोरतिशय एव कारणं नत्वन्यत् किमपीति भावः । इष्ये इति । 'वसन्त इष्यः सुरभिः' इति हैमः । खल्विति । इदं वाक्यालङ्कारे निश्चये वा, दुर्लभानीति दुःखेन लभ्यन्ते इति 'ईषद् दुःसुषु' (३।३।१२६) इति खल् । 'उपसर्गात्' (७।१।६७) इति नियमान्नुम्भावः । सुमन इत्यादि । सुमनसश्च फलानि च तैः । भागवत इति । 'तस्येदम्' (४।३।१२०) इत्यण् ॥ २७ ॥

अथ सामान्यतो वनं वर्णयति—

पुष्पैः फलैर्वा युगपत्समिद्धे नीरन्ध्रनीलद्रुमकाननेऽस्मिन् ।
पतत्रिणस्तारविराववन्तो वत्स्यच्छुभोदर्कमिवाऽचिकीर्तन् ॥३८॥

पुष्पैर्वा पुनः फलैर्युगपत्समकालं समिद्धे व्याप्ते शोभिते वाऽस्मिन् नीरन्ध्राणां सान्द्राणां नीलानां नीलवर्णानां द्रुमाणां वृक्षाणां कानने वने तार उच्चैस्स्वरो यो विरावो ध्वनिः स विद्यते एषामिति तथाविधाः पतत्रिणः पक्षिणः कोकिलाद्याः वत्स्यन् प्रवर्तिष्यमाणः शुभः प्रशस्तो य उदर्क आगामिकालोद्भवं फलं तमचिकीर्तन्निव कथयामासुरिवेत्युत्प्रेक्षा । उत्तरकाले हि अत्र शुभप्रवृत्तिर्भविष्यतीत्याहूचुरिवेति भावः । समिद्धे इति । 'ञिइन्धी दीप्तौ' संपूर्वादस्मात्कर्तरि क्तः, ईदित्त्वान्नेट् । नीरन्ध्रेति । 'निबिरीसं घनं सान्द्रं नीरन्ध्रं' इति हैमः । पतत्रिण इति । पतत्राणि तनूरुहाणि सन्त्येषामिति मत्वर्थे

ध्वनिः । तारेति । 'तारोऽत्युच्चैर्ध्वनिः' इति हैमः । वर्त्स्यदित्यादि । 'वृतु वर्तने' आत्मनेपदी 'वृद्भ्यः स्यसनोः' (१।३।९२) इति परस्मैपदं, 'न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः' (७।२।५९) इतीडभावः, शुभमस्त्यस्मिन्निति शुभः अर्शआदित्वादच्, 'उदर्कस्तद्भवं फलं' इति हैमः । उत्तरकालोद्भवमित्यर्थः । अचिकीर्तयन्निति । 'कृत संशब्दने' चुरादिः लुङ् । 'उपधायाश्च' (७।१।१०१) इति 'ॠत इद्–' (७।१।१००) इति रपरत्वम् ॥ ३८ ॥

विभ्राजमानाऽभ्रघटेव दूराच्छ्यामलाभं विपिनं चभासे ।
मेरोरिवाऽऽनीय धृतं धरित्र्यामैन्द्रं वनं भक्तिभृतैरमर्त्त्यैः ॥३९॥

दूराद्दूरप्रदेशात् श्यामला आभा प्रभा यस्य तत्तथाविधं तत् प्राग्व्यावर्णितस्वरूपं विपिनं महसेनाख्यं वनं विभ्राजमाना दीप्यमानाऽभ्रघटा इव मेघघटा इव चभासे शुशुभे । यथा दूरात् श्यामलाभा घनघटा शोभते तथेदमित्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—किमिव ? भक्तियुक्तैरमर्त्यैर्देवैर्मेरोः कनकाचलात् आनीय धरित्र्यां पृथिव्यां धृतं स्थापितं ऐन्द्रं इन्द्रसंबन्धि वनमिव-नन्दनाख्यं काननमिव इदं महसेनषण्डं भवति(भाति?), किंतु(?) भक्तैः सुरैर्मेरोः सकाशादिहानीतं नन्दनं वनमेवास्तीति उत्प्रेक्ष्यते इति भावः । अभ्रेति । 'अभ्रं मेघो वारिवाहः' इत्यमरः । श्यामलेति । 'साद्रामः श्यामलः श्यामः' इति हैमः । विपिनमिति । 'अटव्यरण्यं विपिनं गहनं काननं वनं' इत्यमरः । चभासे इति । 'भासृ दीप्तौ' कर्तरि लिट् । आनीयेति । आङ् पूर्वान्नयतेः पूर्वकाले क्त्वा तस्य ल्यप्, धृतमिति धृञः कर्मणि क्तः । ऐन्द्रमिति । इन्द्रस्येदमित्यर्थे 'तस्येदम्' (४।३।१२०) इत्यण् । भक्तीत्यादि । भक्तया भृताः पूरितास्तैः । अमर्त्यैरिति । 'अमर्त्या अमृतान्धसः' इत्यमरः ॥३९॥

छायाभरेणोच्छ्रितभूरुहाणां बभार सा भूरपि मेचकाभाम् ।
त्रैलोक्यनाथक्रमधारणाय स्तृतेव गारुत्मतशक्रनीलैः ॥ ४० ॥

यत्र भुवि महसेनपण्डं वर्त्तते सा भूरपि पृथ्वी अपि उच्छ्रित-भूरुहाणामुन्नतवृक्षाणां छायाभरेण छायासमूहेन मेचकाभां कृष्णप्रभां बभार धारयामास । अत्रोत्प्रेक्षते—त्रैलोक्यनाथस्य वीरप्रभोः क्रमयोश्चरणयोर्धारणाय विन्यासाय गारुत्मतशक्रनीलैः मरकतेन्द्रनीलमणिभिः स्तृता इव आच्छादिता इव, यतो मरकतादिभिरास्तृताऽपि भूमिर्मेचकाऽऽभां बिभर्त्ति । **बभारेति ।** भृञः कर्त्तरि लिट् । **मेचकेति ।** 'कृष्णस्तु मेचकः' इति हैमः । मेचका चासौ आभा चेति विग्रहः । **त्रैलोक्येत्यादि ।** त्रयश्च ते लोकाश्च त्रिलोकास्त एव त्रैलोक्यं, 'स्वार्थे ष्यः' । 'पदोऽङ्घ्रिश्चलनः क्रमः' इति हैमः । अत्र तादर्थ्ये चतुर्थी । **स्तृतेति ।** स्तृञः कर्मणि क्तः । **गारुत्मतेत्यादि ।** गारुत्मतानि च शक्रनीलाश्च तैः 'मरकतं त्वश्मगर्भं गारुत्मतं हरिन्मणिः' इति, 'नीलमणिस्त्विन्द्रनीलः' इति च हैमः ॥ ४० ॥

अथोपसंहरति—

इत्थं तत्फलकुसुमच्छदाभिरामं
तत्कर्माधिकृतकृती जिनेन्द्रभक्तः ।
स्वाऽस्वमैः सह महसेनयक्षराजः
स्वं पण्डं लघु परिमण्डयाञ्चकार ॥ ४१ ॥

तस्मिन् कर्मणि वनसंस्कारक्रियायां येऽधिकृता अधिकारिणो देवास्तेषु कृती विचक्षणस्तथा जिनेन्द्रस्य वीरप्रभोर्भक्तः सेवकः एवंविधो महसेनयक्षराजो महसेननामा यक्षाधिपतिः स्वस्याऽऽत्मनो येऽस्वमाः सेवकमाया व्यन्तरदेवास्तैः सह फलकुसुमच्छदाभिरामं फलपुष्पपत्रै

रमणीयं तत् प्रागुक्तस्वरूपं समासीयं षण्डं काननमित्थमुक्तप्रकारेण लघु शीघ्रं परिमण्डयाञ्चकार समन्तात् शोभितं चक्रे । फलेत्यादि । फलानि च कुसुमानि च छदानि च फलकुसुमच्छदानि तैरभिरामं रम्यं 'बर्हं पर्णं छदं दलम्' इति हैमः । अस्रमैरिति । 'सहयुक्ते–' (२।३।१९) इति तृतीया । 'गीर्वाणा मरुतोऽस्वप्ना' इति हैमः । महसेनेत्यादि । यक्षाणां राजा यक्षराजः 'राजाहःसखिभ्यः–' (५।४।९१) इति टच् । महसेनश्चासौ यक्षराजश्चेति कर्मधारयः । लघ्विति । 'शीघ्रं क्षिप्रं द्रुतं लघु' इति हैमः । परिमण्डयामिति । 'मडि भूषायां' चुरादिः 'कास्प्रत्ययात्–' (३।१।३५) इत्याम् । 'अयामन्त–' (६।४।५५) इति णेरयादेशः । इदं प्रहर्षिणीवृत्तम् । तल्लक्षणं च—'म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्' इति ॥ ४१ ॥

अथ कविः काव्यवर्णन(स्व)नामाख्यानपूर्वकं सर्गसमाप्तिं कथयति—

इति श्रीकविरूपचन्द्रविरचिते गौतमीये महाकाव्ये
महसेनवनवर्णनो नाम प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

इतिशब्दः परिसमाप्तौ, श्रीरूपचन्द्रेति कविनामकथनम्, गौतमीय इति काव्यनामकथनं, गौतममभिकृत्य कृतो ग्रन्थ इति गौतमीयं छप्रत्ययः । वर्णितं चात्र षड्ऋतुवर्णनद्वारा महसेनवनमिति, एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् ॥

इति यावनाचार्यक्षमाकल्याणगणिकृतायां गौतमीयप्रबन्धव्याख्यायां
गौतमीयप्रकाशाख्यायां प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयः सर्गः ।

अथ पवनकुमारनिर्जराणां हृदि जगदीश्वरभक्तिराविवेश ॥
रणरणकभृतां तया समेषां प्रतिमुखमाविरभूच्च भारतीयम् ॥१॥

जगत्त्रयाऽधीश्वरतां यदीयां जनेषु प्रख्यापयितुं किलोच्चैः ।
व्यधायि यत्प्रश्रयमाशु लेखैस्तमीश्वरं वीरजिनं प्रणौमि ॥ १ ॥

अथाऽनन्तरं पवनकुमारनिर्जराणां वायुकुमारदेवानां हृदि मानसे जगतामीश्वरो वीरप्रभुस्तस्य भक्ति उपास्तिः । आविवेश प्रवेशं कृतवान् । तया तया भक्त्या रणरणकभृतामौत्सुक्यं बिभ्रतां समेषां समस्तानां तेषां देवानां प्रतिमुखं मुखे मुखे इयं वक्ष्यमाणा भारती वाणी आविरभूत् प्रादुर्बभूव । चशब्दः समुच्चये । निर्जरेति । 'अमरा निर्जरा देवाः' इत्यमरः । आविवेशेति । 'विश प्रवेशने' कर्तरि लिट् । रणरणकेति । 'औत्सुक्यं रणरणकोत्कंठे' इति हैमः । रणरणकं बिभ्रतीति भृञः क्विप् । तेषामिति । समशब्दः सर्वपर्यायोऽत एव सर्वनामकार्यम् । प्रतिमुखमिति । मुखं मुखं प्रतीति विग्रहः । 'अव्ययं विभक्ति–' (२।१।६) इत्यादिना वीप्सायामव्ययीभावः । भारतीति । 'वाग्ब्राह्मी भारती गौर्गी'रिति हैमः । अस्मिन् सर्गे पुष्पिताग्रावृत्तं, तल्लक्षणं च–'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' इति ॥ १ ॥

कैवमित्याह—

कुरुत कुरुत रे रजोऽपनोदं
क्षिपत सुदूरमदःस्थलादमेध्यम् ।

समवसरणहेतुनाऽस्य भर्तु-
वितनुत योजनमाशु भूमिशुद्धिम् ॥ २ ॥

रे देवाः, अस्य भर्तुर्महावीरस्वामिनः समवसरणहेतुना समवसरणनिमित्तं रजसो धूलेरपनोदोऽभ्याहारस्तं कुरुत, तथाऽदःस्थलादेतत्स्थानादमेध्यमपवित्रं वस्तु सुतरामतिशयेन दूरं दूरप्रदेशे क्षिपत मुञ्चत। इत्थं च योजनं यावत् आशु शीघ्रं भूमिशुद्धिं वितनुत विस्तारयत। कुरुतेत्यादि। अत्र 'संभ्रमेण प्रवृत्तौ' (वा०) इत्यादिवचनाद्द्वित्वम्। स्थलादिति। अत्र दूरशब्दयोगे 'दूरान्तिकार्थैः' (२।३।३४) इति पञ्चमी ॥ २ ॥

द्रुततरमथ विक्रियाप्रसूतैर्भ्रमदनिलैर्वनभूतलादुदस्तः।
विकिरदवकरोऽपि योजनान्ते निपतित उन्नतवप्रतामवाप ॥३॥

अथेदृग्वाणीप्रादुर्भावानन्तरं विक्रियया वायुकुमारदेवकृतविकुर्वणया प्रसूतैरुत्पन्नैर्भ्रमद्भिरितस्ततः सञ्चरद्भिरनिलैर्वायुभिर्वनभूतलाद्वनभूमेः सकाशात् द्रुततरं शीघ्रतरं उदस्त उत्क्षिप्तः, उत्पाटित इति यावत्। अत एव विकिरन् प्रतिदिशं विक्षिपन् अवकरोऽपि अस्थिकाष्ठकण्टकादिकचवरोऽपि योजनान्ते चतुःक्रोशमान्ते निपतितः सन् उन्नतवप्रतां तुङ्गप्राकारतां अवाप प्राप्तवान् बाहुल्यादुच्चैस्तरप्राकार इवाभूदित्यर्थः। प्रसूतैरिति। सूतो कर्मकर्तृविवक्षया कर्तरि क्तः। अनिलैरिति। कर्तरि तृतीया। उदस्त इति। उत्पूर्वादस्यतेः कर्मणि क्तः। विकिरदित्यादि कर्मधारयः ॥ ३ ॥

विपिनपरिमृजापराः समीरास्तदवकरोपरि चिक्षिपू रजांसि।
भगवति भवतीह सन्निकृष्टे सरजस्ता तु कुतो न विप्रकृष्टा ॥४॥

विपिनपरिमृजायां वनप्रमार्जने परास्तत्पराः समीरा वायवस्तस्या-वक्रस्योपरि रजांसि धूलीश्चिक्षिपुः क्षिपन्ति स्म । युक्तोऽयमर्थः—'इहास्मिन् लोके भगवति श्रीमज्जिनेन्द्रे संनिकृष्टे समीपवर्तिनि भवति सति कुतः कस्मात् सरजसता मलिनता न विप्रकृष्टा न दूरीभूता?' । भगवत्सांनिध्यतो हि सर्वेभ्योऽपि मालिन्यं दूरीभवेदेवेत्यर्थः । विपिनेत्यादि । तत्पुरुषोऽयं, यद्वा विपिनस्य या परिमृजा शोधनं सा परा प्रधानीभूता येषामिति बहुव्रीहिः । 'कान्तारं विपिनं कक्षः स्यात् षण्डं काननं वन'मिति हैमः । परिमृजेत्यत्र भिदादित्वात्स्त्रियामङ् । ततश्चाप् भवतीति शत्रन्तात् सप्तमी । सरजसतेत्यादि । रजसा सह वर्तमानं सरजसमिति बहुव्रीहिः, ततस्तस्य भावस्तता । अत्र 'अचतुर-' (५।४।७७) इत्यादिना समासान्तोऽच्, ततस्तल् । 'ननु रजोऽप्यऽपरित्यज्येति सरजसमित्यव्ययीभावे एवाऽच्, बहुव्रीहौ तु सरजःपंकजमित्येवं इति शब्दशास्त्रोक्तेः कथमत्राऽच् इति चेत्'—सत्यं महाकविभिर्बहुव्रीहावपि प्रयुक्तत्वान्नाऽत्र दोषः । तथा च माघः—'सरजसमकरंदनिर्भरासु' (७।४२) इत्यादि । एवं 'सरजसतामवनेरपां निपात' इत्यादावपि बोध्यम् । तुरवधारणे, 'विप्रकृष्टपरे पुनः दूरे' इति हैमः ॥ ४ ॥

सपदि तदनुगाः प्रभूतभूता
ललनपरास्तुमुलक्रियाभियुक्ताः ।
इव खनकजना विभज्य मार्गे-
विषमतमामसृजन् समां धरित्रीम् ॥ ५ ॥

तत इत्यध्याहारात् तदनन्तरं ललनं क्रीडनं परं प्रधानं येषां ते तथाऽत एव तुमुलक्रियायां व्याकुलशब्दकरणेऽभियुक्ता उद्यता एवं-

विधास्तेषां वायुकुमारदेवानामऽनुगाः सेवकप्रायाः प्रभूता बहवो भूता भूतजातीया व्यन्तरदेवाः खनकजना इव भूमिखनकलोका इव विषमसमां निम्नोन्नतरूपेणाऽतिविषमां धरित्रीं भागैर्विभज्य विभागीकृत्य सपदि शीघ्रं समां समप्रदेशामऽसृजन् कुर्वन्ति स्म । ललनेति । 'देवनं कूर्दनं खेला ललनं वर्करोऽपि चे'ति हैमः । ललनपरा इत्यनेन हि तेषां स्वभावोक्तिः । 'तुमुलो व्याकुलो रवः' इति हैमः । असृजन्निति । सृजेस्तौदादिकात्कर्त्तरि लङ् ॥ ५ ॥

इति पवनकुमारदेवसङ्घे स्वकुलकृतौ कृतकृत्यतामवाप्ते ।
स्वपतिनयननोदनप्रणुन्नः स्तनिततडित्सुमनोव्रजः ससज्ज ॥ ६ ॥

इत्यमुना प्रकारेण पवनकुमारदेवानां सङ्घे समूहे स्वकुलस्य या कृतिः क्रिया तस्यां विषये कृतकृत्यतां अवाप्ते प्राप्ते सति स्वपत्योः स्वस्वामिनोर्यां नयननोदना नेत्रप्रेरणा तया, प्रणुन्नः प्रेरितो यद्वा स्वपतिभ्यां नयननोदनया प्रणुन्नः प्रेरितः सन्, स्तनिताः स्तनितकुमारास्तडितो विद्युत्कुमारा ये सुमनसो देवास्तेषां व्रजः समूहः ससज्ज स्वोचितक्रियां विधातुं सज्जो बभूवेत्यर्थः । कृतेत्यादि । कृतानि कृत्यानि कार्याणि येन स कृतकृत्यस्तस्य भावस्तत्ता ताम् । प्रणुन्न इति । 'नुदविदोद–' (८।२।५६) इत्यादिना क्तस्य वैकल्पिकं नत्वम् । स्तनितेत्यादि । द्वन्द्वाऽनन्तरकर्मधारयगर्भस्तत्पुरुषः 'वृन्दारकाः सुमनसस्त्रिदशा अमर्त्त्या' इति हैमः । ससज्जेति । 'षस्ज गतौ' भौवादिकस्ततः कर्त्तरि लिट् ॥ ६ ॥

कथमित्याह—

सिततनुजलभृद्विकुर्वणाभिर्दिवममरा धुरि चक्रुरभ्रलिप्तीम् ।
वदनु सलिलसङ्क्रमाभिरामं मृदुमुदिरं द्रुतमादधा विचक्रुः ॥७॥

अमराः स्तनितकुमारादयो देवा धुरि आदौ सिता श्वेता तनुः शरीरं येषां ते सिततनवः एवंविधा ये जलभृतो मेघास्तेषां विकुर्वणाभिः रचनाभिर्दिवमाकाशं अभ्रलिप्तीमऽस्पाऽभ्रपटलयुक्तां चक्रुः कुर्वन्ति स्म, तदनु ततः पश्चात् ते देवाः आदृता आदरयुक्ताः सन्तो द्रुतं शीघ्रं सलिलस्य पानीयस्य सङ्क्रमः सङ्क्रमणं तेन अभिरामं मनोहरं मृदुः कोमलो यो मुदिरो मेघस्तं विचक्रुः विकुर्वंति स्म । दिवमिति । 'दिव्शब्दः' स्त्रीलिङ्गः । अभ्रेत्यादि । अल्पैरभ्रैर्लिप्तेति विग्रहे 'क्तादल्पाख्यायाम्' (४।१।५१) इति ङीप् । मुदिरमिति । 'नभ्राट् तडित्वान् मुदिरो घनाघनः' इति हैमः ॥ ७ ॥

ततः किं संजातमित्याह—

मधुरमतितरां जगर्ज नभ्राडभिमुखगुञ्जनवायुघट्टनेन ।
उपलयुगलवत्समीरघर्षाचतसृषु दिक्षु विदिद्युते च विद्युत् ॥८॥

नभ्राट् मेघः अभिमुखं सम्मुखं गुञ्जनं यस्य तादृशो यो वायुस्तस्य घट्टनं सङ्घट्टस्तेन अतितरामतिशयेन मधुरं यथा स्यात्तथा जगर्ज गर्जति स्म । च पुनश्चतसृषु दिक्षु विद्युत् उपलयुगलवत् पाषाणद्वयमिव समीरघर्षाद् वायुसंसर्गाद् विदिद्युते द्योतते स्म । यथा पाषाणद्वयं परस्परघर्षणाद् द्योतते तथेत्यर्थः । विदिद्युते इति । 'द्युत दीप्तौ' कर्तरि लिट् । 'द्युतिस्वाप्योः' (७।४।६७) इति संप्रसारणम् ॥ ८ ॥

तदनु तणतणायमानमेघोऽप्यविरलजालमसुस्रुवज्जलानाम् ।
उपशमभृदिवोदितं कषायं प्रसमरमाशु रजो निनाय शान्तिम् ॥९॥

तदनु ततः पश्चात् तणतणायमानस्तणतणच्छब्दं कुर्वाणो मेघोऽपि जलानामविरलजालं निबिडसमूहमसुस्रुवत् स्रवति स्म । अत एव स

मेघः जलवर्षणादेव प्रसमरं विस्तरणशीलं रजो धूलीं आशु शीघ्रं शान्तिमुपशमं निनाय प्रापयति स्म । कः कमिव । उपशमं बिभर्तीति उपशमभृत् उपशमी साधुः कुतोऽपि कारणात् उदितमुदयं प्राप्तं कषायं क्रोधादिकमिव । यथाऽसौ तं सद्य उपशमयति तथेत्यर्थः । तणतणेत्यादि । तणत्तण(त्)भवतीति तणतणाभवति 'अव्यक्तानुकरणा' (५।४।५७) इति तणच्छब्दात् डाच्, ततो द्वित्वे कृते पूर्वपरयोर्वर्णयोः पररूपं तकारस्तत्टिलोपः, तणतणाभवतीति तणतणायते २ तणतणायमानः 'लोहितादिडाज्भ्यः—' (३।१।१३) इत्यनेन डाजन्ताद्भवत्यर्थे क्यष् । ततो लटः शानच् । असुस्रुवदिति । 'स्रु गतौ' 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः' (३।१।४८) इति कर्तरि चङ् । ततो द्वित्वम् । निनायेति । द्विकर्मकान्नयतेः कर्तरि लिट् ॥ ९ ॥

मृदपि घनजलाभिषिक्तभूमेः
सुरभितरं बिभरांबभूव गन्धम् ।
प्रकटयति सहायतां हि यातं
सहजगुणानपि वस्तुनो निमित्तम् ॥ १० ॥

तस्मिन्नवसरे घनजलेन मेघपानीयेन अभिषिक्ता सिक्ता या भूमिस्तस्या मृत् मृत्तिकाऽपि सुरभितरं अतिसुरभिगन्धं बिभरांबभूव धारयामास । युक्तोऽयमर्थः—हि यतः कारणात् निमित्तं निमित्तकारणं सहायतां साहाय्यं यातं प्राप्तं सत् वस्तुनः पदार्थस्य सहजगुणान् स्वाभाविकगुणानपि प्रकटयति प्रकटीकरोति । एतावता गन्धः स्वभावादेव लोके[1] पृथिव्या गुणत्वेन ख्यातोऽस्ति, स च जलमृत्तिका-

[1] गन्धवती 'पृथिवी' इति नैयायिकलोके ।

संयोगे विशेषतः प्रादुर्भवतीत्यर्थः । बिभरामिति । 'भीह्रीभृहुवाम्—' (३।१।३९) इत्यादिना भृञो लिटि आम्, श्लुवद्भावाद्द्वित्वादि ॥१०॥

गगनसृतजलच्छटाप्रपाता-
दपहृतरेणुमला द्रुमा विरेजुः ।
अखिलवनमपि प्रकाशमाप्तं
द्रवदिव रङ्गरसौ तदाऽऽबभासे ॥ ११ ॥

पुनस्तस्मिन्नवसरे गगने आकाशे सृताः प्रसृता या जलच्छटास्तासां प्रपातः पतनं तस्मात् अपहृतमपगतं रेणुमलं रजोरूपं मलं येषां ते एवंविधा द्रुमा वृक्षा विरेजुः शोभन्ते स्म, यद्वा किमनया वृक्षमात्रशोभावर्णनया तस्मादुक्तस्वरूपं अखिलं समस्तं वनमपि जलच्छटाप्रपतनात् प्रकाशमुद्द्योतमाप्तं प्राप्तं सत् रङ्गरसौ द्रवदिव स्रवदिव आबभासे शुशुभे । विरेजुरिति । 'फणां च सप्तानाम्' (६।४।१२५) इति लिटि एत्वाभ्यासलोपौ । आबभासे इति । 'भासृ दीप्तौ' कर्तरि लिट् ॥ ११ ॥

त्वरितमथ पिशाचभूतयक्षा-
ऽनिमिषसङ्घ इह स्वनाथनुन्नः ।
उपवनमनु योजनप्रमाणां
वलयमिलद्विधिनाऽङ्कयद्धरित्रीम् ॥ १२ ॥

अथ घनवर्षणानन्तरं पिशाचभूतयक्षादयो येऽनिमिषा देवास्तेषां सङ्घः समूहः स्वनाथैः स्वस्वामिभिर्नुन्नः प्रेरितः सन् त्वरितं शीघ्रं इहाऽस्मिन् शुद्धीकृते क्षेत्रे उपवनमनु उपवनस्य समीपे योजनं प्रमाणं यस्याः सा तां धरित्रीं वलयः प्राकारवलयस्तेन मिलन् यो विधिस्तेन प्राकारवलयरचनोचितविधिना आङ्कयत् अङ्कयति स्म । उपवन-

मन्विति । उप समीपे वनमुपवनं 'अपोपाभ्यां वनं वेलमारामः कृत्रिमे घने' इति हैमः । 'अनुर्लक्षणे' (१।४।८४) इत्यादिनाऽनोः कर्मप्रवचनीयसंज्ञा तद्योगे द्वितीया । 'अनुर्यत्समया' (२।१।१५) इत्यस्य वैकल्पिकत्वात्समासाभावः । आङ्कदिति । 'अङ्क पदे लक्षणे च' चुरादिरदन्तस्तस्याऽल्लोपित्वान्न वङ्कार्यम् ॥ १२ ॥

शतयुगधनुरायतां जिनाङ्गो-
च्छ्रितिनिचितां खचितां विचित्ररत्नैः ।
विटपिवनमबाधयंस्तदूर्ध्वं
मणिधरणीं निबबन्ध मध्यभागे ॥ १३ ॥

अधो वर्तमानं विटपिनां वृक्षाणां वनं अबाधयन् अपीडयन् व्यन्तरदेवसमूहस्तदूर्ध्वं तस्या अङ्किताया वनभूमेरुपरि मध्यभागे मध्यप्रदेशे शतयुगधनुरायतां द्विशतधनुःप्रमाणदीर्घां तथा जिनाङ्गं भगवच्छरीरं तस्यैव, तत्प्रमाणेत्यर्थः । या उच्छ्रितिरुच्चत्वं तस्यां निचितां पुष्टां, न तु रिक्तां पुनर्विचित्ररत्नैर्नानाप्रकाररत्नैः खचितां जटितां मणिधरणीं मणिपीठिकां निबबन्ध बध्नाति स्म । शतेत्यादि । शतयुगं शतद्वयं तत्सङ्ख्यानि धनूंषि आयतां दीर्घां, विस्तृतां चेत्यर्थः । इहाऽयामविस्तारयोस्तुल्यत्वात् खचितामिति 'खच भूतप्रादुर्भावे' कर्मणि क्तः ॥ १३ ॥

मधुकरकुललीढमञ्जरीकं चटुलरणद्घनिघण्टिकापताकम् ।
प्रमुदितमरुतस्तदन्तराले रुचिरमकार्षुरशोकचैत्यसालम् ॥ १४ ॥

प्रमुदिता आनन्दिता मरुतो देवास्तस्या मणिपीठिकाया अन्तराले मध्ये रुचिरं मनोज्ञं अशोकाख्यं चैत्यसालं चैत्यवृक्षं अकार्षुः कुर्वन्ति स्म । कीदृशं तम् । मधुकरकुलैर्भ्रमरसमूहैर्लीढा आस्वादिता मञ्जरी

यस्य स तं । 'नद्यृतश्च' (५।४।१५३) इति कप्, तथा रणदित्येवं-भूतो अव्यक्तो ध्वनिर्यासां ता रणद्ध्वनयस्ताश्च ता घण्टिकाश्चेति विग्रहः । यद्वा ध्वनिप्रधाना घण्टिका ध्वनिघण्टिकाः, रणन्त्यः शब्दायमाना ध्वनिघण्टिका इति विग्रहः । ततो रणद्ध्वनिघण्टिकाश्च पताकाश्चेति द्वन्द्वस्तदनु चटुलाश्चपला रणद्ध्वनिघण्टिकापताका यस्मिन् स तमिति बहुव्रीहिः । अकार्षुरिति । कृञः कर्तरि लुङ् । चैत्य-सालमिति । 'चैत्यं जिनौकस्तद्बिम्बं चैत्यो जिनसभातरुः' इति हैमः (अनेकार्थः) । इह सालशब्दो दन्त्यादिरेव ॥ १४ ॥

> प्रतिदिशमुपनीयते स तस्मा-
> त्कनकमयी चतुरासनी पुनस्तैः ।
> श्रिय इव मिलिताः समस्तदिश्याः
> प्रभुचरणाम्बुजपर्युपास्तयेऽस्थुः ॥ १५ ॥

पुनस्तैर्देवैस्तस्मादशोकवृक्षात् प्रतिदिशं चतुर्दिक्षु कनकमयी स्वर्णमयी चतुरासनी सिंहासनचतुष्टयी उपनीयते स स्थाप्यते स्म। अत्रोत्प्रेक्षते—'प्रभोर्वीरस्वामिनश्चरणाम्बुजयोश्चरणकमलयोः पर्युपास्तये सेवायै मिलिता एकत्रीभूताः समस्तदिश्याश्चतुर्दिगुद्भवाः श्रियो लक्ष्म्य इव अस्थुस्तिष्ठन्ति स्म' । उपनीयते इति । उपपूर्वान्नियः कर्मणि लट्, स च स्मयोगे भूतार्थे बोध्यः । कनकेत्यादि । कनकस्य विकार इत्यर्थे मयट् । टित्वात् ङीप् । चतुर्णामासनानां समाहार इति विग्रहे 'तद्धितार्थ–' (२।१।५१) इत्यादिना समासः, 'द्विगोः' (४।१।२१) इति ङीप् । दिश्या इति । भवार्थे 'दिगादिभ्यो यत्' (४।३।५४) । अस्थुरिति तिष्ठतेः कर्तरि लुङ् ॥ १५ ॥

नटननिपुणसालभञ्जिकाभि-
विविधविलासवतीभिरभ्युपेतैः ।
सुरचितमणितोरणैः पुरस्ता-
त्तदभिमुखाः ककुभो बभुश्चतस्रः ॥ १६ ॥

विविधा बहुप्रकारा ये विलासाः स्त्रीणां स्वाभाविकाऽलङ्कारास्ते सन्ति आसामिति विविधविलासवत्यस्ताभिस्त एव नटने नृत्यक्रियायां निपुणा दक्षा एवंविधा याः सालभञ्जिकाः पञ्चालिकाः 'पुत्तलिकेति' लोकप्रसिद्धास्ताभिः अभ्युपेतैः समन्ताद्युक्तैः पुरस्तादग्रतः सुष्ठु रचितानि यानि मणितोरणानि तैः करणभूतैः तेषां तोरणानामभिमुखाः संमुखाश्चतस्रोऽपि ककुभो दिशो बभुः शोभन्ते स्म । 'सालभञ्जी पाञ्चालिका च पुत्रिका' इति हैमः ॥ १६ ॥

चतसृषु च ककुप्सु वेदिकान्ता-
द्दशशतयोजनदीर्घतोच्छ्रितोऽधः ।
विविधमणिमयो ध्वजोऽमरैस्तै-
र्व्यधित चतुष्टयमात्रयेव धर्मः ॥ १७ ॥

च पुनस्तैरमरैर्देवैश्चतसृषु ककुप्सु चतुर्दिक्षु वेदिकान्तात् मणिपीठिकाप्रान्तादऽधोभागे दशशतयोजनानि सहस्रयोजनानि दीर्घतया प्रलम्बत्वेन उच्छ्रित उन्नतो विविधमणिमयो बहुप्रकाररत्नमयो ध्वजो व्यधित निर्मितः, रचित इत्यर्थः । इवशब्द उत्प्रेक्षायाम् । तदुत्प्रेक्ष्यते—'अयं ध्वजो न भवति, किं तु चतुष्टयमात्रया चतुष्टयमानेन दानादिलक्षणो धर्म एव रचित इति' । व्यधितेति । विपूर्वाद्धाञः कर्मणि लुङ् । चतुष्टयेत्यादि । चत्वारो अवयवा अस्येत्यर्थे तयप् ।

'मात्रं त्ववधृतौ स्वार्थे कार्त्स्न्ये मात्रा परिच्छदे । अक्षरावयवे द्रव्ये मान्येऽल्पे कर्णभूषणे । काले वृत्ते च' इति हेमः (अनेकार्थः) ॥१७॥

तदुपरि विलसत् सितातपत्रं
चटुलितमौक्तिकजालकिङ्किणीकम् ।
अभवदिव नृलोकसंमुखीनं
शिवपदमधिनाथहार्दहूतम् ॥ १८ ॥

तस्य ध्वजस्योपरि ऊर्ध्वभागे विलसत् शोभमानं तथा चटुलितानि अचिन्त्यदेवशक्त्या चपलीकृतानि मौक्तिकजालानि ग्रथितमुक्ताफलसमूहाः किङ्किण्यो लघुघण्टिकाश्च यस्मिंस्तत् एवंविधं सितातपत्रं श्वेतच्छत्रं अभवत् अत्रापि इवशब्द उत्प्रेक्षाद्योतकः, ततश्चोत्प्रेक्षते— 'नास्तीदं छत्रं किंतु अधिको नाथोऽधिनाथस्त्रिजगन्नायको वीरप्रभुस्तस्य हार्दमभिप्रायस्तेन हूतमाकारितं सत् शिवपदं मुक्तिस्थानमपि नृलोकस्य मनुष्यलोकस्य संमुखीनं अभिमुखमभवदिति', आस्तां किलाऽन्यो महेन्द्रादिलोक इति अपिशब्दार्थः । किङ्किणीति । 'किङ्किणी क्षुद्रघण्टिका' इति हेमः । मतान्तरे किङ्कणीति निरिकारक[1]कारोऽपि ॥ १८ ॥

अहमहमिकयाऽथ भक्तिभाजो
निजनिजनाथनियुक्तकाश्च शक्राः ।
अधिकदशविकल्पकल्पदेवा
मणिरचिताङ्गणरक्षणं विचक्रुः ॥ १९ ॥

अथाऽनन्तरं भक्तिं मनसि निर्भरप्रीतिं भजन्तीति भक्तिभाजस्तथा निजनिजनाथेन स्वस्वस्वामिना देवेन्द्रेण नियुक्ता एव नियुक्तका

1 मतान्तरे इकारविरहितः ककारः किङ्कणीशब्दः इति भावः ।

आज्ञापिताश्च पुनः शक्ताः शक्तिमन्त, एवंविधा द्व्यधिकद्वादशविकल्पकल्पदेवाः द्वादशदेवलोकवासिनो, देवाः अहमहमिकया परस्पराऽभिमानेन वेदिकायाः समन्ताद्व्यन्तरदेवैर्मणिभिः रचितस्याऽङ्गणस्य रक्षणं विचक्रुर्विशेषेण कुर्वन्ति स्म । 'स मिथोऽहमहमिका' इति हेमः । द्व्यधिकेत्यादि । द्वाभ्यामधिका दश विकल्पा भेदा येषां ते तथाविधा ये कल्पा देवलोकास्तद्वासिनो ये देवास्ते तथा शाकपार्थिवादित्वाद्वासिपदलोपः । अङ्गणेति । पृषोदरादित्वाण्णत्वमिति कश्चित् । बहवस्तु अङ्गनमिति नान्तमेवाहुः ॥ १९ ॥

अथ मणिमयवप्ररचनाप्रकारमाह—

बहिरवततचेतनप्रदेशैः सहकृतमानसपुद्गलान् वितत्य ।
जगति तदवगाढपुद्गलौघं सुमणिमयं परिणामयांबभूवुः ॥२०॥

ततस्ते देवाः बहिःशरीराद्बहिर्देशेऽवतता विस्तारिता ये चेतनप्रदेशा असङ्ख्येया आत्मप्रदेशास्तैः सहकृतान् युक्तान् मानसपुद्गलान् मनस्त्वेन परिणमितानि मनोवर्गणाद्रव्याणि जगति लोके वितत्य विस्तार्य तस्मिन् क्षेत्रेऽवगाढस्तद्वगाढस्तत्क्षेत्रमवगाह्य स्थितो यः पुद्गलौघः सूक्ष्मपुद्गलसमूहस्तं सुमणिमयं शोभनरत्नमयं परिणामयांबभूवुः परिणामयन्ति स्म । अत्र परिपूर्वान्नमेर्हेत्वर्थणिजन्तादाम्, अस्याऽऽमन्तत्वेन मित्वात् 'मितां ह्रस्वः' (६।४।९२) इति ह्रस्वत्वं न शक्यं, ह्रस्वसूत्रे व्यवस्थार्थ'वा'शब्दाऽनुवृत्तेः । एवमेव च 'रजो विश्रामयन्' 'राज्ञां धुर्यान्विश्रामये'ति स इत्यादिप्रयोगेष्वपि ह्रस्वाऽभावप्रतिपादनादिति । यद्वा परिणमनं परिणाम इति घञन्तात् 'तत्करोति' (ग०) इति णावऽयं प्रयोगो बोध्यः ॥ २० ॥

अविरलवलयाकृतीकृतोऽसौ सपदि च पञ्चधनुःशतोन्मितोच्चः ।
समुचितविपुलत्वसंयुतोऽभाद्रविपरिवेष इवाभिरलवेदिम् ॥२१॥

तस्मिन्नवसरे सपदि शीघ्रं अभिरलवेदिं मणिपीठिकायाः समन्तात् अविरलो दृढो वलयः प्राकारवलयः स आकृतिराकारो यस्य सोऽविरलवलयाऽऽकृतिः नाऽसौ असौ सम्पद्यते तथाकृतोऽविरलवलयाऽऽकृतीकृतः प्राकाराऽऽकारेण निष्पादित इत्यर्थः । च पुनः पञ्चसङ्ख्यानि धनुषां शतानि उन्मितमुन्मानं यस्य स पञ्चधनुःशतोन्मितः स चासौ उच्चश्चेति तथोक्तः, पञ्चशतधनुःप्रमाणप्रांशुरित्यर्थः । पुनः समुचितं सुयोग्यं यद्विपुलत्वं भित्तिविस्तारस्तेन संयुतो युक्तः, एवंविधोऽसौ मणिमयपरिणमितपुद्गलसमूहो रवेः सूर्यस्य परिवेष इव मण्डलमिव अभाद्भाति स्म । वलयाकृतीत्यत्र च्विप्रत्ययः । समुचितेत्यादि । इह समुचितपदोपादानात्साधिकत्रयस्त्रिंशद्धनूंषि सूचितानि । 'अट्ठंगुलि-[१४]घरयणी[३३]तित्तीसंधणुह बाहल्लं'मिति वचनात् । परिवेष इति । 'मण्डलं तूरसूर्यकम् । परिधिः परिवेषश्च' इति हैमः ॥ २१ ॥

तदुपरि कपिशीर्षमालिका द्राक्
पविमणिभिर्विदधे तथैव चाभिः ।
अखिलमिदमकारि यत्क्षणेन
द्युसदस्तदहो महानुभावाः ॥ २२ ॥

च: समुच्चये, एभिर्वैमानिकदेवैर्यथा सद्यो मणिमयप्राकारो निर्मितस्तथैव तेनैव प्रकारेण तस्य प्राकारस्योपरि द्राक् शीघ्रं पविमणिभिः हीरकरत्नैः कपिशीर्षाणां मालिका श्रेणिर्विदधे रचिता । अत्र कविः

१ त्रयस्त्रिंशद् (३३) धनुर्मात्रिंशद्व्यस्थुलत्वम् । २ श्रीयशोभद्रमुनीन्द्र-प्रणीत–श्रीजम्बूस्वामिचरित्रे–प्रथ (?) सर्ग २–३९ टीकायाम् ।

सम्भावनां करोति—'यद्यस्माद्देवैरखिलं समस्तमिदमनन्तरोक्तं कृत्यं क्षणेन क्षणमात्रेण अकारि निष्पादितं' तत्तस्माद् ज्ञायते अहो इति आश्चर्ये, द्यौः स्वर्ग एव वसतिर्गृहं येषां ते द्युवसतयो देवा महानुभावा महाप्रभावाः। विद्यन्ते इति शेषः। पवीत्यादि। 'सूचीमुखं तु हीरकः वरारकं रत्नमुख्यं वज्रपर्यायनाम च' इति हैमः॥ २२॥

अत उपरितनाऽमरौघकृत्ये
हितरतिनिर्वृतिहेतुतां प्रपन्ने।
शशधरदिवसेशयोर्निदेशा-
दनुचरास्त्रिदशास्त्वरां प्रतीयुः॥ २३॥

अतोऽस्मिन् उपरितनाऽमरौघस्य ऊर्ध्वलोकोद्भवदेवसमूहस्य कृत्ये कार्ये हितरतिनिर्वृतीनां हितसुखमुक्तीनां हेतुतां कारणत्वं प्रपन्ने प्राप्ते सति, एतावता सम्यक् फलसत्तामुत्पाद्य निष्ठां परिपूर्णतां गते सति शशधरदिवसेशयोश्चन्द्रसूर्ययोर्निर्देशात् आज्ञातस्तयोरेवाऽनुचराः सेवकप्रायास्त्रिदशा देवास्त्वरां प्रति ईयुः प्रापुः। अर्हद्भक्तिं विधातुं सत्वरा बभूवुरित्यर्थः। अत इति। सप्तम्यर्थे तसिल्। उपरिभवा उपरितनास्ते च तेऽमराश्च तेषामोघ इत्यादिविग्रहः। इह हितेत्यादि सिद्धांते—'हियाए सुहाए खेमाए निस्सेयसाए' इत्याद्यर्हद्भक्तिफलोक्तेरुपात्तम्। शशधरेत्यादि। 'देवताद्वन्द्वे—' (६।३।२६) इत्यस्य प्रायिकत्वादत्र पूर्वपदस्य नाऽऽनङ्। ईयुरिति। इणः कर्त्तरि लिट्॥२३॥

अथ स्वर्णमयवप्ररचनाप्रकारमाह—

त्रिदिवगुरुविकुर्वणानुकारी भगण उपाहितरुक्मपुद्गलेषु।
परिणतिमुपपादयाञ्चकार द्युतितहिरण्मयतां गवां क्षणेन॥२४॥

प्रथमवरणतो धनुःशतानि
त्र्यधिकदशैत्य बहिस्ततान वप्रम् ।
परिमितिमधिकृत्य चोक्तपूर्वां
पृथुलतयोच्चतया च भक्तिरक्तः ॥ २५ ॥ युग्मम् ।

त्रिदिवसुराणां स्वर्गवासिदेवानां विकुर्वणामनुकरोति तच्छीलो वैमानिकदेववद्विकुर्वणां कुर्वाण इत्यर्थः । तथा भक्तिरक्तोऽर्हद्भक्त्यनुरागी एवंविधो भानां ज्योतिष्कानां गणः समूहः उपाहिताः संयोजिता ये सूक्ष्मपुद्गलास्तेषु क्षणेन द्युतितहिरण्मयतां गतां दीप्तिमत्स्वर्णस्वरूपत्वं प्राप्तां परिणतिं परिणमनं उपपादयाञ्चकार उत्पादयति स्म । अथैवं पुद्गलपरिणामं कृत्वा प्रथमवरणतः प्रथमनिर्मित मणिमयप्राकारात् बहिःप्रदेशे त्र्यधिकदशधनुःशतानि त्रयोदशधनुषां शतानि एत्य आगत्य एतावद्भुवमतिक्रम्येत्यर्थः । पृथुलतया विस्तीर्णतया च पुनरुच्चतया उन्नततया पूर्वमुक्तामुक्तपूर्वां 'पञ्चधनुःशता' (२।२१) इत्यादिना प्राग्दर्शितां परिमितिं परिमाणमधिकृत्य आश्रित्य वप्रं स्वर्णमयप्राकारं ततान विस्तारयति स्म, विकुर्वितवानिति यावत् । त्रिदिवेत्यादि । 'नौस्त्रिदिवमूर्ध्वलोक' इति, 'संयोजित उपाहिते' इति च हेमः । हिरण्मयेति । 'दाण्डिनायनहस्तिनायन–' (६।४।१७४) इत्यादिना साधुः । वरणेति । 'प्राकारो वरणः सालः–' इति हेमः । अत्र चकारौ द्वावपि समुच्चयार्थौ ॥ २४ ॥ २५ ॥

मणिमयवरणाग्रमालयाऽऽसावति-
शुशुभे परितोऽन्तरालभूमेः ।
अनुलवणसमुद्रमाऽऽचितर्द्धः स हि
जगतीवलयस्य साम्यमापत् ॥ २६ ॥

अन्तरालभूमेर्मध्यभूमेः परितः समन्ताद्वर्तमानोऽसौ स्वर्णमयः प्राकारो मणिमयानि यानि वरणाग्राणि कपिशीर्षाणि तेषां मालया श्रेण्या अतिशुशुभेऽत्यन्तं शोभते स्म । कीदृगित्याशङ्क्य औपम्येन शोभाप्रकारमेव दर्शयति—स हीत्यादि । स प्राकारो हि आवितर्देः जगतीवलयोपरिवर्तिवेदिकां विना अनुलवणसमुद्रं लवणसमुद्रस्य समीपे सितस्य जगतीवलयस्य साम्यं सादृश्यमापत् प्राप । तस्याऽप्येवंविधस्थित्याऽतिरमणीयत्वादिति भावः । आवितर्देरिति । मर्यादार्थाद्यायोगे पञ्चमी । 'वेदी वितर्दिः' इति हैमः ॥ २६ ॥

अथ रूप्यवप्ररचनाप्रकारमाह—

दधदिह विबुधैः सहाभ्यसूयामसुरगणोऽथ गृहीतनायकाज्ञः ।
प्रथममुदितया सुपर्वशक्त्या रजततयाऽऽहृतपुद्गलांस्ततान ॥२७॥

अथ स्वर्णवप्ररचनानन्तरं गृहीता नायकाज्ञा स्वस्वाम्याऽऽदेशो येन एवंविधोऽसुराणां देवविशेषाणां गणो, विबुधैरुपरितनदेवैः सह अभ्यसूयां मात्सर्यं दधत् धारयन्, इह समवसरणरचनाधिकारे प्रथमं उदितया प्रागुक्तया सुपर्वशक्त्या देवशक्त्या आहृतपुद्गलान् गृहीतपुद्गलान् रजततया रूप्यभावेन ततान विस्तारयामास परिणमयति स्मेति यावत् । अभ्यसूयामिति । 'असूयाऽन्यगुणदूषणम्' इति हैमः ॥ २७ ॥

प्रगदितमितिभूमिकां विहायाऽर्जुनवरणं वलितैः स तैर्विवेष्टे ।
उपरि परिणतैः सुवर्णसिध्या प्लवगशिरोभिरलञ्चकार शालम् २८

ततः सोऽसुरगणः स्वर्णवप्रात् प्रगदितमितिभूमिकां प्रागुक्तप्रमाणभूमिं विहाय त्यक्त्वा वलितैर्वलयाकृत्या व्यवस्थितैः सौरूप्यमयपरिणतैः पुद्गलैः करणभूतैरर्जुनवरणं स्वर्णवप्रं विवेष्टे वेष्टयामास ।

तथा उपरि ऊर्ध्वदेशे सुवर्णसिद्ध्या स्वर्णपरिणत्या परिणतैः सुवर्गशिरोमिः कपिशीर्षैः शालं रूप्यमयप्राकारमण्डलं चकास्कार शोभमानं चक्रे । प्रगदितेत्यादि । प्रगदिता प्रथमं कथिता त्रयोदशशतधनुःस्वरूपा मितिर्मानं यस्याः सा प्रगदितमितिः, सा चासौ भूमिका चेति विग्रहः । अर्जुनेति । 'अर्जुननिष्ककार्तस्वरकर्बुराणि' इति हेमः । विवेष्टे इति 'वेष्ट वेष्टने' इत्यतः कर्तरि लिट् ॥ २८ ॥

समुदितवरणत्रयं तदासीत्
त्रयमिव गुप्तिनिबद्धमात्मनीनम् ।
भगवदभिहितोऽथवा शिवाध्वा
त्रिकविधयेव नु मूर्त्ततामवाप्नोत् ॥ २९ ॥

नु इति वितर्के । तत् समुदितं समुदायरूपेण स्थितं वरणत्रयं प्राकारत्रयम्, आत्मने हितमात्मनीनं गुप्तिभिर्मनोवाक्कायगुप्तिभिर्निबद्धं रचितं त्रयमासीदित्युत्प्रेक्षा । अथवा भगवता सर्वज्ञेन अभिहितः कथितो यः शिवाध्वा ज्ञानदर्शनचारित्रात्मको मोक्षमार्गः स एव त्रिकविधया ज्ञानादित्रिकभेदेन मूर्त्ततां मूर्त्तिमत्त्वमवाऽऽप्नोत् प्राप इवेत्यप्युत्प्रेक्षा ॥ २९ ॥

सुरपतिधनुषी नु मीलयित्वा कृतमिव कौतुकचारिणा मघोना ।
विविधवसुचितं दिदेव दीप्रद्युतिवरणत्रयमम्बरप्रतिष्ठम् ॥३०॥

पुनर्नु इति वितर्के, विविधैर्बहुप्रकारैर्वसुभी रत्नादिद्रव्यैश्चितं निर्मितं अत एव दीप्रा दीपनशीला द्युतिर्ज्योतिर्यस्य तत्तयोक्तं तथाऽम्बरे आकाशे प्रतिष्ठा स्थितिर्यस्य तदेवंविधं वरणत्रयं कौतुकचारिणा कौतुकवता मघोना इन्द्रेण सुरपतिधनुषी मीलयित्वा संयोज्य कृतमिवेत्येवं दिदेव शोभते स्म । कौतुकेति । कौतुकं चरति प्राप्नो-

तीत्येवंशील इति विग्रहे शीले णिनिः । दिदेवेति । 'दिवु क्रीडादौ' इत्यस्माल्लिट् ॥ ३० ॥

इह पुनरपि गुह्यकादिदेवा
व्यदधत गोपुरतोरणानि सद्यः ।
प्रतिदिशमपि रोहणाय पाद-
स्थितिकरणानि सहस्रविंशतिं च ॥ ३१ ॥

पुनरपि गुह्यकादिदेवा यक्षादिदेवविशेषा इहाऽस्मिन् प्राकारत्रये प्रतिदिशं चतुर्दिक्षु सद्यः शीघ्रं गोपुराणि च द्वाराणि तोरणानि च प्रतीतानि तानि व्यदधत कुर्वन्ति स्म । सतोरणानि द्वाराणि चक्रुरित्यर्थः । च पुनरधिरोहणाय अर्हद्वन्दनार्थमागच्छतां जनानामाऽरोहणनिमित्तं प्रतिदिशं सहस्रविंशतिं विंशतिसहस्राणि पादस्थितिकरणानि सोपानानि व्यदधतेति पुनर्योगः । गुह्यकेति । 'यक्षः पुण्यजनो राजा गुह्यको वटवास्यपि' इति हैमः । व्यदधतेति । विपूर्वाद्धाञः कर्त्तरि लङि आत् । गोपुरेति । 'पूर्द्वारे गोपुरम्' इति हैमः । 'द्वारमात्रेऽपि गोपुरम्' इत्यनेकार्थः । पादेत्यादि । पादयोः स्थितिः क्रियते एभिरिति विग्रहे करणे ल्युट् । इदं हि यौगिकं नाम ॥३१॥

अथवरमुपभुज्य तीर्थकृत्त्वं प्रविशति चात्मलयं सदैव यत्र ।
प्रतिसमयमघातिकर्मजालं विदलयति स्फुटवीर्यवानधीशः ॥३२॥
मणिमयतपनीयवप्रगर्भे गिरिशदिशामुपसृत्य चैत्यसालात् ।
तदमरगणशृङ्गिपेवर्णीयं शुचितरमैश्वरमन्दिरं व्यकुर्वन् ॥ ३३ ॥
युग्मम् ।

स्फुटं प्रकटं वीर्यमस्यास्तीति तद्वान् अनन्तबलसम्पन्न इत्यर्थः । सर्वांशस्त्रिजगत्पतिर्जिनोऽवसरे देशनादानस(ने)तीर्थकृत्त्वमऽनन्यसा-

धारणधर्मरूपकथनादितीर्थकृत्त्वमुपभुज्य भुक्त्वा देशनानन्तरं यत्र मन्दिरे सदैव सर्वदा आत्मलयं समाधिविलासं प्रविशति स्वभावे वस्तुमिच्छति । च पुनर्यत्र स्थितः सन् प्रतिसमयं अघातिकर्मणां वेदनीयादीनां जालं समूहं विदलयति क्षपयति तत् अमरेन्द्रैर्वैर्गण-भृद्भिर्गणधरैश्च निषेवणीयं सेव्यं अत एव शुचितरमऽतिपवित्रम् ईश्वरस्य प्रभोरिदमैश्वरं प्रभुसम्बन्धि मन्दिरं देवच्छन्दाऽख्यं मणिमयतपनीयमयो रत्नस्वर्णप्राकारयोर्गर्भे मध्यदेशे चैत्यसालादशोकवृक्षाद्विदिशा-दिशामीशानकोणमुपसृत्य आश्रित्य व्यकुर्वन् विकुर्वन्ति स्म । व्यन्तरा इति शेषः । अवसरेत्यादि । 'लोपः शाकल्यस्य' (८।३।१९) इत्यस्य वैकल्पिकत्वान्नाऽत्र यलोपः । लयमिति । 'लयस्तूर्यत्रयीसाम्ये संश्लेषणविलासयोः' इति हैमः । मणीत्यादि । मणिमयं च तपनीयमयं चेति विग्रहः ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

अथ सवर्णनं चतुर्वापीरचनाप्रकारमाह—

पुनरपि पुरतोऽपि गोपुराणां
दिशि दिशि हस्तिनखादधःस्थलीस्थाः ।
समवसरणभूमिमारुरुक्षू-
न्श्रमहरणा त्वरयन्ति मानवान् याः ॥ ३४ ॥
विमलजलभृताः सुखावतारा
विकसितवारिजराजिराजमानाः ।
अनिलतरलिताभिराप्रतीरं
जललहरीभिरिवाध्वगान्मिलन्त्यः ॥ ३५ ॥
कलरवललिता मरालमाला
विलसति यत्र सुधोपमेखलेव ।

तनुशुचिकरणानि पुष्करिण्यः
शुचिभुवि निर्ममिरे वरामरैस्ताः ॥ ३६ ॥

२ त्रिभिर्विशेषकम् ।

पुनरपि वरामरैः प्रधानदेवैः शुचिभुवि समवसरणाद्बहिः शुद्धभूमिकायां ताः अनन्तरमेवोच्यमानस्वरूपास्तनोः शरीरस्य यः शुचिः शृङ्गाररसस्य करणानि प्रधानकारणभूताः पुष्करिण्यश्चतस्रोऽष्टौ वा वाप्यो निर्ममिरे निर्मिताः, रचिता इत्यर्थः । ताः का इत्याह—या वाप्यो दिशि दिशि चतुर्दिक्षु गोपुराणां प्रतोलीद्वाराणां पुरतोऽग्रतो हस्तिनखात् क्रमनिम्नोचरणमार्गात् अधःस्थलीस्थाः अधोभूप्रदेशस्थिताः सत्यः समवसरणभूमिं आरुरुक्षून् आरोढुमिच्छून् मानवान् श्रमहरणात् त्वरयन्ति त्वरां कारयन्तीवेत्युत्प्रेक्षा । अत्र अपिशब्दस्य इवाऽर्थफलत्वात् पुनर्या वाप्यो विमलजलैर्भृताः पूर्णास्तथा सुखेनाऽवतारोऽवतरणं यासु ताः, यद्वा सुखयतीति सुखः सुखप्रदोऽवतारो यासु तास्तया विकसितानां प्रफुल्लानां वारिजानां कमलानां राजिभिः श्रेणिभी राजमानाः शोभमाना एवंविधाः सत्यः आमतीरं तटपर्यन्तं अनिलेन वायुना तरलिताभिश्चपलीकृताभिर्जललहरीभिर्कल्लोलैरध्वगान् समवसरणमार्गगतलोकान् निरन्त्य इव स्थिता इति शेषः । पुनर्यत्र यासु वापीषु कलस्वैरव्यक्तमधुरशब्दैर्ललिता मनोज्ञा मरालानां हंसपक्षिणां माला श्रेणिः सुष्ठु शोभनो घोषो ध्वनिर्यस्याः सा सुघोषा या मेखला धीनां कटिमेखला मा इव विलसति शोभते एवंविधा वाप्यो देवैर्निर्मिता इति संबन्धः । हस्तीत्यादि । 'हस्तिनखः परिकूटम्' इति हलायुधः, 'दुर्गद्वारोपरणमार्गे ग्रावणि' सटीका, यद्यप्यत्र कविस्तोकेन समवसरणाद्बहिरधःस्थिता वाप्य उपात्तयापि

बहिर्वप्रान्तस्था बोध्याः । यदुक्तं समवसरणस्तवे—'बहिवप्पदारमज्झे दो दो वावीउ हुंति वट्टंमि । चउरंस समोसरणे इग इग वावीय कोणेसु ॥१॥' इति । अन्यस्मिन् स्तोत्रे[1] पुनरेवं 'वीयंतो तिरि ईसाणि देवच्छंदो.अ जाण तइयंतो । तह चउरंसे दु दु वावी कोणओवट्टि इक्किक्का ॥ १ ॥' इति । त्वरयन्तीति । त्वरमानान् प्रेरयन्तीत्यर्थः । 'ञित्वरा संभ्रमे' अस्य घटादयः षित इति षित्वाण्णिचि ह्रस्वत्वम् । आप्रतीरमिति । 'तटं तीरं प्रतीरं च' इति हैमः । तनुशुचीति । 'शुचिः शुद्धे सितेऽनले । ग्रीष्माऽषाढानुपहतेषूपधाशुद्धमन्त्रिणि, शृङ्गारे' इति हैमः । निर्ममिरे इति । निरपूर्वान्माङः कर्मणि लिट् ॥३४–३६॥

ननु महदाश्चर्यमेतत् यत्सर्वमपीदं सद्य एव व्यधायीत्याशङ्क्याह—

सकलमपि निमेषमात्रमेव
प्रभवति कर्तुमिदं यदेककोऽपि ।
तदिह सुरवराश्चतुर्निकाया
युगपददो रचयन्तु किं नु चित्रम् ? ॥ ३७ ॥

यद्यदि एककोऽपि देवः सकलमपीदं कर्त्तव्यजातं निमेषमात्रमेव निमेषमात्रेणैव कालेन कर्तुं विधातुं प्रभवति समर्थो भवति, तर्हि इह प्रस्तावे चतुर्निकायाः सुरवराश्चतुर्जातीया देवा युगपत् समकालमदः समवसरणं रचयन्तु, किं नु चित्रं किमत्राऽऽश्चर्यं ? न किमपीति भावः । निमेषेत्यादि । निमेषो पक्ष्मस्पन्दनप्रमाणः काल उच्यते । स एव मात्रा प्रमाणं यत्र कर्मणि, तदिति क्रियाविशेषणमिदम् । चतुरित्यादि । चत्वारो निकाया निवासा उत्पत्तिस्थानानि येषां ते इति विग्रहः । नुशब्दोऽत्र वितर्के ॥ ३७ ॥

[1] समवसरणप्रकरणे–'गा० १८' तमा ।

अथ समवसरणस्य सर्वोत्कृष्टं सौन्दर्य्यमुपपादयति—

अपरसुरग्रहस्य चेदुदग्रां
　श्रियमृपयोऽपि हि वर्णयांबभूवुः ।
किमु सकलसुरासुरेश्वरार्च्या-
　श्रयनिलयो न भवेदनुत्तरश्रीः ॥ ३८ ॥

हीति निश्चितं, ऋपयो मुनीश्वरा अपरसुरमहस्यापि अन्यदेवभव-नादेरपि चेद्यदि उदग्रामतिप्रवरां श्रियं शोभां वर्णयांबभूवुः वर्णयन्ति स्म । आगमे इति शेषः । तर्हि सकलसुरासुरेश्वराणां सर्वसुराऽसु-रेन्द्राणां योऽर्च्यः पूज्यो भगवान् तस्याऽऽश्रयो निवासभूतो यो निलयः प्रासादः सोऽनुत्तरा सर्वोत्कृष्टा श्रीः शोभा यस्य सोऽतिप्रधानश्रीकः किमु न भवेत् ? अपि तु भवेदेवेत्यर्थः ॥ ३८ ॥

अथोपसंहरन्नाह—

इत्थं नाथाऽऽगमनजनिताऽऽमोदमत्ताः प्रसक्ताः
　श्रीमद्भक्त्या भवनपतयो व्यन्तराः खेचराश्च ।
कल्पावासाः पुनरजरसोऽनादिकृत्याऽभियुक्ताः
　प्रीत्या चक्रुः समवसरणस्थापनां प्रेक्षणीयाम् ॥३९॥

नाथस्य वीरप्रभोराऽऽगमनेन जनित उत्पन्नो य आमोदो हर्षस्तेन मत्ता दर्पिताः अत एव श्रीमतस्तीर्थकृद्विभूतिमतो जिनेन्द्रस्य भक्त्यां प्रसक्ताः प्रकर्षेण लग्नाः पुनरनादीनि अनादिकालसंबन्धीनि यानि कृत्यानि स्वस्वकर्त्तव्यानि तेषु अभियुक्ता उद्यता एवंविधा भवनपतयोऽसु-राद्याः १ व्यन्तराः पिशाचाद्याः २ च पुनः खेचरा ज्योतिष्का-श्चन्द्रादयः ३ पुनः कल्पावासा वैमानिकाः सौधर्मजादयः ४ चतु-र्विधा अपि अजरसो देवाः प्रीत्या आनन्देन इत्यमुक्तप्रकारेण प्रेक्ष-

णीयां अनिमिषं दृष्ट्वा विलोकनीयां समवसरणस्य स्थापनां रचनां चक्रुः कुर्वन्ति स्म । अजरस्य इति । न विद्यते जरा येषां ते इति विग्रहः । इदं च मन्दाक्रान्तावृत्तं, तल्लक्षणं च–'मन्दाक्रान्ता जलधिपडगैर्म्भौ नतौ ताद्गुरू चेत्' इति । अस्मिन् सर्गे यत्रमणिपीठिकापरिमाणं वप्रभित्तिपरिमाणं सोपानपरिमाणं च प्रोक्तमस्ति तदावश्यकादिग्रन्थे तु न दृश्यते, परं पूर्वाचार्यविनिर्मितप्रकरणेषु विद्यते, तथा चोक्तं समवसरणस्तवे श्रीयशोभद्रमुनीन्द्रैः–"गाउ(य)मेगं छस्सयधणुहपरिछिन्नमंतरं तेसिं । अट्ठंगुलिधःरयणीतिचीसंधणुहबाहल्लं॥१॥ पंचसयधणुचच्चं चउदारि विराइआण वप्पाणं । सघप्पमाणमेयं नियनिय हत्थेणय जिणाणं ॥२॥ सोचाणदससहस्सा भूमीओ गंतु पढमपायारो । पन्नासधणुहपयरो पुणो वि सोवाणपणसहस्सा ॥ ३ ॥ तत्थविय वीयवप्पो पुव्वुत्तविही तयंतरं नेयं । तत्तो तइए एवं वीससहस्साणि सोवाणा ॥४॥ दस पंच पंच सहस्सा सधे हत्थुचहत्थविस्थिन्ना । बाहिरमब्भिंतरिया वप्पाण कमेण सोवाणा ॥५॥ तम्मज्झे मणिपीढं भूमीओ सड्ढदुन्निकोसुच्चं । दोधणुसयविच्छिन्नं चउदारं जिणतणुसमुच्चं ॥ ६ ॥ "इत्यादि उपदेशसप्ततिग्रन्थेऽप्युक्तं–'चउदारतिसोवाणं मज्झे मणिपीठयं जिणतणुच्चं । दोधणुसयंपिहुदीहं सड्ढदुकोसेहि धरणियला ॥ १ ॥" इत्यादि । अतो न कश्चिद्दोषः ॥ ३९ ॥

इति भगवत्समवसरणवर्णनो नाम
द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

इतीति स्पष्टम् ।

इति श्रीगौतमीयप्रबन्धव्याख्याने गौतमीयप्रकाशाभिधाने
द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

यथा स्वशिष्यकान् गुरुः श्रुतं सहैव पाठयेत् ।
तथाऽपरान् सुरान्न कान् सघोषमन्वघोषयत् ॥ २ ॥

यथा गुरुः पाठकः स्वशिष्यकान् निजलघुशिष्यान् सहैव श्रुतं शास्त्रं पाठयेत् स्वयं पठन्नेव तान्पाठयेदित्यर्थः ॥ तथा स देवदुन्दुभिरऽपरान्कान् सुरान् घोषं शब्दं न अन्वघोषयत् नानूच्चारयति स्म? । स्वयं नदन् सर्वानपि देवान् शब्दाकुलानकरोदित्यर्थः । शिष्यकानित्यत्र ह्रस्वार्थे कन् । अन्वघोषयदिति । 'घुष शब्दे' अस्माद्धेतुमण्णिजन्तात्कर्त्तरि लङ् । 'अक्षातिमसृतीनामुपसंख्यानम्' (वा०) इत्यनेनाणौ कर्त्तुर्णौ कर्मत्वम् ॥ ३ ॥

तदा किं जातमित्याह—

तदा रसातलाधिगा मनुष्यलोकगा अपि ।
तदूर्ध्वगाश्च खेचरास्तथा विमानवासिनः ॥ ४ ॥
तदारवानुमानजावधिप्रबोधबोधिताः ।
सुरा हि कोटिकोटयः प्रभुं प्रमाय दुद्रुवुः ॥ ५ ॥ युग्मम् ।

तदा तस्मिन्नवसरे तस्य दुन्दुभेर्य आरवः शब्दस्तदनुमानाज्जातो योऽवधिप्रबोधोऽवधिज्ञानोपयोगस्तेन बोधिता ज्ञापिताः सावधानीकृताः कोटिकोटयोऽनेककोटिकोटिसङ्ख्याका रसातलाधिगाः पातालवासिनो भवनपतयः । अपिः पुनरर्थे । पुनर्मनुष्यलोकगा मर्त्यलोकवासिनो व्यन्तराः । च पुनस्तदूर्ध्वगास्तेभ्यो व्यन्तरेभ्य ऊर्ध्वगा उपरिवासिनः खेचरा ज्योतिष्कास्तथा विमानवासिनो वैमानिकाः सुरा देवाः प्रभुं श्रीनीरसानिनं प्रमाय विहारोन्मुखं ज्ञात्वा दुद्रुवुस्तद्दर्शनार्थं धावन्ति स्म । रसातलेत्यादि । 'नागलोको रसातलम्' इति हैमः । रसातलमधिगच्छन्तीति विग्रहे 'अन्यत्रापि दृश्यते' (वा०) इति गमेर्डः ।

तृतीयः सर्गः ।

अथर्जुवालुकानदीतटस्थसालसालतः ।
विहर्तुमुद्यते विभौ ननाद देवदुन्दुभिः ॥ १ ॥

सुरासुरश्रेणिवृतः समन्ताद्यो दिव्यधाम स्वकमाजगाम ।
विभ्राजमानो विलसद्विभूत्या तमीश्वरं वीरजिनं प्रणौमि ॥१॥

अथाऽऽनन्तरं विभौ श्रीवीरस्वामिनि ऋजुवालुकानामनद्याः तटस्थो यः सालो नाम सालो वृक्षस्तस्माद्यस्तत्प्रदेशाद्विहर्तुं उद्यते सति आकाशे देवदुन्दुभिर्देववाद्यं ननाद ध्वनति स्म । सालेत्यादि । 'सालः सर्जतरौ वृक्षमात्रप्राकारयोरपि' इत्यनेकार्थः । ननादेति । 'नद अव्यक्ते शब्दे' अस्मात्कर्तरि लिट् । अस्मिन् सर्गे प्रमाणिकावृत्तम्, तल्लक्षणं च—'प्रमाणिका जरौ लगाविति' ॥ १ ॥

तदुद्गभीरनिःस्वनो दिगन्तराणि चानशे ।
इवाज्यबिन्दुरेकतो गतो जलानि पल्वले ॥ २ ॥

तस्य देवदुन्दुभेर्गभीरो यो निःस्वनो ध्वनिः स दिगन्तराणि सर्वदिग्मध्यप्रदेशान् आनशे व्याप्नोति स्म । कः कानीवेत्याह—पल्वले लघुसरसि एकत्र एकस्मिन्प्रदेशे गतः प्राप्त आज्यबिन्दुरस्त्यानघृतबिन्दुरुपलक्षणात्तैलबिन्दुर्जलानीव यथा पल्वलैकप्रदेशस्थस्तैलादिबिन्दुः प्रायः सर्वाण्यपि तद्गततजलानि व्याप्नोति तथेत्यर्थः । तदुदित्यादि । 'अव्ययसर्वनाम्नां' (५।३।७१) इति टेः प्रागकच्, 'मन्द्रो गम्भीर' इति हैमः । गम्भीरवद्गभीरशब्दोऽपि बोध्यः । चः समुच्चये । आनशे इति । 'अशूङ् व्याप्तौ' कर्तरि लिट् । पल्वले इति । 'वेशान्तः पल्वलोऽल्पं सर' इति हैमः ॥ २ ॥

तथा हे प्रभो! अनन्ता शक्तिर्यस्य सोऽनन्तशक्तिस्तस्मै अत एव जगज्जनोपकारिणे त्रैलोक्यलोकोपकारकरणशीलाय तुभ्यं नमोऽस्तु। पुनर्हे प्रभो! अनन्ता ये भावाः पदार्था द्रव्यपर्यायादयस्तेषु प्रकाशकत्वाद्भास्वान् सूर्य इव अनन्तभावभास्वान् तस्मै, तथा स्वयमात्मना परोपदेशव्यतिरेकेणैव भवतीति तीर्थप्रवर्त्तकः संबुद्धो वेति स्वयंभूस्तस्मै ते तुभ्यं नमोऽस्तु ॥ ८ ॥

इति प्रणूय किन्नरा जिनेशभक्तितत्पराः।
सुमन्द्रमध्यतारकैः स्वरैः पुरो यशो जगुः ॥ ९ ॥

इतीत्थं प्रणूय स्तुत्वा तेषु देवेषु ये किन्नरा व्यन्तरविशेषा देवास्ते जिनेशस्य भगवतो भक्तौ तत्पराः सन्तः सुष्ठु शोभनैर्मन्द्रमध्यतारकैरुरःकण्ठशिरोभवैः स्वरैः षड्जादिभिः पुरः प्रभोरग्रे यशो भगवत्कीर्त्तिं जगुर्गायन्ति स्म। प्रणूयेति। 'णू स्तवे' अस्मात् क्त्वो ल्यप्। सुमन्द्रेत्यादि। तारकैरित्यत्र स्वार्थे कप्। 'ते मन्द्रमध्यताराः स्युरुरःकण्ठशिरोभवाः' इति हैमः। 'तारोऽत्युच्चैर्ध्वनिर्मन्द्रो गंभीरः' इति च ॥ ९ ॥

अथ भगवतो विहारसमयेऽग्रतः किं चचालेत्याह—

सहस्रसङ्ख्यकैररैर्विनिर्मितं मणीमयम्।
इवाऽर्कमण्डलं नभोगतं स्फुरन्महाप्रभम् ॥ १० ॥
जयाय धर्मचक्रिणश्चचाल चक्रमग्रतः।
तदीयरोचिषा निशा दिवस्वरूपमादधे ॥ ११ ॥—युग्मम्।

सहस्रं सङ्ख्या येषां ते सहस्रसङ्ख्यास्त एव सहस्रसङ्ख्यकास्तैररैश्चक्रावयवैर्विनिर्मितं रचितं पुनर्मणीनां विकारो मणीमयं रत्नमयं तथा-

एवमग्रेऽपि । हिः पादपूरणे । प्रमायेति । प्रपूर्वान्माङो ल्यपि 'न ल्यपि' (६।४।६९) इतीत्वाभावः । दुद्रुवुरिति । 'द्रु गतौ' अस्मात्कर्तरि लिट् ॥ ५ ॥

ततस्ते सुराः किं कृतवन्त इत्याह—

पुरा निपीय लोचनैर्महामहोभिरञ्चितम् ।
कृतप्रदक्षिणात्रया जगत्प्रभुं ववन्दिरे ॥ ६ ॥

ते चतुर्विधा देवा अञ्चितं त्रैलोक्यपूजितं जगत्प्रभुं श्रीवीरजिनेश्वरं पुरा पूर्वं महन्महः प्रभा येषां तानि महामहांसि तैरतिभास्वरैर्लोचनैर्नेत्रैर्निपीय सादरं विलोक्य कृतं प्रदक्षिणात्रयं यैस्ते कृतप्रदक्षिणात्रयाः सन्तो भगवन्तं ववन्दिरे प्रणामपूर्वकं स्तुवन्ति स्म । निपीयेति । निपूर्वात् 'पीङ् पाने' इति दैवादिकात् क्त्वो ल्यप् । महोभिरिति । 'भा मयूखमहसी छविर्विभा' इति हैमः । ववन्दिरे इति । 'वदि अभिवादनस्तुत्योः' कर्तरि लिट् ॥ ६ ॥

कथं स्तुवन्ति स्मेत्यत आह—

नमो नमोऽस्तु ते प्रभो पराऽऽत्मरूपधारिणे ।
नमो नमोऽस्तु ते प्रभो जगत्प्रकाशकारिणे ॥ ७ ॥
नमोऽस्त्वनन्तशक्तये जगज्जनोपकारिणे ।
अनन्तभावभासते नमोऽस्तु ते स्वयंभुवे ॥ ८ ॥

हे प्रभो ! परं प्रकृष्टं आत्मनः स्वस्य रूपं स्वभावं धारयति तच्छीलः पराऽऽत्मरूपधारी तस्मै ते तुभ्यं नमोऽस्तु । भूयोऽस्माकं नमस्कारोऽस्त्वित्यर्थः । पुनर्हे प्रभो ! जगत्सु त्रैलोक्ये प्रकाशमुद्द्योतं करोतीति तच्छीलो जगत्प्रकाशकारी तस्मै ते तुभ्यं नमो नमोऽस्तु ॥ ७ ॥

तथा हे प्रमो ! अनन्ता शक्तिर्यस्य सोऽनन्तशक्तिस्तस्मै अत एव जगज्जनोपकारिणे त्रैलोक्यलोकोपकारकरणशीलाय तुभ्यं नमोऽस्तु । पुनर्हे प्रमो ! अनन्ता ये भावाः पदार्था द्रव्यपर्यायादयस्तेषु प्रकाशकत्वाद्भास्वान् सूर्य इव अनन्तभावभास्वान् तस्मै, तथा स्वयमात्मना परोपदेशव्यतिरेकेणैव भवतीति तीर्थप्रवर्तकः संबुद्धो वेति स्वयंभूस्तस्मै ते तुभ्यं नमोऽस्तु ॥ ८ ॥

इति प्रणूय किन्नरा जिनेशभक्तितत्पराः ।
सुमन्द्रमध्यतारकैः स्वरैः पुरो यशो जगुः ॥ ९ ॥

इतीत्थं प्रणूय स्तुत्वा तेषु देवेषु ये किन्नरा व्यन्तरविशेषा देवास्ते जिनेशस्य भगवतो भक्तौ तत्पराः सन्तः सुष्ठु शोभनैर्मन्द्रमध्यतारकैरुरःकण्ठशिरोभवैः स्वरैः, षड्जादिभिः पुरः प्रभोरग्रे यशो भगवत्कीर्तिं जगुर्गायन्ति स्म । प्रणूयेति । 'णू स्तवे' अस्मात् क्त्वो ल्यप् । सुमन्द्रेत्यादि । तारकैरित्यत्र स्वार्थे कप् । 'ते मन्द्रमध्यताराः स्युरुरःकण्ठशिरोभवाः' इति हेमः । 'तारोऽत्युच्चैर्ध्वनिर्मन्द्रो गंभीरः' इति च ॥ ९ ॥

अथ भगवतो विहारसमयेऽग्रतः किं चचालेत्याह—

सहस्रसङ्ख्यकैररैर्विनिर्मितं मणीमयम् ।
इवाऽर्कमण्डलं नभोगतं स्फुरन्महांप्रभम् ॥ १० ॥
जयाय धर्मचक्रिणश्चचाल चक्रमग्रतः ।
तदीयरोचिषा निशा दिवस्वरूपमादधे ॥ ११ ॥—युग्मम् ।

सहस्रं सङ्ख्या येषां ते सहस्रसङ्ख्यास्त एव सहस्रसङ्ख्यकास्तैररैश्चक्रावयवैर्विनिर्मितं रचितं पुनर्मणीनां विकारो मणीमयं रत्नमयं तथा-

एवमग्रेऽपि । हिः पादपूरणे । प्रमायेति । प्रपूर्वान्माङो ल्यपि 'न ल्यपि' (६।४।६९) इतीत्वाभावः । दुद्रुवुरिति । 'द्रु गतौ' अस्मात्कर्तरि लिट् ॥ ५ ॥

ततस्ते सुराः किं कृतवन्त इत्याह—

पुरा निपीय लोचनैर्महामहोभिरञ्चितम् ।
कृतप्रदक्षिणात्रया जगत्प्रभुं ववन्दिरे ॥ ६ ॥

ते चतुर्विधा देवा अञ्चितं त्रैलोक्यपूजितं जगत्प्रभुं श्रीवीरजिनेश्वरं पुरा पूर्वं महन्महः प्रभा येषां तानि महामहांसि तैरतिभास्वरैर्लोचनैर्नेत्रैर्निपीय सादरं विलोक्य कृतं प्रदक्षिणात्रयं यैस्ते कृतप्रदक्षिणात्रयाः सन्तो भगवन्तं ववन्दिरे प्रणामपूर्वकं स्तुवन्ति स्म । निपीयेति । निपूर्वात् 'पीङ् पाने' इति दैवादिकात् क्त्वो ल्यप् । महोभिरिति । 'भा मयूखमहसी छविर्विभा' इति हैमः । ववन्दिरे इति । 'वदि अभिवादनस्तुत्योः' कर्तरि लिट् ॥ ६ ॥

कथं स्तुवन्ति स्मेत्यत आह—

नमो नमोऽस्तु ते प्रभो पराऽऽत्मरूपधारिणे ।
नमो नमोऽस्तु ते प्रभो जगत्प्रकाशकारिणे ॥ ७ ॥
नमोऽस्त्वनन्तशक्तये जगज्जनोपकारिणे ।
अनन्तभावभासते नमोऽस्तु ते स्वयंभुवे ॥ ८ ॥

हे प्रभो ! परं प्रकृष्टं आत्मनः स्वस्य रूपं स्वभावं धारयति तच्छीलः पराऽऽत्मरूपधारी तस्मै ते तुभ्यं नमोऽस्तु । भूयोऽस्माकं नमस्कारोऽस्त्वित्यर्थः । पुनर्हे प्रभो ! जगत्सु त्रैलोक्ये प्रकाशमुद्द्योतं करोतीति तच्छीलो जगत्प्रकाशकारी तस्मै ते तुभ्यं नमो नमोऽस्तु ॥ ७ ॥

तथा हे प्रभो ! अनन्ता शक्तिर्यस्य सोऽनन्तशक्तिस्तस्मै अत एव जगज्जनोपकारिणे त्रैलोक्यलोकोपकारकरणशीलाय तुभ्यं नमोऽस्तु । पुनर्हे प्रभो ! अनन्ता ये भावाः पदार्था द्रव्यपर्यायादयस्तेषु प्रकाशकत्वाद्भासान् सूर्य इव अनन्तभावभास्वान् तस्मै, तथा स्वयमात्मना परोपदेशव्यतिरेकेणैव भवतीति तीर्थप्रवर्त्तकः संबुद्धो वेति स्वयंभूस्तस्मै ते तुभ्यं नमोऽस्तु ॥ ८ ॥

इति प्रणूय किन्नरा जिनेशभक्तितत्पराः ।
सुमन्द्रमध्यतारकैः स्वरैः पुरो यशो जगुः ॥ ९ ॥

इतीत्थं प्रणूय स्तुत्वा तेषु देवेषु ये किन्नरा व्यन्तरविशेषा देवास्ते जिनेशस्य भगवतो भक्तौ तत्पराः सन्तः सुष्ठु शोभनैर्मन्द्रमध्यतारकैरुरःकण्ठशिरोभवैः स्वरैः, षड्जादिभिः पुरः प्रभोरग्रे यशो भगवत्कीर्तिं जगुर्गायन्ति स्म । प्रणूयेति । 'णू स्तवे' अस्मात् क्त्वो ल्यप् । सुमन्द्रेत्यादि । तारकैरित्यत्र स्वार्थे कप् । 'ते मन्द्रमध्यताराः स्युरुरःकण्ठशिरोभवाः' इति हेमः । 'तारोऽत्युच्चैर्ध्वनिर्मन्द्रो गंभीरः' इति च ॥ ९ ॥

अथ भगवतो विहारसमयेऽग्रतः किं चचालेत्याह—

सहस्रसङ्ख्यकैररैर्विनिर्मितं मणीमयम् ।
इवार्कमण्डलं नभोगतं स्फुरन्महाप्रभम् ॥ १० ॥
जयाय धर्मचक्रिणश्चचाल चक्रमग्रतः ।
तदीयरोचिषा निशा दिवस्वरूपमाददे ॥ ११ ॥—युग्मम् ।

सहस्रं सङ्ख्या येषां ते सहस्रसङ्ख्यास्त एव सहस्रसङ्ख्यकास्तैररैश्चक्रावयवैर्विनिर्मितं रचितं पुनर्मणीनां विकारो मणीमयं रत्नमयं तथा-

ऽर्कमण्डलं सूर्यबिम्बमिव नभोगतमाकाशं प्राप्तं पुनः स्फुरन्ती सर्वतः संचरन्ती महाप्रभा यस्य तत् तथोक्तम् ॥ १० ॥

एवंविधं चक्रं धर्मचक्रं जयाय जयार्थं धर्मचक्रिणः श्रीवीरप्रभोः अग्रतश्चचाल अग्रे चलति स्म । तदा तस्य चक्रस्येदं तदीयं यद्रोचि-र्ज्योतिस्तेन निशा रात्रिरपि दिवस्य दिवसस्य स्वरूपं आदधे धारयति स्म । तत्प्रकाशेन हि भगवद्विहाररात्रिर्दिवसप्रायाऽभूदित्यर्थः । मणीति । मणीशब्दस्य पुंस्त्रीलिङ्गत्वात्कृदिकारादिति स्त्रियां पाक्षिको ङीप् । धर्मेत्यादि । धर्मचक्रमस्यास्तीति मत्वर्थे इनिः । धर्मचक्री तस्य । दिवेति । दिवशब्दोऽदन्तः । आदधे इति । आङ्पूर्वाद्धाञः कर्त्तरि लिट् ॥ ११ ॥

ततोऽनुकूलमारुतेरितस्फुरत्पताकया ।
प्रभोः पथा चलन्तु भोयिति प्रणोदयन्निव ॥ १२ ॥
ध्वजोऽन्तरिक्षगोऽचलत् सहस्रयोजनोच्छ्रितः ।
सुरा हि यस्य वाहकाः कथं महिम्नि संशयः ॥ १३ ॥—युग्मम् ।

ततस्तदनन्तरं अन्तरिक्षमाकाशं गच्छति प्राप्नोतीत्यन्तरिक्षगो नभसस्तथा सहस्रयोजनानि उच्छ्रित उच्चोऽनेकपताकापरिमण्डितो रत्नमयो ध्वजः प्रभोः पुरोऽचलत् । किं कुर्वन्निव । अनुकूलोऽनुलोमो यो मारुतो वायुस्तेन ईरिता कम्पिताऽत एव स्फुरन्ती इतस्ततः संचरन्ती या पताका तया भो लोकाः । प्रभोः पथा प्रभूपदिष्टमार्गेण चलन्तु इति प्रणोदयन् प्रेरयन्निव भव्यलोकानिति शेषः । युक्तोऽयमर्थः—हि यतः कारणात् यस्य ध्वजस्य सुरा देवा वाहकाः मापकाः तस्य महिम्नि महत्त्वे कथं केन प्रकारेण संशयः सन्देहः ? न कथमपीत्यर्थः । इह पताकानां बहुत्वेऽपि पताकयेति जातावेकवचनम् ।

मोयिति । 'भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि' (८।३।१७) इति 'रो रि' (८।३।१४) आदेशे 'लोपः शाकल्यस्य' (८।३।१९) इत्यस्य वैकल्पिकत्वान्न यलोपः ॥ १२ ॥ १३ ॥

विचित्ररत्नमण्डितं ततो हिरण्मयासनम् ।
श्रमापनोदनक्षणे यदाश्रयेत तीर्थराट् ॥ १४ ॥
सपादपीठमम्बरे सुरांसगं चचाल तत् ।
इवाध्वनि सुधाभुजामखण्डचन्द्रमण्डलम् ॥ १५ ॥—युग्मम् ।

ततस्तदनन्तरं श्रमस्य खेदस्याऽपनोदनं दूरीकरणं तस्य क्षणे प्रस्तावे यत् सिंहासनं तीर्थराट् श्रीवीरतीर्थराज आश्रयेत आरोहेत्, उपविशेदिति यावत् । तद्विचित्रैरनेकविधै रत्नैर्मण्डितं खचितं सपादपीठं पादपीठेन सह वर्त्तमानं सुराणामंसेषु स्कन्धेषु गच्छतीति सुरांऽसगं एवंविधं हिरण्मयासनं स्वर्णसिंहासनं अम्बरे आकाशे चचाल तत् सिंहासनं किमिव सुधाभुजां देवानामध्वनि मार्गेऽखण्डं चन्द्रमण्डलमिव । प्रकाशकत्वादिति भावः । हिरण्मयेत्यादि । हिरण्यस्य विकारो हिरण्मयं 'दाण्डिनायन—' (६।४।१७४) इत्यादिसूत्रेण निपातनाद्यलोपः । 'स्वर्णं हेम हिरण्यहाटके'त्यादि हैमः । हिरण्मयं च तदासनं चेति विग्रहः । सपादपीठमिति । 'पादपीठं पदासन'-मिति हैमः। सुरांसेत्यादि। 'अंसो भुजशिरःस्कंध' इति हैमः ॥

तदुद्वहन्त ऐश्वरासनं सुरा यथाक्रमम् ।
परस्परार्थनापरा निजान् भुजानपीपवन् ॥ १६ ॥

परस्परेभ्योऽर्थना प्रार्थना परस्परार्थना तस्यां परास्तत्पराः सुरा देवाः तत्पूर्ववर्णितं ईश्वरस्य भगवत इदं ऐश्वरं आसनं सिंहासनमुद्व-

हन्तः सन्तो यथाक्रममनुक्रमेण निजान् सुजान् अपीपवन् पावयन्ति स । पवित्रीकुर्वन्ति स्मेति यावत् । अपीपवन्निति । हेतुमण्णिजन्तात् 'पूङ् पवने' धातोर्लुङ् । 'ओः पुयण्ज्यपरे' (७।४।८०) इति अभ्यासोकारस्येत्वं, ततो दीर्घः ॥ १६ ॥

प्रलम्बमानमौक्तिकावलीकलापमालितम् ।
इवेन्दुबिम्बमास्रवत्सुधासुबिन्दुसुन्दरम् ॥ १७ ॥
विजृम्भमाणमालतीविशालमालिकार्चितम् ।
ध्वनद्द्विरेफझङ्कृतिप्रकाशितश्रि दूरतः ॥ १८ ॥
सुरत्नदण्डमण्डितं विहायसि प्रभासितम् ।
उपर्युपर्यधीश्वरं त्रिधातपत्रमस्फुरत् ॥ १९ ॥—त्रिभिर्विशेषकम् ।

विहायसि आकाशेऽधीश्वरमुपर्युपरि अधीश्वरस्य भगवत उपरिष्टात्समीपप्रदेशे त्रिधाऽतपत्रं भुवनत्रयस्वामित्वसूचनात्रिविधं छत्रं, छत्रत्रयमित्यर्थः । अस्फुरत् चलति स्म । कीदृशं तदित्याह—प्रलम्बमाना या मौक्तिकावल्यो मुक्ताफलमालास्तासां कलापैः समूहैर्मालितं युक्तं अत एव सुन्दरं रम्यम् । किमिव । आस्रवन्तः क्षरन्तः सुधाया अमृतस्य सुष्ठु शोभना बिन्दवो यस्य तत्तथोक्तं इन्दुबिम्बं चन्द्रमण्डलमिव यथैतत्सुन्दरं भवति तथा तदित्यर्थः । पुनः कीदृशम् । विजृम्भमाणा विकसन्ती या मालती जातिलता तस्याः पुष्परूपा या विशाला विस्तीर्णा या मालिका मालास्ताभिरर्चितं पूजितं शोभितमित्यर्थः । पुनर्दूरतो ध्वनन्तो ध्वनिं कुर्वाणा ये द्विरेफाः भ्रमरास्तेषां झङ्कृतिर्झङ्कारशब्दस्तया प्रकाशिता प्रादुष्कृता श्रीः शोभा यस्य तत्तथोक्तं पुनः सुष्ठु शोभनानि यानि रत्नानि तेषां दण्डेन मण्डितं तथा प्रभासितं दीप्तिमन्तम्, यद्वा प्रभया दीप्त्या सितमुज्ज्वलं श्वेतदीप्तिमन्त-

मित्यर्थः । प्रकाशितश्रीति । नपुंसकत्वाद् ह्रस्वत्वम् । विहायसीति । 'विहाय आकाशमनन्तपुष्करे' इति हैमः । सितमिति । 'श्वेतः श्येतः सितः शुक्ल' इति हैमः । उपर्य्युपरीत्यादि । 'उपर्यध्यधसः सामीप्ये' (८।१।७) इति द्वित्वम् । तद्योगे 'उभसर्वतसोः' (वा०) इत्यादिना द्वितीया । आतपत्रमिति । आतपात्त्रायते इति विग्रहः । अस्फुरदिति । 'स्फुर चलने' अस्मात्कर्तरि लिङ् ॥ १७–१९ ॥

चतुर्दिशासु चामरावली ततोऽप्यनोदिता ।
उदच्छलत्सुराननोच्छलज्जयारवैः समम् ॥ २० ॥

ततस्तदनन्तरं सुराणां देवानामाननेभ्यो मुखेभ्य उच्छलन्त उत्पाद्भवन्तो ये जयारवा जयशब्दास्तैः समं सार्द्धं अनोदिताऽप्रेरितापि चामराणामावली श्रेणिः चतुर्दिशासु प्रभोश्चतुर्दिक्षु उच्छलत् उच्छलति स्म उत्पतति स्मेति यावत् । चतुर्दिशास्विति । चतस्रश्च ता दिशाश्चेति विग्रहः । 'आर्षं चैव हलन्तानाम्' इति वचनाद्दिशेत्यत्राप् ॥ २० ॥

अतो घनं मरुत्पथे विकुर्व्य मेघमालिनः ।
जलच्छटाभिरार्द्रयांबभूवुरध्वमेदिनीम् ॥ २१ ॥

अतो अनन्तरं मेघमालिनो देवा मरुत्पथे आकाशे घनं मेघं विकुर्व्य विरच्य अध्वमेदिनीं भगवद्विहारमार्गपृथ्वीं जलच्छटाभिः आर्द्रयांबभूवुरार्द्रीचक्रुः । मरुत्पथे इति । 'अभ्रं सुराभ्रोडुमरुत्पथोऽम्बर'मिति हैमः । विकुर्व्येति । सामयिकधातुप्रयोगः । आर्द्रयामिति । करोत्यर्थणिजन्तादाम् ॥ २१ ॥

दिशः प्रसादमासदन्निशाऽप्यभून्महोज्ज्वला ।
विमोचितेत्यनीतिभिर्दराप्युदश्वसीत्सुखम् ॥ २२ ॥

पुनस्तदा दिशः सर्वा अपि प्रसादं प्रसन्नत्वं निर्मलत्वमिति यावत् आसदन् प्राप्नुवन्ति स्म । तथा निशा रात्रिरपि महोज्ज्वलाऽभूत् तथा पुनर्द्धरा पृथ्वी अपि भगवताऽनीतिभिरन्यायैर्मोचिता इति हेतोः सुखं यथा स्यात्तथाऽश्वसीत् श्वासं धृतवती । आसदन्निति । आङ्पूर्वात् 'षद्लृ'धातोर्लुङि लित्त्वात् च्लेरङ् । अश्वसीदित्यत्र 'ह्यन्तक्षण–' (७।२।५) इत्यादिना न वृद्धिः ॥ २२ ॥

सुक्लृप्तपुष्पवार्दलान्नभस्तलाच्च विच्युतैः ।
सुगन्धिभिः सुमोत्करैः सुरा महीं प्रतस्तरुः ॥ २३ ॥

च पुनस्तदा सुरा देवाः सुक्लृप्तानि सुनिर्मितानि पुष्पवार्दलानि पुष्पवर्षणाभ्राणि यत्र तत् तस्मान्नभस्तलादाऽऽकाशात् विच्युतैः पतितैस्तथा शुभो गन्धो येषु ते सुगन्धयस्तैः सुमानां पुष्पाणामुत्करैः समूहैर्महीं पृथ्वीं प्रतस्तरुः आच्छादयामासुः । सुगन्धिभिरिति । 'गन्धस्येदुत्पूति–' (५।४।१३५) इत्यादिना समासान्त इकारः । सुमेति । 'प्रसूनं कुसुमं सुम'मित्यमरः । प्रतस्तरुरिति । 'स्तृञ् आच्छादने' अस्मात्पूर्वाल्लिट् ॥ २३ ॥

स्थिरा अपि द्रुमा जलाशयाः सुमैश्च शीकरैः ।
तदानुयायिवायुनोपचेरुरर्च्यमीश्वरम् ॥ २४ ॥

तदा तस्मिन्नवसरे स्थिरा अपि द्रुमा वृक्षास्तथा जलाशया जलाऽऽधारास्तडागादयः अनुयायी अनुकूलो यो वायुः पवनस्तेन, प्रेरितैरिति शेषः । सुमैः पुष्पैश्च पुनः शीकरैर्जलकणैरर्च्यं त्रिजगत्पूज्यमीश्वरं भगवन्तमुपचेरुराराधयामासुः । भगवद्भक्तौ तत्परा बभूवुरित्यर्थः । द्रुमाः सुमैः जलाशयाश्च शीकरैरिति क्रमेण योज्यम् । स्थिरा अपीति ।

१ 'सुक्लृप्त०' इति प्राचीमुद्रितपाठभिन्नः ।

जङ्गमा मनुष्यादयस्तु भगवदुपकण्ठमागत्य भक्तिं कुर्वन्त्येवेत्यपिशब्दार्थः । शीकरैरिति । 'वाताऽस्तं वारि शीकरः' इति हेमः । उपचेरुरिति । कर्तरि लिट् । अत्रोपपूर्वस्य चरधातोर्भक्तिरर्थः । 'शुश्रूषाराधनोपास्तिवरिवस्यापरीष्टयः । उपचारः' इति हैमकोशोक्तेः ॥ २४ ॥

पुरःस्थिता अपि द्रुमाः प्रणम्य रम्यमार्गगाः ।
विनिद्रपुष्पसंहतीरभिप्रभुं डुढौकिरे ॥ २५ ॥

पुनस्तदा रम्यं भगवद्विहारान्मनोहरमार्गं गच्छन्ति प्राप्नुवन्तीति रम्यमार्गगाः पुरोऽग्रे स्थिता द्रुमा अपि प्रणम्य प्रभुं नमस्कृत्य अभिप्रभुं प्रभोरभिमुखं विनिद्राणां विकस्वराणां पुष्पाणां संहतीः समूहान् डुढौकिरे ढौकन्ते स्म । प्राभृतीचक्रुरित्यर्थः । अभिप्रभुमिति । 'अभिरभागे' इति लक्षणेऽर्थेऽभेः कर्मप्रवचनीयत्वात्तद्योगे द्वितीया । डुढौकिरे इति । 'ढौकृ गतौ' कर्तरि लिट् ॥ २५ ॥

रविप्रभानुकारिणा खचारिचक्ररोचिषा ।
मृगाः प्रबोधिताः पथि प्रदक्षिणं प्रभोर्ययुः ॥ २६ ॥

पथि प्रभोर्विहारमार्गे रवेः प्रभामनुकरोति तुल्यति तच्छीलं रविप्रभानुकारितेन सूर्यकिरणसदृशेन खचारिण आकाशगामिनश्चक्रस्य धर्मचक्रस्य रोचिषा किरणेन प्रबोधिताः प्रबोधं नीता विनिद्रीकृता मृगा हरिणाः प्रभोर्भगवतः प्रदक्षिणं पार्श्वं ययुः । प्रदक्षिणगत्या यान्ति स्मेत्यर्थः ॥ २६ ॥

तथैव वामपार्श्ववर्तस्तरूनिवहाय पत्त्रिणः[1] ।
विधाय तोरणाकृतिं गतेर्ययुः प्रदक्षिणम् ॥ २७ ॥

---

१ 'पतत्रिणः' इति काशीमुद्रितपाठोऽयुक्तः, छन्दोभङ्गद्वान्यापातात् ।

तथैव तेनैव प्रकारेण पत्रं पिच्छमस्त्येषामिति पत्रिणः पक्षिणो मयूराद्या वामपार्श्वतस्तरून् वृक्षान् विहाय त्यक्त्वा गतेः स्वकीयगमनस्य तोरणाऽऽकृतिं विधाय तोरणाऽऽकृत्या गतिं कृत्वेत्यर्थः । प्रभोः प्रदक्षिणं पार्श्वं ययुः । पत्रिण इति । 'पत्रं पतत्रं पिच्छं वाजस्तनूरुह'मिति हैमः ॥ २७ ॥

तवाऽस्ति सिद्धिरित्यदो वचो बभूव पृष्ठतः ।
समेहि भो जयोऽस्ति ते पुरोऽपि गीरभूदिति ॥ २८ ॥

पुनस्तदा हे भगवन्, तव सिद्धिरस्ति इत्यद इत्येतत् पृष्ठतो वचो देववचनं बभूव । तथा—भो स्वामिन्, त्वं समेहि समागच्छ ते तव जयोऽस्ति इति पुरोऽग्रेऽपि गीर्देववाणी अभूत् ॥ २८ ॥

अनेकतूर्यनिःस्वनानुपातिकिन्नरस्वरैः ।
श्रवःसुखैकपात्रतामुवाह सर्वमम्बरम् ॥ २९ ॥

पुनस्तदा सर्वं अम्बरमाऽऽकाशं कर्तृ, अनेकानि यानि तूर्याणि वादित्राणि तेषां निःस्वना शब्दास्तान् अनुपतत्यनुसरति तच्छीला ये किन्नराणां स्वरास्तैः श्रवसां श्रोत्राणां सुखस्य एकपात्रतामद्वितीयभाजनत्वं उवाह धारयामास । 'वह प्रापणे' अस्मात्कर्तरि लिट् ॥२९॥

सुगन्धिनीरसंस्कृता ससौरभाऽप्यभून्मही ।
जगत्पतेः समागतेरुपस्क्रियेत किं न हि? ॥ ३० ॥

पुनस्तदा सुगन्धिनीरेण सुरभिजलेन संस्कृता संस्कारं नीता मही पृथ्वी अपि सह सौरभेण सौगन्ध्येन वर्तते इति ससौरभाऽभूत् । युक्तोऽयमर्थः—हि यतो जगत्पतेर्भगवतः समागतेः समागमनात् किं न उपस्क्रियेत? सर्वमपि संस्क्रियेतेत्यर्थः, देवादिभिरिति शेषः ॥

अत्रोपपूर्वात् कृञः कर्मणि लिट् । 'उपात्प्रतियत्न–' (६।१।१३९) इत्यादिना भूषणे सुट् ॥ ३० ॥

प्रतिप्रभुं सुराङ्गनाऽवकीर्णमौक्तिकोत्कराः ।
नमन्नमश्वरोडुभिः सरूपतां प्रपेदिरे ॥ ३१ ॥

पुनस्तदा प्रभुं प्रति सुराङ्गनाभिरवकीर्णा उच्छालिता ये मौक्तिकानामुत्कराः समूहास्ते नमन्तीव नमन्ति नम्रीभवन्ति यानि नभश्चराणि आकाशचारीणि उडूनि-नक्षत्राणि तैः सरूपतां समानरूपतां प्रपेदिरे प्राप्तवन्तः उज्ज्वलत्वाद्विकीर्णरूपत्वाच्च तत्तुल्या बभूवुरित्यर्थः । उडुभिरिति । 'तारकाप्युडु वा स्त्रिया'मित्यमरः । प्रपेदिरे इति । प्रपूर्वात् पदधातोः कर्तरि लिट् ॥ ३१ ॥

अधोगतानि कण्टकेप्सितान्यतः प्रभृत्यहो ।
अधोमुखास्तकण्टकाः पथीत्यवीविदन्निव ॥ ३२ ॥

पुनर्भगवद्विहारसमये पथि मार्गेऽधो मुखं येषां तेऽधोमुखा अस्ताः क्षिप्ता ये कण्टका दुःखप्रदा बब्बूलादिवृक्षाऽवयवास्ते इति अवीविदन्निव इति ज्ञापयन्ति स्मेव । इतीति किं ? । अहो लोकाः, अतः प्रभृति इत आरभ्य कण्टकानां कण्टकतुल्यदुष्टलोकानामीप्सितानि दुरध्यवसायरूपवाञ्छितानि अधोगतानि अदृश्यानि जातानीत्यर्थः । अवीविदन्निति । हेतुमण्णिजन्ता'द्विद-ज्ञाने' अस्माल्लुङ् ॥ ३२ ॥

जिनेन हेमपद्मयोः क्रमौ निधाय गच्छता ।
महादिसेनकाननस्थली सपद्यपूयत ॥ ३३ ॥

इत्थं विहाय मार्गे हेमपद्मयोः स्वर्णकमलयोरुपरि क्रमौ चरणौ निधाय स्थापयित्वा गच्छता विहारं कुर्वता जिनेन श्रीवीरपरमेश्वरेण

संपदि शीघ्रं महादिसेनकाननस्य महसेनवनस्य स्थली भूमिः अपूयत स्वचरणन्यासैः पवित्रीक्रियते स्म, तत्राऽजग्मे इति भावः । यद्यप्यत्र हैमः पद्मद्वयमुक्तं तथापि नवपद्मानि बोध्यानि । क्रमाविति । 'पदोऽङ्घ्रिश्चरणः क्रम' इति हैमः । महादीत्यादि । महत्शब्द आदिर्यस्य तन्महादि, ततो द्विः कर्मधारयगर्भस्तत्पुरुषः । अपूयतेति । पूङः कर्मणि लङ् ॥ ३३ ॥

सुवर्णरत्नवप्रयोर्जिनालयेऽन्तरालगे ।
न्यधायि निर्जरैरधो निजांससंस्थमासनम् ॥ ३४ ॥

तदनन्तरं निर्जरैः सुरैर्निजांससंस्थं स्वस्कन्धस्थं आसनं सिंहासनं सुवर्णं च रत्नं च सुवर्णरत्ने तयोर्वप्रौ प्राकारौ तयोरन्तरालं गच्छतीति तस्मिन् अन्तरालगे मध्यस्थे जिनालये देवच्छन्दके अधो न्यधायि अधः स्थाप्यते स्म । निपूर्वाद्धाञः कर्मणि लुङ् ॥ ३४ ॥

त्रिलोकनाथमन्दिरं तदा सुराऽसुरैर्वृतम् ।
रराज खेचरावलीप्रवेष्टिताद्रिराजवत् ॥ ३५ ॥

तदा तस्मिन्नवसरे सुरासुरैर्वृतं वेष्टितं त्रिलोकनाथस्य भगवतो मन्दिरं समवसरणं खेचराणां ज्योतिष्काणामावलीभिः श्रेणीभिः प्रकर्षेण वेष्टितो योऽद्रिराजो मेरुगिरिस्तद्वत् रराज शोभते स्म । त्रिलोकेति । त्रिसङ्ख्यो लोकस्त्रिलोक इत्यादिविग्रहः । न च समाहारे द्विगुः, तथात्वे 'द्विगोः' (४।१।२१) इति ङीप्प्रसङ्गात् ॥३५॥

अमण्डयंश्च ताण्डवं सुराः सुनृत्यपण्डिताः ।
जगुश्च केऽपि गायनाः प्रभोश्चरित्रमाऽऽजने ॥ ३६ ॥

पुनस्तदा आ समन्ताज्जना लोका यत्र तदाजनं प्रस्तावात्समवसरणं तस्मिन् सुष्ठु शोभनं यन्नृत्यं नर्तनं तत्र पण्डिता निपुणाः केऽपि सुराः

देवास्ताण्डवं नृत्यममण्डयन्, धातूनामनेकार्थत्वात् कुर्वन्ति स्मेत्यर्थः । च पुनस्तत्र केऽपि गायना गानक्रियाकर्त्तारो देवाः प्रभोश्चरित्रमाचारं जगुर्गायन्ति स्म । ताण्डवमिति । 'लास्यं नाट्यं च ताण्डव'मिति हैमः ॥ ३६ ॥

तथा श्रुतेषु विश्रुतान् गुणांश्च केऽपि तुष्टुवुः ।
सुराश्च केऽपि सादरं मुहुः प्रणेमुरीश्वरम् ॥ ३७ ॥

तथा तेनैव प्रकारेण केऽपि सुराः श्रुतेषु सिद्धान्तेषु विश्रुतान् प्रसिद्धान् प्रभोर्गुणान् निरुपमशममार्दवादीन् तुष्टुवुः स्तुवन्ति स्म । चः समुच्चये, च पुनः केऽपि सुरा ईश्वरं श्रीवीरपरमेश्वरं सह आदरेणेति सादरं यथा स्यात्तथा मुहुर्वारंवारं प्रणेमुः प्रणमन्ति स्म ॥ ३७ ॥

प्रणीय जानुसंमितां चितिं प्रसूनपाततः ।
विभूषितां वसुन्धरां व्यधुश्च केऽपि योजनम् ॥ ३८ ॥

च पुनः केऽपि सुराः प्रसूनानां पुष्पाणां पातनं पातो वर्षणं तस्मात् जानुसंमितां जानुप्रमाणां चितिं चयं पुष्पपुञ्जं प्रणीय कृत्वा योजनं योजनप्रमाणां वसुंधरां समवसरणपृथ्वीं विभूषितां शोभितां व्यधुः कुर्वन्ति स्म ॥ ३८ ॥

महस्यमुत्र केचन स्वसुन्दरीभिरर्थिताः ।
प्रसादनाय चापरे स्वभर्तुरेव नाकिनः ॥ ३९ ॥
स्वमित्रनोदिताः परेऽपरे स्वकीयभक्तितः ।
कुतूहलेन केऽपि च प्रमोदमाप्य चाययुः ॥४०॥–युग्मम् ।

अमुत्र अमुष्मिन् महसि उत्सवे केचन नाकिनः केचिद्देवाः स्वसुन्दरीभिर्निजदेवाङ्गनाभिरर्थिताः प्रार्थिताः सन्तः आययुः आग-

च्छन्ति स । च पुनरपरेऽन्ये केचिद्देवाः स्वभर्तुः स्वस्वामिनः एव प्रसादनाय प्रसन्नताकरणाय आययुः ॥ ३९ ॥

परेऽन्ये केचिद्देवाः स्वमित्रैर्नोदिताः प्रेरिताः सन्तस्तत्रायुयुः । तथाऽपरे केचिद्देवाः स्वकीयभक्तितस्तत्राययुः । च पुनः केऽपि देवाः कुतूहलेन कौतुकेन प्रमोदं हर्षमाप्य प्राप्य तत्राऽऽययुः ॥ ४० ॥

ततः किं जातमित्याह—

इत्थं महोत्सवमयीव महोज्ज्वलाभा
देवागमेन दिवसादपि दीप्यमाना ।
श्रीवर्द्धमानजिनराजविहारपूता
राज्यं प्रदाय दिवसाय निशा पपार ॥ ४१ ॥

इत्थममुना प्रकारेण महोत्सवः स्वरूपमस्या इति महोत्सवमयी इव महोत्सवभूतेव पुनर्देवानामागम आगमनं तेन महोज्ज्वलाऽत्युज्ज्वला आभा प्रभा यस्याः सा तथोक्ताऽत एव दिवसादपि दीप्यते इति दीप्यमाना तथा श्रीवर्द्धमानजिनराजस्य वीरपरमेश्वरस्य विहारेण पूता पवित्रा एवंभूता निशा रात्रिर्दिवसाय राज्यं प्रदाय दत्वा स्वयं पपार परिपूर्णतां प्राप्ता । एतेन निशा व्यतीता, दिवसश्च उदित इति भावः । पपारेति । 'पॄ पालनपूरणयोः' अस्मात्कर्त्तरि लिट् ॥ ४१ ॥

इदं वसन्ततिलकावृत्तं । तल्लक्षणं च—'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति ॥

इति भगवदागमनवर्णनो नाम तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

इति स्पष्टम् ॥

इति श्रीगौतमीयप्रबन्धव्याख्याने गौतमीयप्रकाशाभिधाने तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

चतुर्थः सर्गः ।

अथोदियायारुणरोचिषारुणः
सरोजपण्डानि करैर्विकासयन् ।
दिवस्पृथिव्यावपि रोध्रमिश्रितै-
स्तथानुलिम्पन्निव यावकद्रवैः ॥ १ ॥

यदीयसंसर्गविवर्जितः पुरा द्विजेन्द्रभूतिः श्रुतपारगोऽपि सन् ।
चकार बालोचितयाज्ञिकक्रियां स वर्द्धमानः प्रतिमां पुनातु मे ॥१॥

अथानन्तरं आरुणरोचिषा रक्तदीप्त्या उपलक्षितः पुनः करैः स्वकिरणैः सरोजपण्डानि कमलवनानि विकासयन् विकस्वराणि कुर्वन् अरुणः सूर्यः उदियाय उदयं प्राप्तवान् । किं कुर्वन्निव ? । रोध्रेण वृक्षविशेषचूर्णेन मिश्रितैर्मिलितैर्यावकद्रवैरलक्तककर्दमैर्दिवस्पृथिव्यावपि आकाशपृथिव्यावपि, तथा तेन प्रकारेण अनुलिम्पन्निव लिप्ते कुर्वन्निव । आस्तां ग्रामनगरादिप्रदेश इति अपिशब्दार्थः । उद्गच्छत् सूर्यदीप्तितुल्यतानिष्पादनार्थं रोध्रमिश्रितैरिति विशेषणम् । उदियायेति । उत्पूर्वादिण् धातोः कर्त्तरि लिट् । दिवस्पृथिव्याविति । द्यौश्च पृथिवी चेति विग्रहः । 'दिवसश्च पृथिव्याम्' (६।३।३०) इति दिव्शब्दस्य दिवसादेशः । अत्र सर्गे प्रायो वंशस्थच्छंदः, तल्लक्षणं च—'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' इति ॥ १ ॥

गजेन्द्रगत्या च ततस्त्रिकालवित् सरन्नवस्वर्णसरोजपङ्क्तिषु ।
दधत्क्रमाम्भोजयुगं यथाक्रमं चचार चैत्यद्रुमसंमुखं प्रभुः ॥२॥

ततः सूर्योदयानन्तरं त्रिकालवित्—समुत्पन्नकेवलालोकेन त्रिकालवेत्ता, प्रभुर्वीरपरमेश्वरः सरन्ति चलन्ति नवनवसङ्ख्यानि यानि स्वर्णसरोजानि

स्वर्णकमलानि तेषां पङ्क्तिषु श्रेणिषु क्रममनतिक्रम्येति यथाक्रमं क्रमेण द्वयोर्द्वयोः स्वर्णपद्मयोरित्यर्थः । क्रमाम्भोजयोश्चरणकमलयोर्युगं युगलं दधत् धारयत् गजेन्द्रगत्या गजराजसदृशगत्या चैत्यद्रुमस्य समवसरण-मध्यस्थाशोकवृक्षस्य संमुखं चचार सञ्चरति स । चः पादपूरणे । दधदिति । 'नाभ्यस्ताच्छतुः' (७।१।७८) इति न नुम् । चैत्येति । 'चैत्यं जिनौकस्तद्बिम्बं चैत्यो जिनसभातरु'रित्यनेकार्थः । 'ननु स्वर्ण-पद्मयोः पदस्थापनं तु प्राक्तने सर्गे उक्तमेवासीत्पुनरत्र तदुक्तिः कथमिति' चेदुच्यते—पूर्वं संक्षेपत उक्तम्, अत्र किंचिद्विस्तर इति न दोषः॥२॥

अचेलतां बिभ्रदपि प्रभाभरैरुदारवासोभिरिवोपशोभितः ।
विनाप्यलङ्कारभरावधारणं विभूषणाढ्यस्य रमामिवोद्वहन् ॥ ३ ॥
सितातपत्रत्रितयाधरे चरन् विलोलवालव्यजनाभिवीजितः ।
समुत्थविष्वग्जयशब्दसूचितः समागमद्रत्नचतुष्किकामिनः ४

भगवान् अचेलतां निर्वस्त्रतां बिभ्रदपि धारयन्नपि प्रभाभरैः स्वदेहदीप्तिसमूहैः उदारवासोभिः प्रधानवस्त्रैरिव उपशोभितः पुनर-लंकारभरस्य विभूषणसमूहस्यावधारणं देहे स्थापनं विनापि विभूषणै-राढ्यस्य समृद्धस्य रमां लक्ष्मीं उद्वहन्निव धारयन्निव ॥ ३ ॥

एवंविध इनः श्रीवीरस्वामी सितं श्वेतं यदातपत्रत्रितयं छत्रत्रयं तस्याऽधरेऽधःप्रदेशे चरन् चलन् पुनर्विलोलानि चपलानि यानि वालव्यजनानि चामराणि तैरभिवीजितः समन्ताद्वीजितः सन् तथा समुत्थो देवमुखात्समुत्पन्नो विष्वक् समन्ताद्यो जयशब्दस्तेन सूचितो ज्ञापितः सन् रत्नचतुष्किकां तृतीयवप्रमध्यस्थमणिवेदिकां समागमत् आगच्छति स्म । विष्वगिति । 'परितः सर्वतो विष्वक् समन्ताच्च समन्ततः' इति हैमः ॥ ४ ॥

इमां समारुह्य सुरासुरेश्वरो
दिशस्तु प्राच्याः प्रविवेश तोरणम् ।
ततः परिक्रम्य हरेर्दिगासने
'नमोऽस्तु तीर्थाय' वदन्नुपाविशत् ॥ ५ ॥

तु इति विशेषे, सुराऽसुराणामीश्वरो भगवान् वीर इमां मणिपीठिकां समारुह्य प्राच्याः पूर्वस्या दिशस्तोरणं प्रविवेश ततः परिक्रम्य चैत्यद्रुमस्य प्रदक्षिणां विधाय 'तीर्थाय नमोऽस्तु' इति वदन् जल्पन् हरेरिन्द्रस्य दिक् पूर्वा तस्यां यदासनं सिंहासनं तस्मिन् उपाविशत् उपविशति स्म । तीर्थशब्देनात्र सङ्घ उच्यते । प्राच्या[1] इति । 'पूर्वा प्राची दक्षिणाऽपाची'ति हैमः । अत्र प्राक्षरे परे पूर्वह्रस्वस्य गुरुत्वाच्छन्दोभङ्गो न शङ्क्यः, छन्दःशास्त्रे ह्रमशब्दयोः परयोः पूर्वह्रस्वस्य विभाषया गुरुत्वाभिधानात् ॥ ५ ॥

असह्यतेजो न विपद्यते परै-
रतोऽस्य लोकैः सुलभं न दर्शनम् ।
इति प्रमायाऽनिमिषैः प्रभोर्महो-
ऽपवर्त्य भामण्डलमेकतः कृतम् ॥ ६ ॥

न्यधीयतास्यैव वराङ्गपृष्ठत-
स्ततोऽत्र नाथः प्रतिबिम्बपाततः ।
समस्तकाष्ठास्वपि संमुखं स्थितः
समस्तसिंहासनगोऽप्यलक्ष्यत ॥ ७ ॥—युग्मम् ।

---

१ तथा च छन्दःकौस्तुभे—
"अनुस्वारो विसर्गो च दीर्घो युक्तपरस्तथा ।
वर्णो गुरुर्वेयो ह्रे पादान्ते चापि वा लघुः ॥"

अस्य भगवतोऽसह्यतेजोऽन्येषां सोढुमशक्यं तेजोऽपरैर्लोकैर्न विपह्यते न विशेषेण सह्यतेऽतोऽस्य दर्शनं लोकैर्न सुलभं न सुभापं, दुर्लभं भविष्यतीत्यर्थः । इति प्रमाय इति ज्ञात्वाऽनिमिषैर्देवैः प्रभोर्महस्तेजोऽपवर्त्त्य सह्यं विहाय असह्यं गृहीत्वा भामण्डलं प्रभाचक्रं एकतः कृतं एकत्रीकृतमित्यर्थः ॥ ६ ॥

तद्भामण्डलमस्यैव भगवतो यद्वराङ्गं मस्तकं तस्य पृष्ठतः पृष्ठदेशे न्यधीयत स्थाप्यते स्म । अत्रानिमिषैरिति कर्तृपदमुक्तमेव, ततस्तत्पृष्ठस्थापनानन्तरं अत्र भामण्डले प्रतिबिम्बपाततः संमूलदेहस्य प्रतिबिम्बपतनात् नाथः श्रीवीरपरमेश्वरः समस्तकाष्ठासु सर्वदिक्षु अपि संमुखं स्थितस्तथा समस्तसिंहासनगः सर्वसिंहासनस्थोऽपि अलक्ष्यत दृश्यते स्म । लोकैरिति शेषः । यस्तु अत्र शेषदिक्त्रये भामण्डले एव प्रतिबिम्बसङ्क्रम उक्तो न तु पृथग्मूर्तित्रयं तन्मतान्तराश्रितं ज्ञेयम् । बृहत्कल्पादौ तु–'तिदिसिं पडिरूवयाय देवकया–' (उद्दे० १ भाष्य गा० ११८३) इत्यादिवचनात् शेषदिक्षु देवकृतं भगवत्तुल्यरूपं पृथग् मूर्तित्रयमुक्तमस्तीति । लोकैरिति । 'न लोकाव्यय–' (२।३।६९) इत्यादिना न षष्ठी । वराङ्गेति । 'वराङ्गं करणत्राणं शीर्षं मस्तकमित्यपी'ति हेमः । काष्ठेति । 'काष्ठाऽऽशादिग्हरित्ककुभि'ति हेमः ॥ ७ ॥

तदा निनेदुर्दिवि तूर्यकोटयो जयध्वनिश्च प्रससार सर्वतः ।
इवाभिषिक्तो जगदीशवापदेऽघुनैव देवैरयमित्यऽदृश्यत ॥ ८ ॥

तदा तस्मिन्नवसरे दिवि आकाशे तूर्याणां वेणुवीणामृदङ्गादीनां कोटयो निनेदुर्निनादं कुर्वन्ति स्म । च पुनः सर्वतः सर्वदिक्षु जयध्वनिर्जयजयशब्दः प्रससार प्रसरति स्म । ततश्च देवैरयं भगवान्

अद्यैव इदानीमेव जगदीशतापदे त्रैलोक्यप्रभुतापदेऽभिषिक्त इव कृताऽभिषेक इव इति अदृश्यत, लोकैरिति शेषः। दृशेः कर्मणि लङ्॥ ८॥

अथ यज्जातं तदाह—

द्विजाश्रयोऽत्राऽवसरे तु गुर्वराभिधोऽभवत्संवसथस्तदन्तिके।
इहावसद्गौतमगोत्रभास्करो द्विजातिरिन्द्रादिमभूतिराख्यया॥९॥

'तु' इति विशेषे, अत्राऽस्मिन्नवसरे तदन्तिके तस्य समवसरणस्य समीपे द्विजानां ब्राह्मणानामाऽऽश्रयो द्विजाश्रयः गुर्वरः अभिधा यस्य स गुर्वराभिधो गुर्वरनामकः संवसथो ग्रामोऽभवत्। इहाऽस्मिन् गुर्वर-ग्रामे गौतमगोत्रे भास्करः सूर्यतुल्यः आख्यया नाम्ना इन्द्रादिमभूतिः इन्द्रभूतिनामेत्यर्थः, द्विजातिर्ब्राह्मणोऽवसत्। अभिध इति। 'अथाऽऽह्वयोऽभिधा, गोत्रसंज्ञानामधेयाऽऽख्याऽऽह्वाऽभिख्याश्च, नाम चे'ति हैमः। इन्द्रादिमेति। आदौ भव आदिमः, इन्द्र आदिमो यस्य भूतिशब्दस्य इत्यादिविग्रहः॥ ९॥

अथ गौतमवर्णनमाह—

शरन्निशानायकरोत्करोज्ज्वलं
यशो यदीयं विललास भूतले।
अवाप पृथ्वीवसुभूतितस्तु यो
जनिं नृरत्नं स कथं भवेन्न हि?॥ १०॥

शरदः शरत्कालस्य यो निशानाथश्चन्द्रस्तस्य कराणां किरणानामुत्करः समूहः शरन्निशानाथकरोत्करस्तद्वदुज्ज्वलं निर्मलं यदीयं यशो भूतले विललास विलसति स्म, स्वेच्छया संचचारेत्यर्थः। तु

समुच्चयो देवीसमूहः स्वलक्षणैस्तथाविधोत्कृष्टशोभालज्जादिचिह्नैरत्रेन्द्रमूतावेव एकस्मिन्नाऽऽश्रये समैक्ष्यत दृश्यते स्म । एतावता निरुपमश्रीह्रीधीकीर्तयोऽस्यासन्निति भावः ॥ १२ ॥

अथास्य षडङ्गयादिचतुर्दशविद्यानिपुणत्वमाह—

अधीतपूर्वा खलु सर्वसत्कलाः
स्मृता इवासन्निह यस्य जन्मनि ।
तदस्य शिक्षाश्रुतपाठको गुरुर्व्यजी-
गणत्स्वस्य गुरुत्वगौणताम् ॥ १३ ॥

खल्वर्थेदर्थे, यतो यस्येन्द्रमूतेरिह जन्मनि सर्वाश्च ताः सत्कलाश्च सर्वसत्कलाः ? पूर्वमधीता अधीतपूर्वाः भवाऽभ्यस्ताः स्मृता इव स्मरणविषयीकृता इव आसन् अभूवन् । अप्रयासेनैव सर्वाः कलाः समीयुरित्यर्थः । तदस्मात्कारणात् अस्येन्द्रमूतेः शिक्षाश्रुतस्य अकारादिवर्णविवेचकशिक्षाशास्त्रस्य पाठकोऽध्यापको गुरुः स्वस्य यद्गुरुत्वं गुरुभावस्तस्य गौणतामप्रधानत्वमजीगणत् गणयति स्म । स्वस्य पाठजन्यस्य क्लेशस्याप्यऽभवनात् स्वतोऽप्यधिकतरविद्याप्रादुर्भावाच्चेति भावः । अधीतेत्यादि । 'भूतपूर्वे चरट्' (५।३।५३) इति निर्देशादत्रापि अधीतशब्दस्य पूर्वनिपातः । व्यजीगणदिति । चुरादिणिजन्ताद्गणसङ्ख्यानेऽस्मात्कर्तरि लुङ् । 'ई च गणः' (७।४।९७) इति अभ्यासस्य पक्षे ईत् ॥ १३ ॥

श्रुतेषु यत् सूत्रितमाद्यकोविदैः
सदौचितं नीतिविचारचेष्टितम् ।
तथैव कल्पोऽस्य भवन् स्वभावत-
श्चकार कल्पाऽऽगममात्मसाक्षिणम् ॥ १४ ॥

पुनर्यः इन्द्रभूतिः पृथ्वीवसुभूतितः पृथ्वीवसुभूतिनामभ्यां मातापितृभ्यां जनिमुत्पत्तिं अवाप प्राप्तवान् स नृरत्नं, मनुष्येषु रत्नतुल्यः कथं न हि भवेत् ? भवेदेवेत्यर्थः । जनिमिति । 'जननं जनिरुद्भव' इति हैमः ॥ १० ॥

सुलक्षणं सर्वमपि स्वभावतः
शरीरमेतस्य गुणानुवाच यत् ।
सुहृत्तयाऽनीक्षितलक्षणान्यपि
व्यभावयन्नस्य गुणास्तदुज्ज्वलाः ॥ ११ ॥

एतस्य इन्द्रभूतेः शरीरं यत्तस्मात्कारणाद्गुणान् गाम्भीर्यौदार्यादीन्, सुहृत्तया मित्रतया इन्द्रभूतेः सर्वमपि वस्तु स्वभावतः सुलक्षणं शोभनलक्षणयुक्तं उवाच कथयति स्म, तत्तस्मात्कारणात् उज्ज्वला गुणा अस्येन्द्रभूतेः अनीक्षितानि अदृष्टानि लक्षणान्यपि व्यभावयन् प्रादुरकुर्वन् प्रकटीकुर्वन्ति स्मेति यावत्, एतावताऽस्य शरीरेण ज्ञापितानि सुलक्षणानि गुणाः प्रादुश्चक्रुरिति भावः । व्यभावयन्निति । विपूर्वाद्भूधातोर्णिजन्ताद्भूधातोः कर्तरि लङ् ॥ ११ ॥

पृथक्पृथग्वर्षधराचलाश्रयाः
श्रुते श्रुताः श्रीप्रमुखास्तु देवताः ।
समैक्ष्यताऽत्रैव सुरीसमुच्चयः
स्वलक्षणैरेव तु तत्त्वदर्शिभिः ॥ १२ ॥

श्रुते सिद्धान्ते तु श्रीप्रमुखाः श्रीह्रीधीकीर्त्तिसंज्ञिका देवताः पृथक् पृथक् भिन्नो भिन्नो वर्षधराचलो हिमवदादिवर्षधरः पर्वत आश्रयो निवासस्थानं यासां ता एवंविधाः श्रुताः संतीति शेषः, 'तु' इति विशेषे, तत्त्वदर्शिभिस्तत्त्वज्ञानिभिरेव श्रीह्रीप्रमुखाः सुरी-

समुच्चयो देवीसमूहः स्वलक्षणैस्तथाविधोत्कृष्टशोभालज्जादिचिह्नैरत्रेन्द्रमूतावेव एकस्मिन्नाऽऽश्रये समैक्ष्यत दृश्यते स्म । एतावता निरुपमश्रीह्रीधीकीर्तयोऽस्यासन्निति भावः ॥ १२ ॥

अथास्य षडङ्ग्यादिचतुर्दशविद्यानिपुणत्वमाह—

अधीतपूर्वा खलु सर्वसत्कलाः
स्मृता इवासन्निह यस्य जन्मनि ।
तदस्य शिक्षाश्रुतपाठको गुरुर्व्यजी-
गणत्स्वस्य गुरुत्वगौणताम् ॥ १३ ॥

खल्वर्थदर्थे, यतो यस्येन्द्रमूतेरिह जन्मनि सर्वाश्च ताः सत्कलाश्च सर्वसत्कलाः ! पूर्वमधीता अधीतपूर्वाः भवाऽभ्यस्ताः स्मृता इव स्मरणविषयीकृता इव आसन् अभूवन् । अप्रयासेनैव सर्वाः कलाः समीयुरित्यर्थः । तदस्मात्कारणात् अस्येन्द्रमूतेः शिक्षाश्रुतस्य अकारादिवर्णविवेचकशिक्षाख्यास्त्रस्य पाठकोऽध्यापको गुरुः स्वस्य यद्गुरुत्वं गुरुभावस्तस्य गौणतामप्रधानत्वमजीगणत् गणयति स्म । स्वस्य पाठजन्यस्य क्लेशस्याप्यऽभवनात् स्वतोऽप्यधिकतरविद्याप्रादुर्भावाच्चेति भावः । अधीतेत्यादि । 'भूतपूर्वे चरट्' (५।३।५३) इति निर्देशादत्रापि अधीतशब्दस्य पूर्वनिपातः । व्यजीगणदिति । चुरादिणिजन्ताद्गणसङ्ख्यानेऽस्मात्कर्तरि लुङ् । 'ई च गणः' (७।४।९७) इति अभ्यासस्य पक्षे ईत् ॥ १३ ॥

श्रुतेषु यत् खनित्रमाधकोविदैः
सदौचितं नीतिविचारचेष्टितम् ।
तथैव कल्पोऽस्य भवन् स्वभावत-
श्चकार कल्पाऽऽगममात्मसाक्षिणम् ॥ १४ ॥

आद्यकोविदैः प्राचीनपण्डितैः श्रुतेषु आचारविचारशास्त्रेषु यत् सदा सर्वस्मिन् काले उचितं योग्यं नीतिविचारस्य न्यायविचारस्य चेष्टितं कर्म सूत्रितं रचितम्, अस्तीति शेषः। तथैव तेनैव प्रकारेण अस्येन्द्रभूतेः कल्य आचारः स्वभावतः स्वभावेन शास्त्राऽऽलोकनमन्तरेणैवेत्यर्थः। भवन् संपद्यमानः कल्पागममाचारप्रतिपादकशास्त्रमात्मनः स्वस्य साक्षिणं साक्षिभूतं चकार। भवन्निति। भूधातोर्लटः शतृ॥१४॥

पुरःसरोऽसौ पदवाक्यवेदिना-
मभूच्छिशुत्वेऽपि ललन् सलीलया।
ततो द्वयोर्गीर्पतिसर्पराजयो-
रयं तृतीयो भुवि पूज्यतापदे॥ १५॥

असौ इन्द्रभूतिः शिशुत्वे बालभावेऽपि आस्तां तारुण्ये इति अपिशब्दार्थः। सलीलया सक्रीडया ललन् विलासं कुर्वन् पदवाक्यवेदिनां पदवाक्यज्ञानभृतां शाब्दिकानां पुरःसरोऽग्रेसरोऽभूत्। ततस्तस्मात्कारणाद्द्वयोर्गीर्पतिसर्पराजयोः स्वर्गपातालस्थयोर्बृहस्पतिशेषनागयोर्मध्ये भुवि पृथिव्यां पूज्यतापदे पूज्यत्वस्थाने तृतीयोऽयं गौतमोऽभूदिति क्रियापदं पुनर्योज्यम् यथा स्वर्गे बृहस्पतिः पाताले च शेषनागस्तथा मर्त्यलोकेऽयं पूज्योऽभूदित्यर्थः। 'पदे'त्यादि-पदानि घटपटादीनि, वाक्यानि घटमानयेत्यादीनि सर्वशास्त्रानुगतानि तानि विदन्ति तच्छीला इति विग्रहः। वैयाकरणानां मते 'सुप्तिङन्तं पदम्', एकतिङ् वाक्यम्। नैयायिकानां तु 'शक्तं पदं' शक्तिमदित्यर्थः, पदसमूहो वाक्यम्। ललन्निति। 'लड विलासे' अस्माल्लटः शतृ, डलयोरेकत्वस्मरणाद्रूपसिद्धिः। गीर्पतीति। अहरादीनां पत्यादिष्विति पाक्षिको रेफः॥ १५॥

सुनृत्यसङ्गीतकवित्वकर्मणां
प्रसाधनीं छान्दसकर्मपद्धतिम् ।
अनन्यगम्यां यदसौ तथा न्ववे-
द्यथाऽधरोऽभूदपि पिङ्गलोरगः ॥ १६ ॥

यद्यस्मात्कारणात् सुनृत्यं च शोभननाट्यं सङ्गीतं च सम्यग्गानं कवित्वकर्म च काव्यकर्तृत्वादिकवित्वक्रिया तेषां प्रसाधनीं प्रकृष्ट-कारणभूतां पुनर्न अन्यैरेतद्व्यतिरिक्तैस्तादृशी गम्यते ज्ञायते या साऽनन्यगम्या ताम् । छन्दोवर्णमात्रावृत्तशास्त्रमधीयते ये ते छान्दसास्तेषां कर्म क्रिया प्रस्तारादिरूपा तस्य पद्धतिर्मार्गस्तां, 'नु' इति वितर्के, असौ गौतमस्तथा तेन प्रकारेण अवेद् जानाति स्म । यथा पिङ्गलोरगः छन्दःशास्त्रप्रकाशकः पिङ्गलनागोऽपि अधरोऽभूत् । एतदपेक्षया न्यूनोऽभूदित्यर्थः । अवेदिति । 'विद ज्ञाने' अदादि-कोऽस्मात्कर्तरि लङ् ॥ १६ ॥

रवीन्दुताराग्रहधिष्ण्यचारतः
प्रसाध्य कालत्रितयं निमित्तवित् ।
समस्तलोकस्य शुभाशुभान्यसौ
विवेद किं दैवविदां रहः स्थितम् ॥ १७ ॥

निमित्तं निमित्तप्रतिपादकं शास्त्रं वेत्तीति निमित्तवित्, असौ गौतमो रविश्च इन्दुश्च ताराश्च ग्रहाश्च धिष्ण्यानि च नक्षत्राणि रवीन्दुताराग्रहधिष्ण्यानि तेषां चरणं चारस्तस्मात् कालत्रयं भूत-भविष्यद्वर्तमानरूपं प्रसाध्य साधयित्वा समस्तलोकस्य शुभाऽशुभानि निमित्तानि वेद जानाति स्म । उक्तोऽयमर्थः—दैवं मानुषं शुभाऽशुभं

कर्म विदन्तीति दैवविदो ज्यौतिषिकास्तेषां किं रहः प्रच्छन्नं स्थितं ? प्रायो न किमपीति भावः ॥ १७ ॥

न लौकिकाऽलौकिकशब्दशक्तयः
पदार्थबोधे प्रभवन्ति या विना ।
निरुक्तयस्ताः श्रुतपारदृश्वतां
शशंसुरस्यैव सुधीसभोदरे ॥ १८ ॥

लोके व्याकरणे भवा लौकिकाः अलौकिकास्तद्विपरीता वैदका (वैदिक्यः) इत्यर्थः । एवंविधा ये शब्दास्तेषां शक्तयः सङ्केताः या निरुक्तीः विना पदार्थबोधे पदार्थज्ञानजनने न प्रभवन्ति न समर्था भवन्ति ता निरुक्तयः शब्दव्युत्पत्तयः सुधियां पण्डितानां सभा धीसभा तस्या उदरे मध्येऽस्य गौतमस्यैव श्रुतपारदृश्वतां शास्त्रपारगामित्वं शशंसुः कथयामासुः । निरुक्तय इति । 'वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च'त्यादिभिर्वचनं निरुक्तिः । श्रुतेत्यादि । श्रुतस्य पारं दृष्टवानिति श्रुतपारदृश्वा । दृशेः क्वनिप् । तस्य भावस्तत्ता तां । शशंसुरिति । 'शंस स्तुतौ' अस्मात्कर्तरि लिट् ॥ १८ ॥

पपाठ वेदान् यदधीत्य पञ्चधा यथासुरन्याससुपाङ्गसङ्गिनः ।
ततोऽयमेवाध्वरकर्मकारिणामुवाह धौरेयपदं धरातले ॥ १९ ॥

यद्यस्मात्कारणात् उपाङ्गानि वेदोक्तार्थप्रपञ्चनपराः प्रबन्धास्तेषां सङ्गोऽस्त्येषामिति उपाङ्गसङ्गिनस्तान् उपाङ्गसंयुक्तान् वेदान् ऋक्प्रभृतीन् अधीत्य अभ्यस्य गौतमः सुरन्यासमनतिक्रम्येति यथासुरन्यासं हविर्दानकाले इन्द्रादिसुरस्थापनानतिक्रमेण पञ्चधा पञ्चभिः प्रकारैः पपाठ पठति स्म । वेदानित्येव कर्मपदमत्रापि योज्यं, ततस्तस्मात्कारणादऽयं गौतम एव धरातले पृथिव्यां अध्वरकर्मकारिणां

यज्ञक्रियाकर्तृणां ब्राह्मणानां मध्ये धौरेयपदं धुरीणतामुवाह धारयति स । पञ्चेति । अत्र पञ्चधात्वं यज्ञानां पञ्चविधत्वादवसेयम् । यदुक्तममरेण—'पाठो १ होम २ श्चातिथीनां सपर्या ३ तर्पणं ४ बलिः ५ । एते पञ्चमहायज्ञा ब्रह्मयज्ञादिनामका' इति । एषामर्थो हैमकोशाद् ज्ञेयः । अध्वरेति । यज्ञो यागः सवः सत्रमित्यादि । 'वितानं बर्हिरध्वर' इति हैमः । धौरेयेत्यादि । धुरं वहतीति धौरेयस्तस्य पदं स्थानमिति विग्रहः ॥ १९ ॥

यदृच्छयाऽऽक्षिप्तविधेः प्रमाणता
प्रमाणमद्वैतमथास्ति तत्त्वतः ।
इति श्रुतं श्रोत्रियताप्रकाशकं
किमस्य मीमांसकतां न चावदत् ? ॥ २० ॥

केषाञ्चिन्मते यदृच्छा नाम एकः पदार्थोऽस्ति, तन्मते सर्वमपि कार्यं यदृच्छयैव जायते । 'यदृच्छा स्वैरिता स्वेच्छे'ति कोशात् । यदृच्छा नाम स्वेच्छा उच्यते । तथा मीमांसकमते कर्मणः प्रामाण्यमस्ति, तथा चायमर्थः—विधेः कर्मणः प्रमाणता प्रामाण्यं यदृच्छया आक्षिप्त आक्षिप्यते स, गृह्यते स्मेति यावत् । अथ तत्त्वतः परमार्थतस्तु अद्वैतं अद्वैतवाद एव प्रमाणमस्ति इत्याकारकं श्रोत्रियतामकाशकं वेदाध्येतृत्वप्रकाशकं श्रुतं शास्त्रं अस्य गौतमस्य मीमांसकतां मीमांसाशास्त्रज्ञातृत्वं किं न अवदत् न कथयति स ?, अवददेवेत्यर्थः । चः पादपूरणे । आक्षिप्तेति । आङ्पूर्वात्क्षिपः कर्मणि लुङ् । अद्वैतमिति । द्वयोर्भावो द्विता, द्वितैव द्वैतं । प्रज्ञादित्वादण् । न विद्यते द्वैतं यत्र तदिति विग्रहः । 'एकमेव परं ब्रह्मे'त्यादिमतमित्यर्थः । अथेति । अथशब्दोऽत्र प्रतिज्ञायां, 'अथो अथ समुच्चये]

मङ्गले संशयारम्भाऽधिकाराऽनन्तरेषु च । अन्वादेशे प्रतिज्ञायां प्रश्नसाकल्ययोरपि' इत्यनेकार्थात् । श्रोत्रियेति । छन्दो अधीते इति श्रोत्रियः, छन्दसः श्रोत्रादेशो घप्रत्ययश्च ॥ २० ॥

प्रमाणदृष्टान्तवितर्कलक्षणैः
स्वपक्षसिद्धिः प्रतिपक्षखण्डनम् ।
यया प्रतन्येत तया हि विद्यया-
ऽसिधारयेवाऽस्य जयो व्यजृम्भत ॥ २१ ॥

प्रमाणानि प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दलक्षणानि, दृष्टान्ताः पर्वतो वह्निमान् धूमात् महानसवदित्यादयः, वितर्को व्याप्यारोपेण व्यापकारोपः, लक्षणानि 'द्रव्यत्वजातिमद्गुणवद्वा' द्रव्यमित्यादीनि, तैर्हेतुभूतैर्यया विद्यया स्वपक्षस्य स्वगृहीतपक्षस्य सिद्धिर्निष्पत्तिः प्रतन्येत विस्तार्येत तथा प्रतिपक्षिगृहीतपक्षस्य खण्डनं प्रतन्येत, तार्किकैरिति शेषः । हि निश्चितम् । असिधारया खड्गधारयेव तया विद्ययाऽस्य गौतमस्य जयो विद्वत्समानेतृत्वं व्यजृम्भत विकसति स्म, प्रवर्तते स्मेति यावत् । प्रतन्येतेति । प्रपूर्वात्तनोतेः कर्मणि लिङ् ॥ २१ ॥

स धर्मशास्त्राध्ययनं प्रभावयं-
श्चकार गृहाश्रमधर्मसेवनम् ।
प्रशंसनीयस्तु स एव यः सदा
दधाति वादे करणे च तुल्यताम् ॥ २२ ॥

स गौतमो धर्मशास्त्रस्य धर्मप्रतिपादकशास्त्रस्य स्मृतेरध्ययनं पठनं प्रभावयन् प्रकाशयन् गृहाश्रमस्य गृहस्थाश्रमस्य यो धर्मस्तस्य सेवनं प्रतिपालनं चकार कृतवान् । युक्तोऽयमर्थः—तु इति विशेषे, स एव पुमान् प्रशंसनीयो लोकैः प्रशंसार्हः, यः सदा सर्वस्मिन्काले वादे

कथने करणे क्रियायां च तुल्यतां सादृश्यं दधाति बिभर्ति, कथनानुरूपां क्रियायां दधातीत्यर्थः । अयं गौतमोऽपि तथाऽभूदिति भावः । धर्मेत्यादि । 'धर्मशास्त्रं स्यात् स्मृतिर्धर्मसंहिता' इति हैमः ॥ २२ ॥

आरभ्य सर्गात्स रवीन्दुवंशगाः
पुराणनिर्बद्धकथाश्चिरन्तनीः ।
वदन् सुधास्यन्दसमानया गिरा
बहुश्रुतत्वेन बभूव विश्रुतः ॥ २३ ॥

स गौतमः सुधाया अमृतस्य स्यन्दः प्रस्रवणं तेन समाना तुल्या तया गिरा वाण्या सर्गात्सृष्टेरारभ्य रवीन्दुवंशगाः सूर्यवंशादिगताश्चिरन्तनीश्चिरकालोद्भवाः पुराणेषु पुराणशास्त्रेषु निबद्धा ग्रथिता याः कथास्ता वदन् कथयन् बहुश्रुतत्वेन बहुश्रुततया विश्रुतो लोके प्रसिद्धो बभूव । सर्गादिति । आरभ्य योगे पञ्चमी 'कार्तिक्याः प्रभृती'ति भाष्यप्रयोगात् प्रभृत्यर्थयोगे पञ्चमीस्वीकारात् । रवीत्यादि । रविश्च इन्दुश्च रवीन्दू सूर्याचन्द्रौ तयोर्वंशो गच्छन्ति प्राप्नुवन्तीति विग्रहः । चिरन्तनीरिति । 'सायंचिरं'–(४।३।२३) इत्यादिना ट्युप्रत्ययस्तुट् च । 'टिड्ढाणञ्–' (४।१।१५) इति ङीप्, अत्राद्यपादे भादौ तगणेन अन्येषु चादौ जगणेन इन्द्रवंशावंशस्थयोर्लक्षणसंयोगात् । उपजातिछंदः ॥ २३ ॥

एतेन काव्यैकादशकेनास्य चतुर्दशविद्यापारीणत्वमावेद्याथ यज्ञकरणस्वरूपमाह—

अथैष यद्यप्यजुहोद्धुताशनं स्वधाभुजः प्राश्रदियाज यद्यपि ।
तथापि सर्वामरतोषहेतुना यवाञ्छ यष्टुं त्रिदिवेच्छयात्मनः ॥२४॥

अथेति प्रारम्भे एष गौतमो यद्यपि हुताशनं वह्निं अजुहोत् हव्यद्रव्यैः प्रीणयति स्म । पुनर्यद्यपि शश्वन्निरन्तरं स्वधाभुजो देवान् इयाज पूजयति स्म, तथाऽपि सर्वाऽमरतोषहेतुना सर्वेषाममराणां देवानां तोषस्य तुष्टेर्हेतोः आत्मनः स्वस्य त्रिदिवेच्छया स्वर्गगमनेच्छया यष्टुं यज्ञं कर्तुं ववाञ्छ वाञ्छति स्म । अजुहोदिति । 'हु दानादौ' अस्मात्कर्तरि लङ् । इयाजेति । 'यज देवपूजादौ' अस्मात्कर्तरि लिट् । ववाञ्छेति । 'वाञ्छि इच्छायां' कर्तरि लिट् ।

अत्र यद्यपि गौतमः स्वग्रामे स्वयं यष्टुं ववाञ्छेत्युक्तं, तथापि शास्त्रान्तरे अपापापुर्यां सोमिलब्राह्मणेन यज्ञार्थं एकादशब्राह्मणोत्तमा आहूता इत्युक्तमस्ति ॥ २४ ॥

ततोऽसौ किं कृतवानित्याह—

क्रियाविदोस्तस्सहजन्मनोर्द्वयो-
रमुष्य सादृश्यवतोः सतोरपि ।
ऋचां सदर्च्याननुमापकान् द्विजान्
समाजुहावैष जनैः प्रणोदितैः ॥ २५ ॥

क्रियां याज्ञिकक्रियां विदो जानीत इति क्रियाविदौ तयोरत एवामुष्य अस्य गौतमस्य सादृश्यमस्ति, अनयोरिति सादृश्यवन्तौ तयोः द्वयोस्तस्य गौतमस्य सहजन्मनोर्भ्रात्रोः सतोर्विद्यमानयोरपि एष इन्द्रभूतिः प्रणोदितैः स्वप्रेरितैर्जनैः सदर्च्यान् सतां विदुषां पूज्यान् ऋचां वेदशाखानामनुमापकान् द्विजान् ब्राह्मणान् समाजुहाव आकारयामास, यज्ञनिमित्तमिति शेषः । समाजुहावेति । समाङ्पूर्वात् ह्वेञः कर्तरि लिट् । 'अभ्यस्तस्य च' (६।१।३३) इति संप्रसारणं, ततो द्वित्वम् ॥ २५ ॥

समानभावा यशसा च विद्यया
सु-वर्ण-संस्थान-वयः-सदुक्तिभिः ।
स्वतोऽतिरिक्ता दश सूरिसिन्धुरा
मिथः प्रणम्याऽऽसत तत्र मण्डपे ॥ २६ ॥

यशसा कीर्त्त्या च पुनर्विद्यया षडङ्गयादिकया तथा सुष्ठु शोभनो वर्णः शरीरच्छविः संस्थानं समचतुरस्राख्यं वयो यौवनं सदुक्तयः शोभनवाग्विलासास्ताभिः समानः परस्परं तुल्यो भाव आत्मा विभूतिर्वा येषां ते तथोक्ता एवंविधाः स्वतः स्वस्मादतिरिक्ता भिन्ना दशसूरिसिंधुरा द्वौ स्वलघुभ्रातरौ अष्टौ चान्ये एवं दशसंख्याकाः पण्डितमुख्या मिथः परस्परं प्रणम्य प्रणामं कृत्वा तत्र तस्मिन् याज्ञिकाऽर्हे मण्डपे आश्रयविशेषे आसत उपविशन्ति स्म । भावा इति । 'भावोऽभिप्रायवस्तुनोः । स्वभावजन्मसत्त्वात्मक्रियालीलाविभूतिषु' इत्याद्यनेकार्थः । विभूतिरैश्वर्यम् । सुवर्णेत्यादि—वर्णश्च संस्थानं च वयश्च वर्णसंस्थानवयांसि, शोभनानि वर्णसंस्थानवयांसि च सदुक्तयश्चेति द्वन्द्वः । सूरिसिन्धुरा इति । 'मेधाविकोविदविशारदसूरिदोषज्ञ' इत्यादि हैमः । सिन्धुरशब्दः कुञ्जरपर्यायः । 'स्युरुत्तरपदे व्याघ्रपुङ्गवर्षभकुञ्जराः' इत्यादिवचनात् प्रशस्यार्थवाचको बोध्यः । आसतेति । 'आस उपवेशने' अदादिकोऽस्मात्कर्त्तरि लङ् ॥ २६ ॥

प्रशस्तकाले दिन-लग्न-भ-ग्रहैः
र्भुवं विशोध्योचितमृत्तिकाऽऽचितम् ।
चतुःप्रवेशं चतुरस्रचत्वरं
व्यधापयंस्ते चतुरैर्यथाविधि ॥ २७ ॥

ते प्राज्ञब्राह्मणा दिन-लग्न-भ-ग्रहैः दिवस-लग्न-नक्षत्र-ग्रहैः प्रशस्त-काले शोभनवेलायां विधिमनतिक्रम्येति यथाविधि वेदोक्तविध्यनुसारेण चतुरैस्तद्विधिनिपुणैः पुरुषैर्भुवं यज्ञोचितपृथ्वीं विशोध्य तद्गताऽशुद्ध-पुद्गलापनयनेन शुद्धां कारयित्वा उचितमृत्तिकाभिस्तद्योग्यशुद्धमृत्ति-काभिराचितं पूरितं पुनश्चत्वारः प्रवेशा प्रवेशमार्गा यस्मिंस्तच्चतुःप्रवेशम् एवंविधं चतुरस्रं चतुष्कोणं चत्वरं संस्कृतभूपीठं व्यधापयन् कारयन्ति स्म । आचितमिति । 'पूर्णे त्वाचितं छन्नपूरिते' इत्यादि हैमः । चतुरस्रेत्यादि । चतस्रोऽस्रयोऽस्येति विग्रहेऽच्प्रत्ययस्तालव्यश-स्थाने दन्त्य-सश्च 'सुप्रातसुश्व—' (५।४।१२०) इत्यादिना निपातनात् । 'चत्वरं स्यात् पथां श्लेषे स्थण्डिलाङ्गणयोरपी'त्यनेकार्थः । 'स्थण्डिलं संस्कृता भूमि'रिति तद्वृत्तिः । एवं व्याख्यासुधाख्यायाममरवृत्तावपि 'द्वे यागार्थे संस्कृतभूमेः' इत्यादिपाठोऽस्ति । क्षीरस्वामीकृतामरवृ-त्तिहैमाभिधानचिन्तामणिवृत्त्योस्तु 'असंस्कृता भूमि'रित्युक्तमस्तीति । व्यधापयन्निति । 'विपूर्वाद्धाञो हेतुमण्णिजन्तात्कर्तरि लङ्' ॥२७॥

प्रसाध्य सूत्रैर्ध्रुवतो दिशः समा
निखाय यूपं भुवि मध्यभागतः ।
समन्ततोऽस्याप्यमरावतीं पुरीं
सुचित्रयाञ्चक्रुरखण्डतन्दुलैः ॥ २८ ॥

सूत्रैः सूत्रतन्तुभिर्ध्रुवतो ध्रुवतारकात् समा अवक्रा दिशः प्रसाध्य साधयित्वा मध्यभागतस्तस्य च मध्यभागे भुवि पृथिव्यां यूपं यज्ञकीलकं निखाय निक्षिप्य अस्य यज्ञस्तम्भस्य समन्ततोऽपि चत-सृष्वपि दिक्षु अखण्डतण्डुलैरमरावतीं पुरीं इन्द्रनगरीं सुचित्रयाञ्चक्रुः चित्रयन्ति स्म, ते विप्रा इति शेषः । यूपमिति । 'यूपः स्याद्य-

कीलक' इति हैमः । सुचित्रयामिति । 'चित्र चित्रकरणे' आलेख्यकरणे इत्यर्थः । चुरादिरदन्तोऽयमस्माण्णिजन्ताल्लिट्याम् ॥ २८ ॥

ततस्ते किं कुर्वन्ति स्मेत्याह—

कुशासनस्थाः कुशपूतपाणयः
श्रुतिप्रयोगे स्वरचारचारिणः ।
द्विजातिधुर्याः प्रतिकोष्ठकल्पितान्
स्वनामवादेन सुरानतिष्ठिपन् ॥ २९ ॥

कुशासनेषु दर्भमयासनेषु तिष्ठन्तीति कुशासनस्थाः, पुनः कुशेन पूताः पवित्राः पाणयो हस्ता येषां ते कुशपूतपाणयः पुनः श्रुतिप्रयोगे वेदपाठोच्चारणे स्वराणामुदात्तादीनां चारस्संचारस्तेन चरन्ति प्रवर्त्तन्ते तच्छीलाः स्वरचारचारिणः एवंविधास्ते द्विजातिषु ब्राह्मणेषु धुर्या धुरन्धराः कोष्ठं कोष्ठं प्रतीति प्रतिकोष्ठं कल्पितान् मनसि चिन्तितान् सुरान् इन्द्रादीन् देवान् स्वनामवादेन स्वस्वनामोच्चारणेन अतिष्ठिपन् स्थापयन्ति स्म । अतिष्ठिपन्निति । हेतुमण्णिजन्तात्स्थाधातोः कर्त्तरि लुङ् ॥ २९ ॥

ततः सदौवारिकदेवमण्डलं
प्रदीप-धूपादिसपर्ययाऽर्य्यया ।
गृहाण पूजामिति पाठतत्परा-
स्त्रिधाविशुद्ध्या क्रमतोऽमुमार्चिचन् ॥ ३० ॥

ततः सुरस्थापनानन्तरं भो भो इन्द्रादिदेव ! इह महोत्सवे आगच्छ पूजां गृहाण इत्याकारको यः पाठ उच्चारणं तत्र तत्परास्ते ब्राह्मणाः त्रिधाविशुद्ध्या मनोवाक्कायशुद्ध्याऽमुं पुरः स्थापितं दौवारिकैः प्रती-

हारतया स्थापितैर्देवैः सह वर्त्तमानं देवमण्डलं शक्रादिसुरसमूहं क्रमतोऽनुक्रमेण आर्यया शोभनस्वरूपया प्रदीपधूपादिसपर्यया दीपधूपादिपूजया आर्चिचन् अर्चयन्ति स्म । सपर्ययेति । 'पूजाऽर्हणा सपर्याऽर्चे'ति हैमः ॥ ३० ॥

अथाऽरणेर्मन्थसमुत्थपावकं
प्रणीतमृक्पाठसखैरिपेत्त्विकैः ।
निनाय कुण्डं विधिवत् प्रकल्पितं
हुताशदिश्येव स देवयाजकः ॥ ३१ ॥

अथाऽनन्तरं स देवयाजको हविर्दानादिना देवपूजकोऽग्निभूत्यादिः ऋक्पाठस्य वेदशाखापाठस्य सखायः सहाया ऋक्पाठसखाः मन्त्रगर्भितवेदशाखापाठयुक्तास्तैरिपेत्वकैर्वेदाध्यायविशेषैः प्रणीतं संस्कृतं अरणेररणिकाष्ठस्य मन्थेन मथनेन समुत्थं समुत्पन्नं पावकं वह्निं मुख्यं कर्म हुताशस्याऽग्निदेवस्य दिग् हुताशदिक् तस्यां आग्नेय्यां दिशि एव विधिवत् वेदोक्तप्रकारेण प्रकल्पितं रचितं कुण्डं होमकुण्डं निनाय प्रापयामास, होमकुण्डे स्थापयति स्मेत्यर्थः । णीञ्-धातोर्द्विकर्मकत्वात्कुण्डमित्यत्र 'अकथितं च' (१।४।५१) इति कर्मसंज्ञा । प्रणीतमिति । 'प्रणीतः संस्कृतोऽनल' इति हैमः । सखैरिति । 'राजाहःसखिभ्यः—' इति टच् । इपेत्वकैरिति । 'इपेत्वा'शब्दोऽस्मिन्नस्तीति इपेत्वकाः वेदाऽध्यायविशेषाः 'गोपदादिभ्यो वुन्' (५।४।६२) इति मत्वेऽर्थेऽध्येयानुवाकयोः ॥ ३१ ॥

हिरण्यरेता वद्धेऽनिलेरितः शमीसमिन्मिथपलाशतर्पणैः ।
मनोमताद्भोजनलाभतोऽपरं किमुच्यते पुद्गलपोषकारणम् ? ३२

ततो होमकुण्डस्थो हिरण्यरेता वह्निः अनिलेन वायुना ईरितः प्रेरितः सन् शम्या होमोचितवृक्षविशेषस्य समिद्भिरिन्धनैर्मिश्राणि मिलितानि यानि पलाशस्य किंशुकवृक्षस्य तर्पणानि इन्धनानि तैर्वृधे वर्द्धते स्म । युक्तोऽयमर्थः—मनोमतान्मनोऽभिलषिताद्भोजनस्य लाभतः प्राप्तेरपरं अन्यत् पुद्गलानां कार्यादीनां पोषस्य पुष्टेः कारणं किमुच्यते लोके किं कथ्यते ?, न किमपीत्यर्थः । आहार एव सर्वेषां पुष्टिकारणमिति भावः । हिरण्यरेता इति । 'वह्निर्बृहद्भानुहिरण्यरेतसा'विति हैमः । तर्पणैरिति । 'समिदिन्धनमेधेध्मतर्पणैधांसी'ति च ॥ ३२ ॥

अथो हवित्रीमुपसृत्य दम्पती प्रदक्षिणीकृत्य गृहीतविष्टरौ ।
धृतव्रतौ यष्टृमुखेरिता ऋचोऽनुभाषमाणौ प्रयतौ बभूवतुः ॥३३॥

अथो अनन्तरं हवित्रीं होमकुण्डं उपसृत्य तत्समीपमागत्य तां प्रदक्षिणीकृत्य गृहीतविष्टरमासनं याभ्यां तौ पुनर्धृतं व्रतं यज्ञोचितनियमो याभ्यां तौ, पुनर्यष्टा याजकस्तस्य मुखेन ईरिताः प्रेरिता या ऋचो वेदशाखास्ता अनुभाषमाणौ पश्चात् पठन्तौ जाया च पतिश्च दम्पती, सपत्नीक इन्द्रभूतिरित्यर्थः । प्रयतौ हविर्दाने तत्परौ बभूवतुः अभूताम् । हवित्रीमिति । 'हवित्री तु होमकुण्ड'मिति हैमः ॥ ३३ ॥

सुरान् समुद्दिश्य हविर्भुवाऽऽहितं
समाहिताध्वर्युवरैरनूदितौ ।
शुचिस्रुचा संमुखपाण्युपात्तया
धनञ्जयं भोजयतः स्म दम्पती ॥ ३४ ॥

समाहिताः समाधिमन्तो येऽध्वर्युवरा यजुर्वेदयाज्ञिकश्रेष्ठास्तैरनूदितौ पश्चाज्जल्पितौ जाया च पतिश्च जम्पती स्त्रीभर्तारौ सुरान् देवान् समुद्दिश्य नामोत्कीर्त्तनेन समुच्चार्य संमुखेन पाणिना करेण उपात्ता गृहीता तया शुचिस्रुचा निर्मलहोमपात्रेण ध्रुवायां पात्रविशेषे आहितं स्थापितं हविर्हव्यद्रव्यं धनञ्जयं वह्निं भोजयतः स्म भोजयामासतुः। अत्र 'गतिबुद्धि—' (१।४।५२) इत्यादिनाऽणिकर्त्तुर्धनञ्जयस्य णौ कर्मत्वं। ध्रुवेति। 'ध्रुवा तु सर्वसंज्ञार्थं यस्यामाज्यं निधीयते' इति हैमः। अध्वर्य्विति। 'यजुर्विदध्वर्यु'रिति हैमः ॥३४॥

गृहीतहव्यो ज्वलनस्तदा मखे
दधौ महाज्वाल इतीव गौरवम्।
अवाप्तभोगः खलु पूर्वरूपतो
दधात्यपूर्वां[1] वररूपसम्पदम् ॥ ३५ ॥

'होमाग्निस्तु महाज्वाल' इति कोशात्। होमवह्निर्महाज्वाल उच्यते। तत्र कविरुत्प्रेक्षते—तदा तस्मिन्नवसरे मखे यज्ञे गृहीतं हव्यं येन स गृहीतहव्यो ज्वलनो वह्निर्महत्यो ज्वाला यस्य स महाज्वाल इति नाम्ना गौरवं गुरुत्वमिव दधौ धारयति स्म। युक्तोऽयमर्थः—सद्धरत्वधारणेऽवाप्ताः प्राप्ता भोगा भोज्यानि येन स अवाप्तभोगो जन्तुः पूर्वरूपतः स्वस्य प्राक्तनरूपाच्च अपूर्वां नवीनां वररूपसंपदं दधाति खलु, धारयत्येवेत्यर्थः ॥ ३५ ॥

उपाददानो हविरुद्धतानलो धगद्धगेत्युत्थितशब्दसुन्दरः।
प्रदक्षिणार्चिर्मुदमाध्वजीजनज्जनस्य तत्राहुतिमन्त्रवादिनः॥ ३६ ॥

---

1 'दधावपूर्वाम्' इति काशीमुद्रितपुस्तकस्थः पाठश्चिन्त्यः।

तत्र तस्मिन् यज्ञस्थाने हविर्होतव्यद्रव्यमुपाददानो गृह्णन् अत एव घगत् घगदित्येवंरूप उत्थित उत्पन्नो यः शब्दस्तेन सुन्दरो रम्यः, पुनः प्रदक्षिणा अर्चिषो ज्वाला यस्य ॥ तथोक्त एवंविध उद्धतोऽनल उत्पतितो वह्निः आशु शीघ्रं आहुतिमन्त्रवादिनो जनस्य होममन्त्रपाठकलोकस्य मुदं प्रीतिमजीजनत् उत्पादयति स्म । घगद्धगेतीति । घगदित्यव्यक्तानुकरणशब्दस्तस्य 'डाचि बहुलम्' (वा०) इति बहुलवचनाद्द्वित्वं न 'आम्रेडितस्य' (८।२।९५) इत्यादिनाऽन्त्यतकारस्य इति–' शब्दे परे पररूपं, तत 'आद्गुणः' (६।१।८७) मुदमिति । 'मुत्प्रीत्याऽऽमोदसंमदाः' इति हैमः ॥ ३६ ॥

मुहुः सुरोद्देश्यकहव्यपाततः समुत्थधूमो गगनं समास्वजत् ।
सुपर्वणां तत्क्षणहूतिहेतवे प्रणोदितोऽध्वर्युभिरादरादिव ॥ ३७ ॥

सुरा देवा उद्देश्या उद्देष्टुं योग्या यस्मिन्स सुरोद्देश्यकः, स चासौ हव्यस्य पतनं हव्यपातश्चेति कर्मधारयस्तस्मात् मुहुर्वारंवारं सुरोद्देश्यकहव्यपातात् समुत्थधूम उत्पन्नधूमोऽध्वर्युभिर्यज्ञकर्तृभिरादराद्बहुमानतः सुपर्वणां देवानां तत्क्षणं तत्कालं हूतेराकारणस्य हेतवे निमित्ताय प्रणोदितः प्रेरित इव गगनमाकाशं समास्वजत् आलिङ्गति स्म । 'ष्वञ्ज परिष्वङ्गे' अस्मात्कर्तरि लङ् । 'दंशसञ्ज–' (६।४।२५) इति नलोपः ॥ ३७ ॥

इत्थं ज्योतिष्टोमयज्ञं वितन्वन्
स्वर्गावाप्त्यायिन्द्रभूतिर्विधिज्ञः ।
आगच्छन्ति स्वर्गमार्गात्सवेगं
द्रक्ष्यत्सोर्ध्वे देवयानान्यपश्यत् ॥ ३८ ॥

इत्थमुक्तप्रकारेण स्वर्गस्थावासौ प्राप्त्यै ज्योतिष्टोमनामकं यज्ञं वितन्वन् विस्तारयन्, कुर्वन्निति यावत् । विधिं जानातीति विधिज्ञ इन्द्रभूतिः द्रङ्गस्योर्ध्वं नगरस्योपरि स्वर्गमार्गात्सवेगं सत्वरं आगच्छन्ति आगमनक्रियां कुर्वाणानि देवयानानि देवविमानानि अपश्यत् पश्यति स्म । द्रङ्गस्येति । 'नगरी पूः पुरी द्रङ्ग' इति हेमः । इदं शालिनीछन्दस्तल्लक्षणं । 'शालिन्युक्ता म्रौ तगौ गोऽब्धिलोकै'रिति ॥ १८ ॥

इति यज्ञवर्णनो नाम चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

इति स्पष्टम् ॥

इति श्रीगौतमीयप्रकाशाख्यायां श्रीगौतमीयमहाकाव्यव्याख्यायां चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

पञ्चमः सर्गः ।

आकस्मिको व्योमनि दिव्यनादो विचित्रवादित्रनिनादरम्यः ।
शब्दायमानानपि यायजूकानूर्ध्वावलोकप्रयतांश्चकार ॥ १ ॥

विहाय यज्ञं भुवि यस्य सेवना-कृते समेतान् प्रविलोक्य निर्जरान् ।
श्रीगौतमो हर्षविषादभागभूत् स वर्द्धमानः प्रतिभां पुनातु मे ॥१॥

विचित्राणि नानाविधानि यानि वादित्राणि तेषां निनादः शब्दस्तेन रम्यो मनोज्ञः अकस्माद्भव आकस्मिको व्योमन्याऽऽकाशे दिव्यनादो देववृन्दकोलाहलजनितो दिव्यध्वनिः, शब्दायमानान् वेदध्वनिरूपं शब्दं कुर्वाणानपि यायजूकान् यज्ञकर्तृब्राह्मणान् ऊर्ध्वावलोके उर्ध्वविलोकने प्रयतांस्तत्परान् चकार कृतवान् । शब्देत्यादि । शब्दं कुर्वन्तीति विग्रहे 'शब्दवैरकलह–' (३।१।१७)

इत्यादिना क्यङ्, ततः शानच् । यायजूकानिति । 'इज्याशीलो यायजूक' इति हैमः । अस्मिन् सर्गे इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रोपजातिछन्दांसि, तल्लक्षणानि च प्रथमसर्गे प्रोक्तानि ॥ १ ॥

नभस्तलं पुष्कलमप्यमुष्माद् ग्रामादपापानगरीं च यावत् ।
सम्बाधमैक्षिष्ट महाविमानैश्चित्रीयमाणोऽत्र समस्तलोकः ॥ २ ॥

अत्रास्मिन्नवसरे चित्रीयमाणः आश्चर्यं प्राप्नुवन् समस्तलोकः पुष्कलं प्रचुरमपि नभस्तलमाकाशममुष्मादस्माद् गुर्वराभिधानाद्ग्रामात् अपापानगरीं यावत् । महाविमानैः सम्बाधं सङ्कीर्णं ऐक्षिष्ट दृष्टवान् । पुष्कलमिति । 'प्राज्यं प्रभूतं प्रचुरं बहुलं बहु पुष्कल'मिति हैमः । च: पादपूरणे । सम्बाधमिति । 'सम्बाधः सङ्कटे योना'वित्यनेकार्थः । सङ्कटं सङ्कीर्णं चित्रीयमाण इति चित्रं करोति चित्रीयते, विस्मयते इत्यर्थः । 'नमोवरिवश्चित्रङः क्यच्' (३।१।१९) अत्र क्यच् विधानमीत्वार्थं, ङित्करणं तु तङर्थं, ततः शानच् ॥ २ ॥

उद्ग्रीवमुत्प्रेषितचित्तनेत्राः सविस्मयाः संस्तरकारलोकाः ।
हविः स्रुचोपात्तमपि प्रदातुं हविर्भुजे न प्रभवो बभूवुः ॥ ३ ॥

तदा तत् ऊर्ध्वा ग्रीवा यत्र तद् उद्ग्रीवं यथा स्यात्तथा क्रियाविशेषणमिदम् । उत्प्रेषितानि ऊर्ध्वं प्रहितानि [1]चित्तनेत्राणि मनोनयनानि यैस्ते तथोक्ताः, यतः सह विस्मयेन आश्चर्येण वर्तन्ते इति सविस्मयाः, एवंविधाः संस्तरकारलोका यज्ञकारकजनाः स्रुचा यज्ञपात्रेण उपात्तं गृहीतमपि हविर्हव्यद्रव्यं हविर्भुजे वह्नये प्रदातुं प्रभवः समर्था न बभूवुः । संस्तरेत्यादि । 'संस्तरः सप्ततन्तुश्च वितानं बर्हिरध्वर' इति हैमः । संस्तरं कुर्वन्तीति संस्तरकाराः । कर्मण्यण् , ततः कर्मधारयः ॥ ३ ॥

१ चित्तानि च नेत्राणि च चित्तनेत्राणि, यद्वा चित्तैर्युक्तानि नेत्राणीति समासः ।

सदैक एवोदयमेति सूर्यः
श्रुतौ श्रुता वा व्यधिका दशैव ।
आः ! कोटिशोऽहर्पतयः कुतोऽमी
संशेरते स्मेति जनास्तदानीम् ॥ ४ ॥

तदानीं तस्मिन्नवसरे जना लोका इति संशेरते स्म इति संशयं दधुः । इतीति किं तदाह—सदा निरन्तरं एक एव सूर्य उदयमेति प्राप्नोति, वा अथवा श्रुतौ शास्त्रे द्वाभ्यामधिका व्यधिका दश द्वादशैव सूर्याः श्रुताः, सन्तीति शेषः । आ इति आश्चर्ये, 'अमी साक्षाद्वि-लोक्यमानाः कोटिशोऽहर्पतयः सूर्याः कुतः समेताः ?' इति संदेहं दधुरित्यर्थः । कोटिश इति वीप्सायां शस् । संशेरते इति । संपूर्वात् शीङः कर्तरि लट् ॥ ४ ॥

नित्याऽन्तरिक्षभ्रमिखेदखिन्नं
ज्योतिष्कचक्रं भुवमापतेत् किम् ? ।
इत्थं मुहुः संशयशैलशृङ्गारोहा-
वरोहे जनताऽऽकुलाऽभूत् ॥ ५ ॥

'नित्यं निरन्तरमन्तरिक्षे आकाशे या भ्रमिर्भ्रमणं तया उत्पन्नो यः खेदस्तेन खिन्नं ज्योतिष्कचक्रं ज्योतिर्मण्डलं किं भुवं पृथ्वीमापतेत् ?' इत्थं जनता जनसमूहो मुहुर्वारंवारं संशय एव शैलशृङ्गं पर्वतशिखरं तत्र आरोहाऽवरोहे आरोहणाऽवतरणे आकुलाऽभूत् । आरोहेत्यादि । पूर्वमारोहः पश्चादवरोह आरोहावरोहः । 'पूर्वकालैकसर्वजरत्—' (२।१।४९) इत्यादिना समासः ॥ ५ ॥

दृश्येत गन्धर्वपुरं किमेत्रो-
त्पातस्वरूपं श्रुतविश्रुतं वा ।
एवं वितर्कैर्बहुभिर्नृलोकः स्वास्थ्यं
न लेभेऽद्भुतभीतियोगात् ॥ ६ ॥

अत्र किं गन्धर्वपुरं व्यन्तरनगरं दृश्येत ? वा अथवा श्रुते सिद्धान्ते विश्रुतं प्रसिद्धं किमेतदुत्पातस्वरूपं दृश्येत ? एवममुना प्रकारेण अद्भुतभीतियोगात् आश्चर्यसंयोगाद्बहुभिर्वितर्कैर्विकल्पैर्नृलोको मनुष्यलोकः स्वास्थ्यं स्वस्थचित्ततां न लेभे न प्राप्तवान् । अद्भुतेत्यादि । 'विस्मयश्चित्रमद्भुत'मिति हैमः । अद्भुतं च भीतिश्चाद्भुतभीती तयोर्योग इति समासः ॥ ६ ॥

इत्थं तथाऽस्वास्थ्यपथावतीर्णान्
जनानवादीद्गुरुरिन्द्रभूतिः ।
ऋतोरनालोच्य महाप्रभाव-
महो ! मुधा तर्कयताऽनृतं किम् ? ॥ ७ ॥

तथा तेन प्रकारेण अस्वास्थ्यपथमस्थिरचित्ततामार्गम् अवतीर्णान् प्रविष्टान् जनान् इन्द्रभूतिर्गुरुरित्थमवादीत् एवमुक्तवान् । इत्थं कथमित्यत आह—'अहो लोकाः ! ऋतोर्यज्ञस्य महाप्रभावमनालोच्य अविचार्य मुधा वृथाऽनृतमसत्यं किं तर्कयत ?' यूयमिति कर्तृपदं क्रियाभिसंबन्धार्थं ग्राह्यम् ॥ ७ ॥

तर्हि किमिदमकस्मात्समायातीत्याशङ्कानिरासार्थं गौतम आह—

रम्योऽप्यमुं चेजितरत्नमाभिर्विडम्बयञ्छक्रशरासनाभाम् ।
सहस्रपत्राकृतिरत्नपीठप्रतिष्ठितः स्तम्भसहस्रशोभी ॥८॥

१ 'भिन्नोत्पातस्वरूपं' इति मुद्रितपाठविन्यासः ।

सुजातजालाकलितः समन्तात्
पाञ्चालिकाविभ्रमलोभनीयः ।
चन्द्रोपलद्योतितचन्द्रशालः
स्फुरत्पताकैः शिखरैः स्पृशन्खम् ॥ ९ ॥
प्रफुल्लसन्ध्याभ्रसमैर्वितानै-
र्नद्वच्छदिश्चित्रितचारुभित्तिः ।
प्रलम्बहाराश्रितनागदन्तो
मुक्तामणीजाललसद्वलीकः ॥ १० ॥
मृदङ्ग-वीणा-पणवा-ऽऽरवाढ्यै-
र्घण्टानिनादैर्निभृतान्तरिक्षः ।
आयाति नो मन्त्रनिमन्त्रितो य-
द्दिवो भुवं देवविमानवारः ॥ ११ ॥

चतुर्भिः कलापकम् ।

अहो लोकाः ! यद्यस्मात्कारणात् अयं साक्षादुपलभ्यमानो रम्यो मनोज्ञो नोऽस्माकं मन्त्रैर्निमन्त्रितो देवविमानानां वारः समूहो दिवः स्वर्गाद्भुवं पृथ्वीं आयातीत्यन्वयः । अथ विशेषणानि—अयं किं कुर्वन् । उत्तेजितानि शाणादिना उद्दीप्तीकृतानि यानि रत्नानि तेषां भाः प्रभास्ताभिः शक्रशरासनस्य इन्द्रधनुष आभां प्रभां विडम्बयन् तिरस्कुर्वन् । पुनः कीदृशोऽयम् । सहस्रपत्रस्य कमलविशेषस्येवाकृतिराकारो येषां तानि एवंविधानि यानि तेषु प्रतिष्ठितः पुनः स्तम्भानां सहस्रैः शोभते तच्छीलः स्तम्भसहस्रशोभी ॥ ८ ॥ तथा सुजातै-र्दैवप्रभावात् सुनिष्पन्नैर्जालैर्गवाक्षैरासमन्तात् कलितो युक्तः, पुनः समन्तात्सर्वदिक्षु पाञ्चालिकानां पुत्रिकाणां विभ्रमैर्विलासैर्लोभनीयो

जनानां मोहोत्पादकः, पुनश्चन्द्रोपलैश्चन्द्रकान्तरत्नैर्योतिताश्चन्द्रशालाः शिरोगृहाणि यस्य स तथोक्तः । पुनः पुनः स्फुरन्त्यश्चलन्त्यः पताका ध्वजा येषु ते तैः शिखरैः खमाकाशं स्पृशन् ॥ ९ ॥ तथा प्रफुल्ला विकसिता या सन्ध्या तस्यां यानि अभ्राणि वार्दलानि तैः समास्तुल्याः तैर्वितानैश्चन्द्रोदयैर्नद्धा बद्धा छदिरुपरितनभागो यस्य स तथोक्तः । पुनश्चित्रिताश्चारवो मनोहरा भित्तयो यस्य स तथोक्तः । पुनः प्रलम्बैर्लम्बमानैर्हारैरञ्चिताः प्रशस्ता नागदन्ता भित्तिस्थकीलका यस्य स तथोक्तः । पुनर्मुक्ताश्च मण्यश्च मुक्तामण्यस्तासां मौक्तिकानां मणीनां च ग्रथितानां जालैः समूहैर्लसन्ति शोभमानानि वलीकानि नीव्राणि छदिःप्रान्तानि यस्य स तथोक्तः ॥ १० ॥ तथा मृदङ्गवीणापणवानां वाद्यविशेषाणामारवैः शब्दैराढ्यः समृद्धः । पुनर्घण्टानां निनादैः शब्दैर्नितरां भृतमन्तरिक्षमाकाशं येन स तथोक्तः । अग्रेतनपादद्वयस्यान्वयः प्रागुक्त एव नवमश्लोके—पाञ्चालिकेत्यादि । 'पाञ्चालिका च पुत्रिके'ति हेमः । लोभयतीति लोभनीयः 'लुभ विमोहने' ण्यन्तादस्मात् 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (३।३।११३) इति कर्तरि 'अनीयर्' । 'चन्द्रशाला शिरोगृह'मिति हेमः । दशमश्लोके—वितानैरित्यादि । 'अथोल्लोचो वितानं कदकोऽपि च । चन्द्रोदये' इति हेमः । 'पटलच्छदिषी समे । नीव्रं वलीकं तत्प्रान्त' इति च 'नागदन्तास्तु दन्तका' इति च (हेमः) । एकादशे श्लोके—वार इति । 'वारः सूर्यादिवासरे । महे सराऽवसरयोर्वृन्दे कुब्जाख्यपादपे' इत्यादि अनेकार्थः ॥ ११ ॥

पुनर्गौतम आह—

ध्यानैर्जपैर्वा बहुभिस्तपोभिः
स्वप्नेऽपि यान् द्रष्टुमलं न मर्त्याः ।

तानद्य देवानिह सप्ततन्तौ
प्रत्यक्षतः पश्यत नः प्रसादात् ॥ १२ ॥

बहुभिर्ध्यानैः स्मरणैर्बहुभिर्जपैर्मन्त्रादिपाठैर्बहुभिस्तपोभिरुपवासादिभिर्मर्त्या मनुष्या यान् देवान् स्वप्नेऽपि द्रष्टुं विलोकयितुं नाऽलं न समर्थाः, तान् देवान् अद्य अस्मिन् दिने इहास्मिन् सप्ततन्तौ यज्ञे नोऽस्माकं प्रसादात् प्रत्यक्षतः पश्यत यूयं । सप्ततन्ताविति । 'यज्ञो यागः सवः सत्रं स्तोमो मन्युर्मखः क्रतुः । संस्तरः सप्ततन्तुश्चे'त्यादि हैमः ॥ १२ ॥

ततः सुराणामिह याज्ञिका भोः !
स्तुतौ सपर्योपनतौ यतध्वम् ।
दुराप एषोऽवसरो नराणां
क्व लभ्यते सङ्गम ईश्वराणाम् ? ॥ १३ ॥

ततस्तस्मात्कारणात् भो याज्ञिकाः ! इह प्रस्तावे सुराणां देवानां स्तुतौ स्तुतिकरणे, पुनः सपर्यायाः पुष्पादिपूजायाः उपनतौ समीपनयने प्रगुणीकरणे इत्यर्थः, यूयं यतध्वं यत्नं कुरुध्वं । नराणां मनुष्याणामेषोऽवसरो दुरापो दुर्लभः, अस्तीति शेषः । यत् ईश्वराणामैश्वर्यवतां सङ्गमः संसर्गः क्व लभ्यते ? यथा तथा न लभ्यते इत्यर्थः । नराणामिति । शेषे षष्ठी, न तु 'कर्तृकर्मणोः कृति' (२।३।६५) इति, 'न लोकाव्यय–' (२।३।६९) इति निषेधात् ॥ १३ ॥

इत्युक्तवाक्येन गुरोः सहर्षा-
स्तत्खण्डिकास्तुष्टुवुरेवमेव ।
भगो नमस्ते तव चैव शक्ते-
राकृष्टदेवा यदिहाभियन्ति ॥ १४ ॥

इतीत्थं गुरोर्गौतमस्य उक्तवाक्येन कथितवाक्येन सहर्षा हर्षवन्तस्तत्खण्डिकाख्यस्य गौतमस्य शिष्या एतं गौतममेव तुष्टुवुः स्तुवन्ति स्म। कथं तुष्टुवुरित्याह—हे प्रभो! हे पूज्य! ते तुभ्यं नमोऽस्तु यत्स्मात्कारणात् तवैव शक्तेराकृष्टा देवाः इह मर्त्यलोकेऽभियन्ति आगच्छन्ति, अभिपूर्वादिणः कर्त्तरि लट्। 'इणो यण्' (६।४।८१) इति यण्॥ १४॥

अश्रौष्म यन्मन्त्रमहाप्रभावा-
द्यागेषु देवागमनं पुराऽभूत्।
तत्साम्प्रतं दर्शितमागमस्य
प्रामाण्यमस्माद् गुरुणा त्वयैव॥ १५॥

पुरा पूर्वं यागेषु यज्ञेषु मन्त्राणां महाप्रभावात् देवानामागमनमभूत् इति यद्वयमश्रौष्म शृणुमः स्म, तत्साम्प्रतमधुना आगमस्य वेदस्य प्रामाण्यं प्रमाणत्वमस्मान् प्रति त्वयैव गुरुणा साक्षाद्दर्शितम्। इह यज्ञे साक्षाद्देवागमदर्शनादिति भावः॥ १५॥

इत्थं वदत्स्वेव तदा द्विजेषु
ग्रामं तमुल्लङ्घ्य कलम्बगत्या।
ययुः सुराः सत्वरयानसंस्थाः,
क्व वा विलम्बो महतां मुधा स्यात्?॥ १६॥

तदा तस्मिन्नवसरे द्विजेषु ब्राह्मणेषु इत्थमनेन प्रकारेण वदत्सु कथयत्सु सत्सु एव सत्वरयानसंस्थाः वेगवद्वाहनस्थिताः सुरा देवाः कलम्बगत्या बाणसदृशगत्या तं ग्राममुल्लङ्घ्य ययुरग्रतो यान्ति स्म। वाऽथवा, युक्तोऽयमर्थः—महतां महात्मनां मुधा वृथा विलम्बः क्व

स्यात्? न क्षापीत्यर्थः । कलम्बेति । 'कलम्बो नालिकाशाके पृषत्के नीपपादपे' इति अनेकार्थः ॥ १६ ॥

निरीक्ष्य तानाशुगतिप्रवृत्तान्
स्वछात्रवृन्दावृतगौतमस्य ।
हर्षस्मयौ शोकरुषावभूतां
गते इव क्षौद्रघृते विपत्वम् ॥ १७ ॥

आशु शीघ्रगतौ, अन्यत्र गमने प्रवृत्तान् तान् देवान् निरीक्ष्य दृष्ट्वा, स्थितस्येति शेषः । स्वछात्राणां स्वशिष्याणां वृन्दैः समूहैरावृतस्य वेष्टितस्य गौतमस्य हर्षस्मयौ प्रमोदमानौ शोकरुषौ खेदक्रोधौ अभूताम् । उत्प्रेक्षते—क्षौद्रघृते मधुहविष्ये विपत्वं गते प्राप्ते इव 'संयुक्ते मध्वाज्ये विषरूपे भवत' इत्युक्तेरुत्प्रेक्षेयम् । स्मयाविति । 'मानश्चित्तोन्नतिः स्मय' इति हेमः ॥ १७ ॥

वैवर्ण्यमासाद्य तदेन्द्रभूतिः
खिन्नो गतद्रव्य इवात्मवृत्त्या ।
निर्द्धारितार्थादितरत् किमेत-
त्प्रावर्त्ततेति स्वधिया निदध्यौ ॥ १८ ॥

तदा तस्मिन्नवसरे इन्द्रभूतिर्गौतमो विवर्णस्य भावो वैवर्ण्यं विच्छायत्वमासाद्य प्राप्य गतं द्रव्यं यस्य स गतद्रव्य इव खिन्नः शोकातुरः सन्, आत्मवृत्त्या स्वमनोव्यापारेण निर्द्धारितो निश्चयीकृतो योऽर्थस्तस्मादितरदन्यद् विपरीतं किमेतत् कार्यं प्रावर्त्तत प्रवृत्तं सञ्जातमित्यर्थः । इतीत्थं स्वधिया स्वबुद्ध्या निदध्यौ चिन्तयामास । प्रावर्त्ततेति । 'वृतु वर्तने' मर्यादत्वात्कर्तरि लङ् ॥ १८ ॥

जगाद चैवं जगदीश्वरीयं
हन्ताऽज्ञतैव प्रतिभाति विश्वे ।
नो चेदिदं यागपदं विमुच्य
भ्रान्ताः कथं हव्यभुजो भ्रमन्ति ? ॥ १९ ॥

च पुनर्गौतम एवं जगाद वदति स, हन्तेति विषादे विश्वे लोके जगत ईश्वरी जगदीश्वरी जगत्स्वामिनी इयमज्ञता मूर्खता एव प्रतिभाति प्रतिभासते, चेचदि एवं नो स्यात् तर्हि इदं यागपदं यज्ञस्थानं विमुच्य त्यक्त्वा हव्यभुजो देवाः भ्रान्ता भ्रान्तचित्ताः सन्तः कथं भ्रमन्ति ? ततो देवानामप्यन्यत्र गमनाद् ज्ञायते जगदीश्वरी अज्ञतैवास्तीति भावः ॥ १९ ॥

विज्ञातुमिच्छन्ति परोक्षमर्थं
येभ्यो जनाः क्वाऽपि हि सन्दिहानाः ।
प्रत्यक्षमप्यर्थमिमे विदुर्न
ज्ञातं ! तदेषां विबुधाभिधानम् ॥ २० ॥

हीति निश्चितं, क्वापि कस्मिन्नपि अर्थे सन्दिहानाः सन्देहं बिभ्राणा जना लोका येभ्यो देवेभ्यः परोक्षमप्रत्यक्षमर्थं विज्ञातुमिच्छन्ति, ते इमे देवाः प्रत्यक्षमप्यर्थं यज्ञलक्षणं न विदुर्न जानन्ति, तत्तस्मात्कारणादेषां देवानां विशेषेण बुध्यन्तीति विबुधा इत्येवंरूपमभिधानं नामधेयं ज्ञातं !, वृथैवैषामेतन्नामेत्यर्थः । विशेषार्थापरिज्ञानादिति भावः ॥२०॥

कैरप्यमर्त्याऽरिभिरुद्धतैर्वा
प्रसह्य नीयन्त उतान्यतोऽमी ।
मेघाः समीरैरिव, विघ्नवन्ति
श्रेयांसि यद्वत्खलु सम्भवन्ति ॥ २१ ॥

उतेति वितर्के, वाऽथवाऽमी देवाः कैरपि उद्धतैः प्रबलैरमर्त्यानां देवानामरिभिर्वैरिभिः, दानवैरित्यर्थः । प्रसह्य बलात्कारेण अन्यतो अन्यत्र प्रदेशे नीयन्ते प्राप्यन्ते । कैः के इव? समीरैर्वायुभिर्मेघा इव । यथा समीरैर्मेघाः प्रसह्य अन्यत्र नीयन्ते तथेत्यर्थः । युक्तोऽयमर्थः—खलुरवधारणे, श्रेयांसि श्रेयोभूतानि कार्याणि शश्वन्निरन्तरं विघ्नवन्ति मन्तराययुक्तानि सम्भवन्त्येव, अतोऽत्रापि मङ्गलकार्ये देवागमने किमपि विघ्नमभूदिति भावः ॥ २१ ॥

वृथाऽथवाऽनेन विमर्शनेन
सृतं यतः प्रत्युत सप्रमोदाः ।
दृश्यन्त एते, खलु चित्तवृत्ति-
र्लक्ष्येत लिङ्गैरिह देहभाजाम् ॥ २२ ॥

अथवाऽनेन वृथा विमर्शनेन व्यर्थचिन्तनेन सृतं पर्याप्तं यत एते देवाः प्रत्युत सप्रमोदाः सहर्षा दृश्यन्ते । खलु निश्चितं, इह लोके देहभाजां प्राणिनां चित्तवृत्तिर्मनोव्यापारो लिङ्गैश्चिह्नैर्लक्ष्येत ज्ञायेत, सुधीभिरिति शेषः । अतो नैषां वैरिकृतोपद्रुतिसम्भव इति भावः ॥२२॥

तथा हि वीणाक्वणनं मृदङ्ग-
ध्वानस्तथा किन्नरगीतनादः ।
नृत्यत्सुरस्त्रीजननूपुराणां
ध्वनिः कथङ्कारमृते प्रमोदात् ॥ २३ ॥

तथा हि तान्येव प्रमोदचिह्नानि दर्शयति—इह तावद्वीणानां क्वणनं शब्दः श्रूयते, पुनर्मृदङ्गानां ध्वानो ध्वनिराकर्ण्यते, तथा तेनैव प्रकारेण किन्नराणां देवविशेषाणां गीतनादो गानध्वनिः श्रुतिपथं

समायाति, पुनर्नृत्यतां नृत्यं कुर्वतां सुरस्त्रीजनानां देवाऽङ्गनालोकानां यानि नूपुराणि चरणाऽऽभरणानि तेषां ध्वनिर्निशम्यते, प्रमोदादृते प्रमोदं विना एते भावाः कथङ्कारं ?, कथं भवन्तीत्यर्थः । अतः सप्रमोदा एवैते देवा दृश्यन्ते इति भावः । 'अन्यथैवं कथम्' इत्यादिना सिद्धप्रयोगे कृञो णमुल् ॥ २३ ॥

'प्रभो ! चिरं जीव चिरं विधेहि
त्रैलोक्यराज्यं जयतात्त्वमेव' ।
आशिष्यते कोऽयमुदात्तगीर्भि-
र्मुहुः सुरैः संप्रति गीतिपूर्त्तौ ? ॥ २४ ॥

'हे प्रभो ! हे स्वामिन् ! त्वं चिरं बहुकालं जीव जीवतात्, पुनश्चिरं त्रैलोक्यस्य राज्यं विधेहि कुरु, पुनस्त्वमेव जयतात् सर्वोत्कर्षेण वर्चस्व', इत्थं उदात्तगीर्भिरुच्चैर्वाग्भिः सम्प्रति अधुना गीतिपूर्त्तौ गान-परिसमाप्तौ मुहुर्वारंवारं सुरैर्देवैरयं कः पुमान् आशिष्यते आशी-र्विषयः क्रियते ? ॥ २४ ॥

इति ब्रुवत्येव तदा द्विजेन्द्रे
प्रादुर्बभूवेति वचोविकासः ।
अदृष्टपूर्वं किमहो अपापा-
पुर्यन्तिके विस्मयकारि वृत्तम् ॥ २५ ॥

तदा तस्मिन्नवसरे द्विजेन्द्रे ब्राह्मणेश्वरे गौतमे इतीत्थं ब्रुवति वदत्येव सति इत्येवं वक्ष्यमाणप्रकारेण वचोविकासो वचसः स्फुटोच्चारः प्रादुर्बभूव । इतीति किं तदाह—'अहो इति आश्चर्येऽपापापुर्या अन्तिके समीपे पूर्वमदृष्टं अदृष्टपूर्वं विस्मयकारि आश्चर्यकारि किं

वृत्तम्', इति वाग् जनमुखात् प्रकटीबभूवेत्यर्थः । विकास इति । विकसनं विकासः, भावे घञ् ॥ २५ ॥

उपात्तवृत्तान्त इतो नियुक्तो
वार्त्तायनोऽप्येवमुदाजहार ।
स्वामिन् ! प्रवृत्तामिह किंवदन्तीं
सत्यामवेहि प्रणिधेहि चित्ते ॥ २६ ॥

इतो अस्माद्वचःप्रादुर्भावात् परं उपात्तो गृहीतो वृत्तान्तो येन स उपात्तवृत्तान्तो नियुक्तः स्वयं व्यापारितो वार्त्तायनो हेरिकपुरुषोऽपि गौतमं प्रति एवमुदाजहार उक्तवान् । कथमित्याह—'हे स्वामिन् ! इह प्रस्तावे प्रवृत्तां किंवदन्तीं लोकवार्त्तां सत्यामवेहि जानीहि, चित्ते प्रणिधेहि समाधेहि, स्थापयेति यावत् । वार्त्तायन इति । 'हेरिको गूढपुरुषः * * * वार्त्तायनः स्पशश्चार' इति च हैमः । किंवदन्तीमिति । 'जनश्रुतिः किंवदन्ती' इति च । अवेहीति । अवाङ्पूर्वादिणो लोट् । 'ओमाङोश्च' (६।१।९५) इति पररूपम् ॥ २६ ॥

पुनस्तमेव प्रवृत्तिं स हेरिकः प्राह—

वप्रत्रयान्तर्मणिपीठिकायां
सिंहासनेऽग्र्ये पुरुषः परात्मा ।
कोऽपि स्थितस्तत्प्रणिपातहेतो-
रायान्ति देवा हि विमानसंस्थाः ॥ २७ ॥

वप्रत्रयस्य प्राकारत्रयस्य अन्तर्मध्ये या मणिपीठिका तस्यामग्र्ये प्रधाने सिंहासने कोऽपि परात्मा प्रकृष्टात्मा पुरुषः स्थितः, अस्तीति शेषः । हीति निश्चितं, तस्य पुरुषस्य प्रणिपातहेतोः प्रणामनिमित्तं एते विमानसंस्था विमानस्थिता देवा आयान्ति ॥ २७ ॥

निर्द्धार्य तां नाहमवैमि मूढ-
स्तथापि जाने जगदीश्वरोऽयम् ।
रूपेण देवैरपि दुर्लभेण
ज्योतिर्भरेणाऽपि खगातिगेन ॥ २८ ॥

हे स्वामिन् ! अहं मूढो मूर्खो यद्यपि निर्द्धार्य्य निश्चयं कृत्वा तं पुरुषं नाऽवैमि न जानामि तथापि देवैरपि दुर्लभेन रूपेण सौन्दर्य्येण अपि पुनः खगमतीत्य गच्छतीति खगातिगस्तेन रूपातिशायिना ज्योतिर्भरेण तेजःपुञ्जेन अयं जगतामीश्वरो जगदीश्वर इति जाने जानामि खगातिगेनेति 'अन्यत्रापि दृश्यते' (वा०) इति गमेर्डः । 'सूर्योऽर्कः किरणो भगो ग्रहपुषः, पूषा पतङ्गः खगः' इति हैमः ॥२८॥

श्रुत्वेति वाचं चरचक्रगर्भा-
दाचार्यधुर्यो मनसा विमृश्य ।
विवेकिनो नीतिविचारदक्षानु-
वाच सत्रे समवेतसूरीन् ॥ २९ ॥

आचार्येषु आचारयोग्येषु धुर्यो धुरीणो गौतमश्चरस्य हेरिकस्य चक्रगर्भात् मुखमध्यात् इत्युक्तप्रकारेण वाचं श्रुत्वा, पुनस्तां वाचं मनसा विमृश्य विचार्य, विवेकिनो विवेकवतः पुनर्नीतिविचारे दक्षान् निपुणान्, सत्रे यज्ञे समवेताः संमिलिता ये सूरयः पण्डिता स्त्वकादयस्तान् उवाच वक्ष्यमाणप्रकारेणोक्तवान् ॥ २९ ॥

यदुवाच तदाह—

ब्रह्मा न विष्णुर्न हरोऽपि नो वा-
ऽप्यधीरयेयो मखभागमिष्टम् ।

---

१ 'स्वकीयप्रभाभरेण सूर्यातिशायी ह्ययं अत एव जगतामीश्वर' इत्यर्थः ।

कोऽसौ समायां बहुलं वितत्य
स्थितो जनानां बत वञ्चनाय ॥ ३० ॥

अयं ब्रह्मा न विष्णुर्न वाऽथवा हरो रुद्रोऽपि, न दृश्यते इति शेषः । य इदं सर्वेषां देवानां वल्लभं मखभागं यज्ञांशमवधीरयेत् तिरस्कुर्यात् । बतेति खेदे, जनानां वञ्चनाय प्रतारणाय बहुलां प्रचुरां समायां वितत्य विस्तार्य्य स्थितोऽसौ, को विद्यते? इति शेषः ॥३०॥

आः ! एष मायी कुहनेन्द्रजाल-
क्रियापटुर्धर्मविलोपहेतुः ।
नो चेदिदानीमवधानहानिं
कुर्यात्कथं सामगयाजकानाम् ? ॥ ३१ ॥

आः इति सन्तापे, एषः कश्चित् कुहनया कपटेन परिविस्मापनार्थं मिथ्याकल्पनया या इन्द्रजालक्रिया तस्यां पटुश्चतुरो मायाऽस्यास्तीति मायी कपटी पुमान् धर्मविलोपस्य यज्ञधर्मविनाशस्य हेतुः कारणं, समुपेत इति शेषः । नो चेत् यद्येवं न स्यात्तर्हि इदानीं साम्प्रतं सामवेदं गायन्तीति सामगा ये याजका यज्ञकर्त्तारस्तेषां अवधानस्य समाधानस्य हानिः कथं कुर्यात् ? । 'आ' इति सान्तो निपातः । 'आः सन्तापप्रकोपयो'रिति अनेकार्थः । कुहनेति । 'कुहना दंभचर्या चे'ति हेमः ॥ ३१ ॥

एतेषु च व्योमचरेषु कामं
सत्यं गुरुत्वं न वयं प्रतीमः ।
मायाविनां यज्ञवञ्चकानां
माया दुरन्तेति हि किं न विद्मः ॥ ३२ ॥

च पुनः कामं यथेच्छं व्योमनि आकाशे चरन्तीति व्योमचरास्तेषु, एतेषु देवेषु वयं सत्यं सुरत्वं देवत्वं न प्रतीमो न श्रद्दधामः । यद्यस्मात् कारणात् हीति निश्चितं, जनवञ्चकानां मायाविनां धूर्त्तानां माया दुःखेन अन्तो यस्याः सा दुरन्ता दुर्ज्ञानेत्यर्थः, इति किं वयं न विद्मो न जानीमो ?, विद्म एवेत्यर्थः । एतावता एतेन मायिनैव स्वमायया एते देवा अपि कल्पिता इति ज्ञायन्ते इति भावः । प्रतीम इति । प्रतिपूर्वादिणः कर्त्तरि लट् ॥ ३२ ॥

मुग्धेषु लोकेषु कुतो विवेको
शास्सन्ति हा हा ! प्रभुमेनमेव ।
किं ज्ञायते शासनमस्य कीदृक् ?
सोपद्रवः सन्निगमो हि भूतः ! ॥ ३३ ॥

मुग्धेषु तत्त्वज्ञानहीनेषु विवेको योग्याऽयोग्यत्वनिर्णयः कुतः ? न कुतोऽपीत्यर्थः । ततश्च हा हा ! इति खेदे, मुग्धलोका एनमेव मायिनं प्रभुं जगत्स्वामिनं शासन्ति । तथा किं ज्ञायते अस्य शासनं धर्मोपदेशः कीदृग् अस्ति ?, ततो हीति निश्चितं, सन्निगमः सद्धर्ममार्गः सोपद्रवः उपद्रवयुक्तो भूतः सञ्जातः । 'अध्वा पन्था निगमः सृतिः' इति हैमः ॥ ३३ ॥

ध्वस्ते तु धर्मे जगतो गतिः का ?
यत्नोऽस्य तत्कोऽपि विमर्शनीयः ।
क्रतुक्रिया तिष्ठतु तावदेत-
दपायमुपायो नियतो विधेयः ॥ ३४ ॥

तु इति विशेषे । धर्मे ध्वस्ते सति जगतो विश्वस्य का गतिः ?, न कापीत्यर्थः । तत्तस्मात्कारणादस्य कार्यस्य कोऽपि यत्नो विमर्श-

नीयो विचार्यः । तर्हि किं कार्यमित्याशङ्क्याह—क्रतुक्रियां यज्ञक्रिया तिष्ठतु आस्तां तावत् प्रथमं नियतो निश्चित एतस्य धर्मध्वंसकर्तुर्जै-यस्याऽभ्युपायो विधेयः कर्तव्यः ॥ ३४ ॥

विद्यावतामेष न दृष्टपूर्वो
नापि श्रुतः क्वापि सुदूरदेशे ।
विहायसो वा पतितोऽत्र भूमौ
किं वाऽवतीर्णो ननु भूमिगर्भात् ॥ ३५ ॥

एष पुरुषो विद्यावतां विदुषां मध्ये पूर्वं दृष्टो दृष्टपूर्वो न, पूर्वं कदापि विद्वद्भिर्न दृष्ट इत्यर्थः । न पुनः क्वाऽपि सुतरामत्यन्तं दूरदेशेऽपि श्रुतो वेत्युत्प्रेक्षायाम् । एष विहायस आकाशादत्र भूमौ पतितः ? किं वा—ननु निश्चितं (वितर्के ?) भूमिगर्भाद्भूमध्यादकस्मादत्रावतीर्णो ?, न ज्ञायते सद्यः कुतः समेतोऽयमिति भावः ॥३५॥

आयातु यात्वेष यतस्ततो वा
स्वार्थं समाराधयतां सुखेन ।
दुःखाय नः किंतु भवेत्प्रकामं
लोकेऽस्य लोकेश्वरताप्रसिद्धिः ॥ ३६ ॥

एष यतस्ततो वा प्रदेशात् आयातु आगच्छतु, यत्र तत्र वा यातु, अथवा सुखेन स्वार्थं स्वप्रयोजनं समाराधयतां साधयतु, नाऽस्माकं किमपि दुःखायेति वाक्यशेषः । किंतु लोके याऽस्य लोकेश्वरतायाः प्रसिद्धिः सा प्रकाममत्यन्तं नोऽस्माकं दुःखाय भवेत् ॥ ३६ ॥

गर्जत्ययं तावदुदाचयोपो
गर्वं दधात्यीश्वरताऽभिषिक्तम् ।

यावन्न चाऽस्मादृशदृष्टियोगं गतो ...
गजो व्याघ्रमिवाऽनवेक्ष्य ॥ ३७ ॥

अयं पुरुषः उदात्तो महान् घोषः शब्दो यस्य स उदात्तघोषः सन् तावद्गर्जतु । पुनरीश्वरता ऐश्वर्येण अभिषिच्यते सेति ईश्वरताभिषिक्तं ऐश्वर्यजनितं गर्वमहङ्कारं तावद्दधातु, धारयतु यावदस्मादृशानामसत्तुल्यानां दृशोर्नेत्रयोर्योगं सम्बन्धं न गतो न प्राप्तः । क इव । व्याघ्रं शार्दूलमनवेक्ष्य अप्रेक्ष्य स्थितो गज इव । यथा गजस्तावदुदात्तघोषो गर्जति, तावच्च स्वमहत्त्वगर्वं दधाति यावद्व्याघ्रं न प्रेक्षते तथा अयमपीत्यर्थः । उदात्तेति । 'उदात्तो दातृमहतोर्हृद्ये च स्वरभिद्यपि' इति अनेकार्थः ॥ ३७ ॥

शैलालिनां सिद्धिरुतेन्द्रजाले
प्रस्तावसम्पादितवस्तुयोगात् ।
विद्यावतामत्र तु काऽपि नाऽऽस्था
मृषाविधौ न प्रतियन्ति बुद्धाः ॥ ३८ ॥

उतेति वितर्के, शैलालिनां नटानां प्रस्तावे अवसरे संपादितं निष्पादितं यद्वस्तु कौतुककारिपदार्थस्तस्य योगात् इन्द्रजाले कुहके, सिद्धिरस्तीति शेषः । विद्यावतां तु अत्रेन्द्रजाले कापि आस्थाऽपेक्षा न, कोऽप्यादरो नास्तीत्यर्थः । कथमित्याह—यतो बुद्धाः पण्डिता मृषाविधौ मिथ्याकार्ये न प्रतियन्ति न प्रतीतिं कुर्वन्ति । इन्द्रजालस्य मिथ्याकार्यत्वान्न तत्र विदुषामादर इति भावः । 'नटः कृशाश्वी शैलाली' इति हैमः । आस्थेति । 'आस्था यत्नालम्बनयोरस्थानाऽपेक्षयोरपि' इति अनेकार्थः । प्रतियन्तीति । प्रतिपूर्वादिणः कर्तरि लट् ॥ ३८ ॥

वादाय नैव प्रभविष्णुरेषो-
ऽस्माभिः समं निश्चितमेतदस्ति ।
नागाधिराजोऽपि विषं विमुञ्चन्
किं वैनतेयेन समं समर्थः ? ॥ ३९ ॥

एष पुमान् अस्माभिः समं सार्द्धं वादाय वादं कर्तुं नैव प्रभविष्णुः समर्थो विद्यते एतन्निश्चितं निश्चयीकृतमस्ति । एतमेवार्थमर्थान्तरन्यासेन द्रढयति—नागाधिराजः सर्पेन्द्रो विषं विमुञ्चन्नपि परपीडनार्थं मुखाद्बहिर्निष्कासयन्नपि वैनतेयेन गरुडेन समं सह, योद्धुमिति शेषः, किं समर्थो भवेत् ? न भवेदेवेत्यर्थः । वादायेति । 'क्रियार्थोपपदस्य—' (२।३।१४) इति चतुर्थी ॥ ३९ ॥

एवमुक्त्वा पुनर्गौतमस्तानाह—

निर्जित्य तं यावदुपैमि गेहं विद्वद्वरैस्तावदिहाऽसितव्यम् ।
पुरोग एवारिबलं जयेचेत् कृतं तदा पृष्ठगचक्रवीरैः ॥ ४० ॥

अहो ! विद्वांसो ! यावत्तं पुरुषं निर्जित्य अहं गेहमुपैमि गृहमागच्छामि, तावद्विद्वद्वरैर्विद्वत्सु प्रधानैर्भवद्भिः इह आसितव्यम् अत्रोपवेष्टव्यम् । उक्तेऽर्थेऽर्थान्तरं न्यस्यति—चेद्यदि पुरोग एव सैन्याग्रगामी सुभट एव अरिबलं वैरिसैन्यं जयेत् अभिभवेत्, तदा पृष्ठगचक्रवीरैः पृष्ठगामिसैन्यसुभटैः कृतं, सृतमित्यर्थः ॥ ४० ॥

इति सरभसमुद्यन्माननागाधिरूढः
शरभिवशतशिष्यैर्वर्द्धितोत्साहसारः ।
समवसरणमेतं द्रष्टुमाश्चर्यहेतुं
भगवदभिमुखं द्रागिन्द्रभूतिः प्रतस्थे ॥ ४१ ॥

इति अमुना प्रकारेण सरभसं सत्वरमुचन् प्रादुर्भवन् यो मानो गर्वः स एव नागो हस्ती तमधिरूढ आरूढः । पुनः शरा बाणा अर्थात्पञ्च, तैः मितानि प्रमितानि यानि शतानि पञ्चशतानीत्यर्थः । तावन्तो ये शिष्याश्छात्रास्तैर्वर्द्धितो वृद्धिं नीत उत्साह एव सारो बलं यस्य स तथोक्त एवंभूत इन्द्रभूतिर्गौतमः आश्चर्यहेतुं विस्मयकारणं ईशस्य भगवत इदं ऐशं समवसरणं द्रष्टुं विलोकयितुं द्राक् शीघ्रं भगवतोऽभिमुखं संमुखं प्रतस्थे चचाल । सरभसमिति । 'रभसो वेगहर्षयो'रित्यनेकार्थः । 'वेगो रंहस्त्वरा वे'ति तद्वृत्तिः । अधिरूढ इति । 'गत्यर्थ–' (३।४।७२) इत्यादिना कर्त्तरि क्तः । प्रतस्थे इति । प्रपूर्वात्स्थाधातोः कर्त्तरि लिट् । इदं मालिनीवृत्तं, तल्लक्षणं तु 'न-न-म-य-य-युतेयं मालिनी भोगिलोकै'रिति ॥ ४१ ॥

इति गौतमविषादोत्साहवर्णनो नाम पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

इतीति स्पष्टम् ।

इति श्रीगौतमीयप्रकाशाख्यायां गौतमीयमहाकाव्यव्याख्यायां पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

षष्ठः सर्गः ।

प्रस्थितोऽथ वरगुर्वराह्वयाद्ग्रामतो वनदिशं दृशौ क्षिपन् ।
गौतमो विबुधखण्डिकैर्वृतो दिव्यदैवरचनामुदैक्षत ॥ १ ॥

यस्य चारुरचनाविराजितं दिव्यधाम सुरराजिनिर्मितम् ।
इन्द्रभूतिरभिवीक्ष्य विस्मयं प्राप सोऽस्तु जिनपुङ्गवो मुदे ॥ १ ॥

अथ यज्ञगृहात् प्रस्थानाऽनन्तरं वरगुर्वराह्वयात् 'वरगुर्वर'नामका-ग्रामतः प्रस्थितश्चलितो विबुधाः पण्डिता ये खण्डिकाः स्वशिष्यास्तैर्वृतो

वेष्टितो गौतम इन्द्रभूतिर्वनदिशं प्रति दृशौ दृष्टी क्षिपन् प्रेरयन् दिव्या मनोज्ञा या देवानां समूहो दैवस्तेन कृता रचना समवसरणरूपा तां उदैक्षत उच्चैर्विलोकितवान् । अस्मिन् सर्गे रथोद्धतावृत्तं, तल्लक्षणं च 'रान्नरा-विह रथोद्धता लगा'विति ॥ १ ॥

श्यामलच्छविविभासितं वनं तावदस्य नयने व्यलोभयत् ।
पूर्वमेव महिमानमैश्वरं ज्ञापयत्कुमतमोहितानिव ॥ २ ॥

तावत्प्रथमं श्यामला श्यामा या छविः प्रभा तया विभासितं दीप्यमानं वनं, अस्य गौतमस्य नयने चक्षुषी व्यलोभयत्, विमोहिते चकार । वनं किं कुर्वदिव । पूर्वमेव प्रथममेव कुमतेन कुदर्शनेन मोहितान् लोकान् ईश्वरस्याऽयमैश्वरः तं महिमानं महत्त्वं ज्ञापयदिव । 'स्याद्रामः श्यामलः श्याम' इति हैमः ॥ २ ॥

एतदेव महसेनकं वनं दृश्यते किमथवाऽत्र नन्दनम् ? ।
श्रीरमुष्य जनिताऽद्भुता कथं संनिधाय स हृदीत्यचिन्तयत् ॥३॥

अत्र प्रदेशे एतत् महसेनकं महसेननामकमेव वनं दृश्यतेऽथवा किं नन्दनं वनं दृश्यते ? अथ चेन्महसेनवनमेवैतत्तर्हि अमुष्य अस्य वनस्य श्रीः शोभाऽद्भुता आश्चर्यकारिणी कथं केन प्रकारेण जनिता उत्पादिता ? मालाकारादिभिरिति शेषः । इत्यमुना प्रकारेण स गौतमः संनिधाय वनसामीप्यं प्राप्य हृदि मनसि अचिन्तयत् चिन्तयति स्म ॥ ३ ॥

पुनर्गौतमो यदचिन्तयत्तदाह—

चित्रमेतदपरं विलोक्यते स्तम्भयोगमपहाय कारणम् ।
रत्नभूमिरियमुन्नता यतो व्योम्न्यहो ! गुरुतरा प्रतिष्ठिता ॥ ४ ॥

एतत् अपरं चित्रमाश्चर्यं विलोक्यते, यतः—कारणं प्रतिष्ठानहेतुभूतं स्तम्भयोगं स्तम्भसम्बन्धमपहाय त्यक्त्वा इयं उन्नता सार्द्धक्रोशद्वयोच्चा गुरुतराऽतिमहती, योजनप्रमितेत्यर्थः । एवंविधा रत्नभूमिः रत्नमयी पृथ्वी व्योम्नि आकाशे प्रतिष्ठिता, निराधारा स्थितेत्यर्थः । अहो ! इति पादपूरणे, निपातानामनेकार्थत्वात् ॥ ४ ॥

आरुरुक्षुरयं तां स उच्चकै रत्नबद्धरमणीयवर्त्मना ।
प्राङ्निरीक्ष्य जलपूर्णदीर्घिकां सेरपद्मसचिवां विसिस्मिये ॥ ५ ॥

अथानन्तरं उच्चकैरुन्नतेन रत्नैर्बद्धं यद्रमणीयं मनोज्ञं वर्त्म मार्गस्तेन तां रत्नभूमिं आरोढुमिच्छुरारुरुक्षुः स गौतमः प्राक् पूर्वं सेराणि विकसितानि पद्मानि कमलानि सचिवाः सहाया यस्यास्ताम्, विकचकमलयुक्तामित्यर्थः । एवंविधां जलपूर्णदीर्घिकां जलभृतवापीं निरीक्ष्य दृष्ट्वा विसिस्मिये विस्मयं मासवान् । 'सचिवः सहायेऽमात्ये' इति हेमः । विसिस्मिय इति । 'ष्मिङ् ईषद्धसने' विपूर्वोदस्मात्कर्तरि लिट् ॥ ५ ॥

विस्मयप्रकारमाह—

दीर्घकालमपि शिल्पिकल्पिता नेदृशी भवति दीर्घिका पुनः[1] ।
साऽधुनैव रचिता ततः स्फुटा देवताकृतिरियं प्रतीयते ॥ ६ ॥

दीर्घकालमपि यावत् शिल्पिभिः कलावद्भिः कल्पिता रचिता दीर्घिका वापी ईदृशी न भवति, येयं मया दृष्टा सा पुनर्वापी तु अधुनैव रचिताऽस्ति तत इयं स्फुटा प्रकटा देवताकृतिर्देवक्रिया प्रतीयते, ज्ञायते, न मनुष्यकृतिरियमित्यर्थः ॥ ६ ॥

१ 'दीर्घकालमपि यावत् शिल्पिभिः शिल्पकल्पिता नेदृशी भवति', इति पूर्वमुद्रितमूलपाठश्छन्दोभङ्गपरत्वादसमीचीनः ।

सोऽथ मोक्षमिव गन्तुमुन्मुखो वप्रसंमुखमितः समुद्ययौ ।
संमुखीकृतविशुद्धबोधतः प्राप्य शक्तिमिव चोर्द्धगामिनीम् ॥७॥

अथाऽनन्तरं स गौतमो मोक्षं गन्तुमुन्मुख इव इतोऽस्माद्वापीपदेशाद्वप्रसंमुखं समवसरणप्रकाराभिमुखं समुद्ययौ सम्यक्प्रकारेण ऊर्द्धं ययौ । किं कृत्वेव । संमुखीकृतो यो विशुद्धबोधो निर्मलज्ञानं तस्मात् ऊर्द्धगामिनीं शक्तिं प्राप्येवेत्युत्प्रेक्षा, च पादपूरणे ॥ ७ ॥

वप्रगोपुरपुरःस्थतोरणं लम्बमानमणिहारभूषणम् ।
गन्धलुब्धमधुपावलीमिलत्पुष्पदामसुमशेखराञ्चितम् ॥ ८ ॥

लोचनातिथिमवाप्य लोभित-
स्तच्छ्रिया स मतिमत्र सन्दधे ।
पूर्वकल्पितविकल्पजल्पना
मामिका विघटितेव भासते ॥ ९ ॥—युग्मम् ।

इह इति शब्दोऽध्याहार्य्यः ततश्चैवमन्वयः—लंबमाना ये मणिहारा मणिमया हारास्त एव भूषणानि यस्य तत्तथोक्तं, पुनः पुष्पदामानि पुष्पमालाः सुमशेखराणि पुष्पशेखराणि तेषां द्वन्द्वः, गन्धे लुब्धा या मधुपावली भ्रमरश्रेणिस्तया मिलन्ति संसर्गवन्ति यानि पुष्पदामसुमशेखराणि तै रचितं प्रशस्तं एवंविधं वप्रगोपुरस्य प्राकारस्य पुरोऽग्रे तिष्ठतीति वप्रगोपुरपुरःस्थं यत्तोरणं तल्लोचनयोरतिथिं नेत्रयोर्गोचरमवाप्य प्राप्य तस्य तोरणस्य श्रिया शोभया लोभितो विमोहितः स गौतमोऽत्र प्रस्तावे इति मतिं बुद्धिं संदधे धारयामास । इतीति किं तदाह—ममेयं मामिका पूर्वं कल्पिता विहिता ये विकल्पा विमर्शास्तेषां जल्पना विघटिता इव अन्यथाभूता इव भासते मद्विकल्पितेन्द्रजालस्यात्राऽदर्शनादिति भावः । सुमेति । 'प्रसूनं कुसुमं सुम'मिति

हैमः। मामिकेति। अस्मदोऽपि ममकादेशः, 'टिड्ढाणञ्' (४।१।१५) इति ङीप् प्राप्तावपि 'केवलमामक—' (४।१।३०) इति नियमात् टाप्, ककारस्यादेशावयवत्वेन प्रत्ययस्थत्वाभावात् इकाराऽप्राप्तावपि 'मामकनरकयोः' (वा०) इत्युपसङ्ख्यानात् इत्वम् ॥ ८ ॥ ९ ॥

कथमित्याह—

इन्द्रजालकुतुकं कृशाश्विनां दृष्टिसम्भ्रमकरं न चार्थकृत् ।
अर्थकृत्त्वमपरोक्षमत्र तु प्रेक्ष्यते किमपरं परीक्षितुम् ? ॥ १० ॥

कृशाश्विनां नटानां सम्बन्धि इन्द्रजालकुतुकं इन्द्रजालकौतुकं दृष्ट्योर्नेत्रयोः संभ्रमकरं चमत्कारकरं वर्तते, परं न चार्थकृत्, कार्यसाधकं नास्तीत्यर्थः। अत्र तु अपरोक्षं प्रत्यक्षं अर्थकृत्त्वं विद्यते, ततश्च अपरमन्यत् परीक्षितुं किं प्रेक्ष्यते किं विलोक्यते ? अपरपरीक्षाया अत्र किमपि प्रयोजनं नास्तीत्यर्थः। कुतुकमिति। 'कौतूहलं तु कुतुक'मिति हैमः ॥ १० ॥

राजती वरणभित्तिरीदृशी वीरुदु(धु ?)ल्लिखितभक्तिभूषिता ।
मूर्ध्नि हैमकपिशीर्षमण्डिता देवकृत्यमतिरिच्य न क्वचित् ॥ ११ ॥

ईदृशी एवंविधा वीरुधां विस्तारवद्वल्लीनां उल्लिखिताभिर्भक्तिभिर्भूषिता शोभिता मूर्ध्नि मस्तके हैमैः स्वर्णमयैः कपिशीर्षैः मण्डिता रजतस्येयं राजती रूप्यमयी वरणभित्तिः प्राकारभित्तिर्देवानां कृत्यं कार्यमतिरिच्य पृथक्कृत्य, देवकृत्यं विनेत्यर्थः। न क्वचिद् दृष्टेति शेषः। अतो निश्चितं देवकृत्यमेवेदं न त्विन्द्रजालमिति भावः। वीरुच्छब्दो धान्तः ॥ ११ ॥

दर्शनीयमिह नास्ति यन्न तत् सर्वमेव किल चित्तहारकम् ।
निःप्रयोजनविलम्बनं परं यत्र तत्र न मनस्विनो वरम् ॥ १२ ॥

इह प्रदेशे यद्वस्तु तत् चित्तहारकं मनोहरं विद्यते, परं मनस्विनः सुमनसः पुरुषस्य यत्र तत्र प्रदेशे निःप्रयोजनं निष्कारणं विलम्बनं विलम्बकरणं न वरं न श्रेष्ठं, स्वकृत्यं साधनीयमिति भावः। मनस्विन इति प्रशंसायां विनिः ॥ १२ ॥

स प्रविश्य विशिखां पुरस्ततः पश्यति स सुविमानमालिकाः।
सद्वधूहृदयदेशशोभिता रत्नहारलतिका इवोज्ज्वलाः ॥ १३ ॥

ततस्तदनन्तरं स गौतमः पुरोऽग्रे विशिखां प्रतोलीं प्रविश्य सुविमानमालिकाः शोभनविमानश्रेणीः पश्यति स दृष्टवान्। का इव। सद्वध्वा हृदयदेशे वक्षःस्थले शोभिता उज्ज्वला निर्मला रत्नहारलतिका इव विविधमणिमयहारलता इव 'प्रतोलीविशिखाः समाः' इति हैमः ॥ १३ ॥

ततः किं जातमित्याह—

यो गभीरजलवाहगर्जितं ह्रेपयन् प्रसरति स्म सर्वतः।
श्रीजिनेन्द्रहृदयाननोद्गतः शुश्रुवे स मधुरो महाध्वनिः ॥१४॥

यो ध्वनिर्गभीरं गम्भीरं यज्जलवाहस्य मेघस्य गर्जितं तत् ह्रेपयन् लज्जयन् सर्वतः सर्वासु दिक्षु प्रसरति स्म विसृतवान्। स श्रीजिनेन्द्रस्य वीरप्रभोर्हृदयाननाभ्यां हृदयमुखाभ्यां उद्गतो ध्वनिः सतो मधुरो महाध्वनिः शुश्रुवे श्रूयते स्म, तेन गौतमेनेति शेषः। ह्रेपयन्निति। 'ह्री लज्जायां', हेतुमण्णिजन्तादस्माल्लटः शतृ, 'अर्त्तिह्री–' (७।३।३६) इति पुक्। शुश्रुवेति। श्रुधातोः कर्मणिलिट् ॥ १४ ॥

भगवद्वाणीं श्रुत्वा गौतमेन यदचिन्ति तदाह—

। यस्य कर्णसुखदः प्रवर्त्तते
दैवतूर्यनिनदोपरि ध्वनिः।

स त्वचिन्त्यमहिमाऽनुमीयते
कोऽपि संप्रति विनाऽपि दर्शनम् ॥ १५ ॥

कर्णयोः सुखं ददातीति कर्णसुखदो यस्य ध्वनिर्देवतूर्याणां देववादित्राणां निनदस्य शब्दस्योपरि मवर्तते, स तु संप्रति अधुना दर्शनं विनाऽपि कोऽपि अचिन्त्यो महिमा मभावो यस्य सोऽचिन्त्यमहिमा पुमान् अनुमीयते ज्ञायते । माङः कर्मणि लट् ॥ १५ ॥

ततः स्वर्णवप्रमालोक्य तेन यच्चिन्तितं तदाह—

भानुभानुभिरुपेधितद्युतिर्भात्यहो ! कनकभित्तिरग्रतः ।
वप्र एष मणिशृङ्गसङ्गतः स्वर्णशैलसुषमामिवोद्वहन् ॥ १६ ॥

अहो इति आश्चर्ये, भानोः सूर्यस्य भानुभिः किरणैरुपेधिता वृद्धिं गता द्युतिर्दीप्तिर्यस्य स तथोक्तः, पुनः कनकस्य स्वर्णस्य भित्तिर्यस्य स कनकभित्तिः, पुनर्मणिशृङ्गैर्मणिमयकपिशीर्षैः सङ्गतो मिलितः अग्रत एवंविध एष वप्रः प्राकारः स्वर्णशैलस्य मेरुपर्वतस्य सुषमां शोभां उद्वहन्निव धारयन्निव भाति शोभते । 'सुषमा तु स्यात्परमशोभायां कालभिद्यपि' इति अनेकार्थः ॥ १६ ॥

गोपुरं च रुचिरं सतोरणं दीप्यमानमणिभाप्रभासितम् ।
शक्रचापकमलाऽपहारकं मन्मनो नयति पङ्गुतामिव ॥ १७ ॥

च पुनर्दीप्यमानानां मणीनां भाभिर्दीप्तिभिः प्रभासितं विराजितं अत एव शक्रचापस्य इन्द्रधनुषः कमलाया लक्ष्म्या अपहारकं एवंविधं रुचिरं मनोज्ञं सतोरणं तोरणसहितं गोपुरं स्वर्णप्राकारद्वारं कर्तृ,

१ 'गोपुरं सुचिरं सतोरणं' इति काशीमुद्रितः पाठः, स च छन्दोनुरोधादप्यसरसः ।

मन्मनो मच्चित्तं पङ्गुतां पङ्गुलतामिव नयति प्रापयति, एतत्त्यक्त्वाऽग्रतो गन्तुं न शक्यते इति भावः ॥ १७ ॥

इन्द्रजालरचना विवक्ष्यते चेदिहाप्यभिनिवेशमोहितैः ।
तर्हि सत्पथकथावधारणे सर्वमप्युदितमप्रमाणकम् ॥ १८ ॥

अभिनिवेशो जानत एवाऽसदाग्रहस्तेन मोहितैर्मूढचित्तैः पुरुषैरिहापि चेद्यदि इन्द्रजालरचना विवक्ष्यते वक्तुमिष्यते तर्हि सत्पथस्य सन्मार्गस्य कथाया वार्ताया अवधारणे निश्चयकारणे शास्त्रादौ उदितमुक्तं सर्वमपि अप्रमाणकं प्रामाण्यरहितं, स्यादिति शेषः । इह सर्वस्यापि सद्भूतवस्तुन एव दर्शनादिन्द्रजालकल्पनाया अनृतत्वमिति भावः । अवधारणे इति । अवधार्यतेऽनेनेति विग्रहे करणे ल्युट् ॥ १८ ॥

'अस्तु मे गमनमग्रतः' पुनश्चेतसेति विमृशन् द्विजोत्तमः ।
प्राविशत्कनकवप्रगोपुरं प्रेक्षणाय पुरुषोत्तमश्रियः ॥ १९ ॥

पुनः 'मे मम अग्रतो गमनमस्तु' इति चेतसा हृदयेन विमृशन् विचिन्तयन् द्विजेषु उत्तमो द्विजोत्तमो गौतमः पुरुषोत्तमस्य श्रीवर्द्धमानस्वामिनः श्रियोऽशोकादिप्रातिहार्यलक्ष्म्याः प्रेक्षणाय दर्शनार्थं कनकवप्रस्य स्वर्णप्राकारस्य गोपुरं द्वारं प्राविशत् प्रविशति स्म । विशोऽदादिकात्कर्तरि लङ् ॥ १९ ॥

जानुदघ्नकुसुमौघपस्तृतां भूमिमुद्धुरसुगन्धसंभृताम् ।
तत्र सुन्दरतरां निरीक्ष्य स स्वर्गलोकसुखमन्वबोभवीत् ॥ २० ॥

तत्र स्वर्णप्राकारे जानुः प्रमाणमस्येति जानुदघ्नो यः कुसुमौघः पुष्पसमूहस्तेन स्तृतामाच्छादितां अत एव उद्धुर उत्कटो यः सुसौगन्धो गन्धस्तेन संभृतां पूर्णां पुनः सुन्दरतरामतिमनोज्ञां एवंविधां

भूमिं निरीक्ष्य दृष्ट्वा स गौतमः स्वर्गलोकस्य सुखं अन्वबोभवीत् अतिशयेन अनुभवति स्म। जानुदघ्नेति। जानुशब्दात्प्रमाणेऽर्थे 'दघ्नच्' प्रत्ययः, सुन्दरतरामित्यत्र 'तसिलादिष्वाकृत्वसुचः' (६।३।३५) इति पुंवद्भावः। अन्वबोभवीदिति यङ्लुगन्ताद्भवतेः कर्तरि लङ्॥ २०॥

तत्र वप्रवलये समन्ततोऽपश्यदद्भुतमतीव चक्षुषा।
यद्विहाय कुलशत्रुतां मिथः सङ्गताः स्थलचराश्च पत्रिणः॥२१॥

तत्र तस्मिन् स्वर्णमये वप्रवलये प्राकारवलये समन्ततः सर्वप्रदेशेषु गौतमश्चक्षुषा अतीवाऽत्यन्तमद्भुतमाश्चर्यमपश्यत् दृष्टवान्। किमाश्चर्यमित्याह—यद्यस्मात्कारणात्तत्र स्थलचरा गोव्याघ्रादयश्च पुनः पत्रिणः पक्षिणः काकोलूकादयो मिथः परस्परं कुलशत्रुतां कुलसंबन्धवैरितां, जातिविरोधमित्यर्थः। विहाय त्यक्त्वा सङ्गता मिलिताः सन्ति, इदमेवाश्चर्यमपश्यदित्यर्थः॥ २१॥

ततो गौतमेन यदचिन्ति तदाह—

ये विवेकविकला भयाकुलाः
प्रायशो गिरिवनाधिवासिनः।
ताँस्तिरश्च इह शत्रवोज्झितान्
भारती भगवतो व्यधात्किल॥ २२॥

किलेति संभावनायां, ये तिर्यञ्चो विवेकविकला विवेकहीनाः पुनर्भयेन आकुला व्यग्राः पुनः प्रायशो बाहुल्येन गिरयश्च वनानि च गिरिवनानि तानि अधिवसन्तीति तच्छीलास्तन्निवासिन इत्यर्थः। सन्तीति शेषः। तान् तिरश्चस्तिर्यग्जीवान् इह प्रदेशे शत्रोर्भावः

शात्रवं शत्रुता तेन उज्झितान् रहितान्, भगवतो भारती वाणी व्यघात् करोति स इति संभाव्यते इति भावः ॥ २२ ॥

तद्ध्वनेर्मधुरिमाऽतिमोहितं द्वीपिनं हरिणयूथमध्यगम् ।
व्याघ्रकण्ठमुपसृत्य संस्थिता मोहिता मृगमृगीर्ददर्श सः ॥२३॥

तत्र प्रदेशे स गौतमः तस्य भगवतो ध्वनेर्वाण्या मधुरिम्णा माधुर्येण अतिमोहितं द्वीपिनं चित्रकं हरिणयूथस्य मृगसमूहस्य मध्यगं विरोधत्यागेन मध्यवर्तिनं ददर्श, तथा व्याघ्रस्य कण्ठमुपसृत्य तत्समीपे गत्वा संस्थिताः सम्यक् प्रकारेण स्थिता मोहिता इव मोहिता मृगाश्च मृग्यश्च मृगमृग्यस्ता ददर्श ॥ २३ ॥

शम्बरोऽपि मृगराजसंनिधावुज्जहाविह तदुद्भवां भियम् ।
एष एव महिमा महात्मनः क्वापि येन न कुतः पराभवः ॥२४॥

इह प्रदेशे शम्बरोऽपि पशुविशेषो मृगराजस्य सिंहस्य संनिधौ समीपे तदुद्भवां सिंहादुत्पन्नां भियं भीतिं उज्जहौ तत्याज । एषोऽस्य महात्मनो महापुरुषस्यैव महिमा माहात्म्यं, प्रभाव इति यावत् । दृश्यते इति शेषः । येन कारणेन इह क्वापि जीवे कुतः कस्मादपि जन्तोः पराभवस्तिरस्कारो न नास्ति । तदेतत्सर्वमस्यैवं माहात्म्यमिति भावः । इति गौतमश्चिन्तितवानिति वाक्यशेषोऽत्र बोध्यः । उज्जहाविति । उत्पूर्वात् 'ओहाक् त्यागे' अस्मात्कर्तरि लिट् । तदुद्भवामिति । उद्भवत्यस्मादित्युद्भवः, स सिंह एव उद्भव उत्पत्तिकारणं यस्या इति विग्रहः । भियमिति । 'भयं भीर्भीतिरातङ्क' इति हैमः ॥ २४ ॥

सारमेयवृषदंशकं पुनः श्रोतुमीश्वरगिरः समाहितम् ।
मुक्तवैरमिव जातसौहृदं गौतमः स्थितमपश्यदेकतः ॥ २५ ॥

पुनस्तत्र गौतमः ईश्वरस्य भगवतो गिरो वाणीः श्रोतुं, समाहितं समाधियुक्तमेकचित्तमित्यर्थः । अत एव मुक्तं त्यक्तं वैरं येन तन्मुक्तवैरं, ततश्च जातमुत्पन्नं सौहृदं मैत्री यस्य तज्जातसौहृदमिव एकत्र एकत्र प्रदेशे स्थितं सारमेयवृषदंशकं श्वानमार्जारमपश्यत् दृष्टवान् । सारमेयेत्यादि । सारमेयश्च वृषदंशकश्चेति येषां च विरोधः शाश्वतिक इति समाहारे द्वन्द्वः 'अस्थिभुग् भषणः सारमेयः कौलेयकः शुनः' इति हैमः । 'बिडाल ओतुर्मार्जारो हीकुश्च वृषदंशक' इति च ॥ २५ ॥

आलुलोकदपचापलं प्रभोर्भारतीश्रवणतः स वानरम् ।
मौनधारिणमिवार्यमानवं क्षामणापरमिवैडकाजकात् ॥ २६ ॥

पुनः प्रभोर्भारत्या वाण्याः श्रवणत आकर्णनात् अपगतं चापलं चपलत्वं यस्य तमपचापलं, अत एव आर्यमानवमिव सत्पुरुषमिव मौनधारिणं तूष्णीकं स्थितं एवंविधवानरं मर्कटं स गौतम एडकाऽजकात् मेण्ढक-बर्कराभ्यां क्षामणापरं क्षामणां कुर्वाणमिव आलुलोकत् पश्यति स्म । आङ्पूर्वात्लोकृधातोश्चुरादिण्यन्तात्कर्तरि लुङ् । अग्लोपित्वात्लोपधाह्रस्वः । एडकेत्यादि । एडकश्चाऽजकश्चेति द्वन्द्वे 'विभाषावृक्षमृग–' (२।४।१२) इत्यादिना वा एकवद्भावः ॥ २६ ॥

सिंहपृष्ठिमुपधाय लम्बितग्रीवमत्र गवयः पिबन् गिरम् ।
निर्भयस्तनुमचालयन्निजां गौतमेन ददृशे मनस्विना ॥ २७ ॥

अत्र प्रदेशे गवयो वनगवः पशुविशेषो लम्बिता ग्रीवा यत्र तल्लम्बितग्रीवं यथा स्यात्तथा सिंहस्य पृष्ठिं पृष्ठप्रदेशमुपधाय आश्रित्य गिरं भगवद्वाणीं पिबन् निर्भयः सन् निजां तनुं देहमचालयन् अप-

कम्पयन् मनस्विना सुमनसा गौतमेन ददृशे दृष्टः । दृशोः कर्मणि लिट् । 'गवयः स्याद्वनगव' इति हेमः ॥ २७ ॥

बोधिदध्वनिविमोहितं शशं तस्य मित्रमिव चित्रकं स्थितम् ।
शान्तमेकमपरं च निर्भयं गौतमो दृगतिथिं विनिर्ममे ॥ २८ ॥

बोधिदस्य भगवतो ध्वनिना विमोहितं शशं मृदुलोमकं पशुविशेषं तथा तस्य शशस्य मित्रमिव स्थितं चित्रकं शार्दूलं तयोर्मध्ये एकं चित्रकं शान्तं गतक्रोधं च पुनरपरमन्यं शशं निर्भयं एवंविधं तत्पशुद्वयं तत्र गौतमो दृशोर्नेत्रयोरतिथिं प्राघूर्णकं गोचरमित्यर्थः । विनिर्ममे कृतवान् । बोधिदेति । बोधिं सम्यक्त्वं ददातीति विग्रहे 'आतोऽनुपसर्गे—' (३।२।३) इति कः । विनिर्ममे इति । विनिपूर्वान्माङः कर्त्तरि लिट् ॥ २८ ॥

श्येन-गृध्र-शकुनिक्रमान्तरे
रक्तलोचन-शुकादिपत्रिणः ।
सालभित्तिषु गिरोऽनुभावतो
वीक्षते स स निराकुलोचलान् ॥ २९ ॥

स गौतमः सालभित्तिषु प्राकारभित्तिषु श्येन-गृध्र-शकुनीनां श्येनगृध्र-पक्षिणां क्रमान्तरे चरणमध्ये स्थितान् रक्तलोचनशुकादिपत्रिणः पारापत-कीरादिपक्षिणो गिरोऽनुभावतो भगवद्वाण्याः प्रभावात् निराकुलं उचलं चित्तं येषां ते तान् तादृशान् वीक्षते स ददर्श । 'हृचेतो हृदयं चित्तं स्वान्तं गूढपथोचले' इति हेमः ॥ २९ ॥

एतदद्भुतमुदीक्ष्य तद्गतं गौतमोऽथ विममर्श मानसे ।
योऽत्र कोऽपि पुरुषो महेश्वरस्तस्य चैष महिमाऽवधार्यते ॥३०॥

एतदनन्तरोक्तं तद्भुतं स्वर्णप्राकारस्थं अद्भुतमाश्चर्यं उदीक्ष्य दृष्ट्वा अथानन्तरं गौतमो मानसे हृदये विममर्श चिन्तयामास। किं विममर्शेत्याह—चशब्दो वाक्यालङ्कारे, अत्र प्रदेशे यः कोऽपि महेश्वरः पुरुषो विद्यते एव तस्य महिमा माहात्म्यं अवधार्यते ज्ञायते ॥३०॥

शम्भुकोणविनिविष्टमार्हतं
सद्म कल्पतरुमालिकावृतम्।
चित्तमस्य हरति स्म किं मनो-
हारि नैव जगदीश्वरास्पदम्? ॥ ३१ ॥

तत्र प्राकारे एवं शंभुकोणे ऐशान्यां विदिशि विनिविष्टं स्थितं पुनः कल्पतरुमालिकाभिः कल्पवृक्षपुष्पमालाभिर्वृतं वेष्टितं अर्हत इदं आर्हतं सद्म गृहं देवच्छन्दकमित्यर्थः। अस्य गौतमस्य चित्तं हरति स्म। युक्तोऽयमर्थः—जगदीश्वरस्य भगवत आस्पदं स्थानं किं मनोहारि नैव भवेत्? भवेदेवेत्यर्थः। नैवेति। अत्र एवशब्दोऽनवधारणार्थस्तेन 'एवे चाऽनियोगे' (वा०) इति पररूपम्। इत्थमेव शास्त्रान्तरेष्वपि 'रूप्यवप्रे यानानि स्वर्णवप्रे तिर्यञ्चो देवच्छन्दकं चे'ति दृश्यते। यदुक्तं श्रीजिनप्रभसूरिभिर्विधिप्रपायां नन्दिरचनाधिकारे "बीयपायारंतरे अहि-नउल-मय-मयाहिवाइतिरियाणं, तईयपायारंतरे दिव्वजाणाईणं ठवणेत्ति" ॥ (मुद्रित० पृ० ३०) श्रीयशोभद्रसूरिकृतप्राचीनसमवसरणस्तोत्रेऽप्युक्तं च 'बहिवप्पे जाणाई, बीए सत्तूवि मिथभावगया। तिरिया मणिमयछन्दो ईसाणे रयणवप्पवहिंति' ॥ एवं द्वितीये समवसरणस्तोत्रेऽपि बोध्यम् ॥ तत्पाठस्तु द्वितीयसर्गपृष्ठायेव (अत्र पृ० ६१) लिखितोऽस्तीति न पुनर्लिख्यते ॥ ३१ ॥

रत्नवप्ररमणीयरोचिषो रागरञ्जितमिवाखिलं नभः ।
पश्यतो द्विजवरस्य धीरभूद्रागिणी जिनवरोपसर्पणे ॥ ३२ ॥

रत्नवप्रस्य यद्रमणीयं रोचिर्ज्योतिस्तस्य रागेण रञ्जितमिवाऽखिलं समस्तं नभ आकाशं पश्यतो द्विजवरस्य गौतमस्य धीर्बुद्धिर्जिनवरस्य भगवत उपसर्पणे समीपगमने रागोऽस्त्यस्या इति रागिणी अभूत् ॥३२॥

स प्रविश्य वरतोरणेन तं भास्वरं वरणगर्भमैक्षत ।
विश्वनाथमहसाऽभिपूरितं निर्मलाऽद्भिरिव संभृतं सरः ॥३३॥

स गौतमो वरतोरणेन तं मणिवप्रं प्रविश्य विश्वनाथस्य भगवतो महसा ज्योतिषाऽभिपूरितं भृतं अत एव भास्वरं दीप्तिमन्तं वरणस्य प्राकारस्य गर्भं मध्यभागं ऐक्षत दृष्टवान् । ईक्षतेः कर्त्तरि लङ् । किमिव । निर्मला या आपो जलानि ताभिः संभृतं पूरितं सर इव भगवन्महसो निर्मलजलेनौपम्यम्, प्राकारमध्यस्य सरसा औपम्यम् ॥ ३३ ॥

दिक्चतुष्कनिगमाऽऽगतामरैः पूर्य्यमाणमरुचत्तदङ्गणम् ।
सिन्धुनाथ इव वेगपातिभिः सर्वतः प्रसृतसिन्धुवारिभिः ॥३४॥

.. दिशां चतुष्कस्य ये निगमा मार्गास्तानागताः प्राप्ता येऽमरा देवास्तैः पूर्य्यमाणं भ्रियमाणं तस्य प्राकारस्याङ्गणं तदङ्गणं अरुचत् शोभते स्म । क इव । वेगेन पतन्ति तच्छीलानि वेगपातीनि तैः, सर्वतः सर्वासु दिक्षु प्रसृतानि विसृतानि यानि सिन्धुवारीणि गङ्गादिनदीजलानि तैः पूर्य्यमाणः सिन्धुनाथः समुद्र इव, यथा स शोभते तथेदमपीत्यर्थः । अरुचदिति । रुचिधातुरात्मनेपदी अस्माल्लुङि 'द्युद्भ्यो लुङि' (१।३।९१) इति परस्मैपदं द्युतादित्वात् च्लेरङ् ॥३४॥

रत्नपीठमथ मध्यराजितं तुङ्गशृङ्गमिव मेरुसङ्गतम् ।
आरुरोह स विमोहमुद्गमन् ध्यानपद्धतिमिवाश्रितो मुनिः॥३५॥

अथानन्तरं ध्यानपद्धतिं ध्यानमार्गं आश्रित आलम्ब्य स्थितो मुनिरिव विमोहं विमूढत्वं व्यग्रचित्तत्वमिति यावत्, उद्वमन् परित्यजन् स गौतमो मेरुणा स्वर्णाचलेन सङ्गतं मिलितं मेरुसम्बन्धीत्यर्थः । तुङ्गमुन्नतं शृङ्गं शिखरमिव मध्ये रत्नप्राकारस्याऽभ्यन्तरे राजितं शोभितं रत्नपीठमारुरोह आरूढवान् ॥ ३५ ॥

आतपत्रमिव दण्डमण्डितं सत्प्रवालकुसुमैः करम्बितम् ।
छाययाऽत्र विनिवारिताऽऽतपं स न्यमालयदशोकपादपम्॥३६॥

सन्ति समीचीनानि यानि प्रवालाश्च नवकिसलयानि कुसुमानि च पुष्पाणि तैः करम्बितं मिश्रितं पुनश्छायया विशेषेण निवारित आतपो येन स विनिवारिताऽऽतपस्तं पत्राणामतिसान्द्रत्वादिति भावः । अत एव दण्डेन मण्डितं शोभितं आतपत्रं छत्रमिव स्थितं एवंविधं अशोकपादपमशोकवृक्षं स गौतमोऽत्र रत्नपीठे न्यमालयत् पश्यति स्म । 'ननु 'भल निरूपणे' अस्य चौरादिकस्याकुस्मीयत्वेनात्मनेपदित्वाल्लङि न्यमालयतेति रूपं स्यात्, ततश्च कथमत्र परस्मैपदप्रयोग इति' चेत्—सत्यं, परमत्र निभालनं निभालः भावे घञ्, तमकरोदिति विगृह्य 'तत्करोति' (ग०) ण्यन्ताल्लङिति नोक्तदोषः । करम्बितमिति । 'करम्बः कबरो मिश्र' इति हैमः ॥ ३६ ॥

तत्र मूलमनुकृत्य काञ्चने रोरुचन्मणिविचित्र आसने ।
गौतमोऽनुपमदीप्तिदीपितं वीक्ष्य नाथमपुनान्निजे दृशौ ॥३७॥

तत्राऽशोकवृक्षे यन्मूलं स्कन्धप्रदेशस्तदनुकृत्य पश्चात् कृत्वा, स्थिते इति शेषः । काञ्चनस्य विकारः काञ्चनं तस्मिन्, स्वर्णमये इत्यर्थः । तथा रोरुचन्तो देदीप्यमाना ये मणयः स्फटिकाद्यास्तैर्विचित्रे एवं-

विधे आसने सिंहासने स्थितं, तथा न विद्यते उपमा यस्याः साऽनुपमा ईदृशी या दीप्तिः प्रभा तया दीपितं नाथं श्रीवीरप्रभुं वीक्ष्य दृष्ट्वा गौतमो निजे स्वकीये दृशौ नेत्रे अपुनात् पवित्रयति स्म । 'पूञ् पवने'. क्रैयादिकोऽस्माल्लङ् । रोरुचदिति । अतिशयेन पुनः पुनर्वा रोचन्ते इति रोरुचन्तः यङ्लुगन्तस्य परस्मैपदित्वात् शतृ, 'नाभ्यस्तस्याचि' (७।३।८७) इति लघूपधगुणनिषेधः । भाष्यमते तु—'अतिशयेऽर्थे रुच्धातोर्यङ् न भवति । भृशं शोभते रोचते इत्यादौ यङ् नेत्युक्तत्वात्, तन्मतेऽत्र पौनःपुन्ये एव यङ्,' दीपितमिति णिजन्ताद्दीप्यतेः क्तः ॥ ३७ ॥

अस्य विश्वपतिदर्शनासहाऽवाङ्मुखी यदभवन्मृषामतिः ।
तद्बभूव सुमतिस्तु संमुखी कुत्र न प्रकृतिभेद ईक्ष्यते ॥ ३८ ॥

विश्वपतेर्भगवतो दर्शनं न सहते इति विश्वपतिदर्शनासहा अत एवाऽवाङ् मुखं यस्याः साऽवाङ्मुखी अधोमुखी, विपरीतेत्यर्थः, एवंविधा यदस्य गौतमस्य मृषामतिर्मिथ्याबुद्धिरभवत्। तु इति विशेषे, तत् संमुखी अविपरीता सुमतिर्बभूव । युक्तोऽयमर्थः—प्रकृतेः स्वभावस्य भेदो भिन्नत्वं, परावर्त इति यावत् । कुत्र न ईक्ष्यते न दृश्यते ? कारणवशो प्रायस्सर्वत्रेक्ष्यते इत्यर्थः । अतोऽस्यापि मृषामतेः सुमतितया भवनं युक्तमेवेति भावः । दर्शनेत्यादि । सहते इति सहा पचाद्यच्, न सहाऽसहा, दर्शनस्याऽसहेति षष्ठीतत्पुरुषः ॥ ३८ ॥

इत्थं यज्ञगृहे जनस्य पुरतो यां च प्रतिज्ञां दृढां
चक्रे तां तु पदे पदे शिथिलयन्नागत्य नाथान्तिके ।
तस्थौ तन्महसा जडीकृत इवाश्चर्योपभोगावशो
वाणीं भागवतीं पिबन् प्रमुमुदे विद्वत्तमो गौतमः ॥३९॥

इत्थमनेनोक्तप्रकारेण अतिशयेन विद्वानिति विद्वत्तमो गौतमो यज्ञगृहे जनस्य लोकस्य पुरतोऽग्रतो यां च इदां प्रतिज्ञां 'निर्जित्य तं यावदुपैमि गेहम्' (अत्र पृ० १२६) इत्यादिकां चक्रे पुरा कृतवान्, तां पदे पदे शिथिलयन् शिथिलीकुर्वन् नाथस्य श्रीवीरप्रभोः अन्तिके समीपे आगत्य तस्य भगवतो महसा तेजसा जडीकृत इव स्तम्भित इव तस्थौ अवतिष्ठते स्म । तत्र आश्चर्यस्य उपभोगोऽनुभवनं तेन अवशोऽनात्मवशः, पराधीन इत्यर्थः । एवंविधो गौतमो भगवत इयं भागवती तां भगवत्संबन्धिनीं वाणीं पिबन् प्रमुमुदे प्रकर्षेण हर्षितो बभूव । शिथिलयन्निति । 'तत्करोति' (ग०) इति णिजन्ताल्लटः शतृ । प्रमुमुदे इति । मुदः कर्तरि लिट् । इदं शार्दूलविक्रीडितवृत्तं, तल्लक्षणं तु 'सूर्याश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडित'-मिति ॥ १९ ॥

इति गौतमस्याऽद्भुतावेशवर्णनो नाम षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

इति अद्भुतस्याश्चर्यस्य आवेशः आटोपस्तस्य वर्णनं यस्मिन्स तथोक्तः, शेषं सुगमम् ॥

इति श्रीगौतमीयप्रकाशाख्यायां श्रीगौतमीयमहाकाव्यव्याख्यायां षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

सप्तमः सर्गः ।

अथ विज्ञाय भगवांस्तत्तत्तीर्थप्रवृत्तये ।
महसेनवनं क्षेत्रमपापायाः पुरोऽन्तिके ॥ १ ॥
पूर्वाह्णकाले वैशाखवलक्षैकादशीतिथेः ।
द्रव्यं च गौतमाभिख्यं भाव्यं चरमदेहिताम् ॥ २ ॥

'इन्द्रभूते ! त्वमायाही'त्यस्य नामोक्तिपूर्वकम् ।
वाक्येनालापयामास द्विजं मधुरया गिरा ॥ ३ ॥

२ त्रिभिर्विशेषकम् ।

विशुद्धविज्ञानकरं प्रसार्य द्विजेन्द्रभूतिर्भवसिन्धुमध्यात् ।
समुद्धृतो येन जिनेश्वराय नमोऽस्तु तस्मै त्रिशलात्मजाय ॥ १ ॥

अथ ततस्तदनन्तरं भगवान् ज्ञानादिमहातिशयसम्पन्नो वीरप्रभुस्तीर्थप्रवृत्तये चतुर्विधसङ्घप्रवृत्त्यर्थमपापायाः पुरः अपापासंज्ञिकानगर्या अन्तिके समीपप्रदेशे वर्तमानं महसेनवनं महसेनाख्यं काननं क्षेत्रं विज्ञाय ज्ञात्वा तथा वैशाखवलक्षैकादशीतिथेः माधवमासोज्ज्वलैकादशीकर्मवाच्याः पूर्वाह्णसमये, एतावता वैशाखशु(शु)क्लैकादशीदिनपूर्वभागं च कालं विज्ञायेत्यर्थः । तथा गौतमोऽभिख्या नाम यस्य तत्तथाविधं च द्रव्यं विज्ञाय तथा पुनश्चरमदेहितां चरमशरीरित्वं भावं विज्ञाय, एतेन द्रव्यक्षेत्रकालभावचतुष्टयस्यापि योग्यतां ज्ञात्वा 'हे इन्द्रभूते गौतम ! त्वं आयाहि आगच्छ' इतीत्थंभूतेन वाक्येन वचनेन अस्य गौतमस्य नामोक्तिपूर्वकमभिधानोच्चारणपूर्वकं मधुरया मनोज्ञया मृद्व्या या गिरा वाण्या द्विजमिन्द्रभूत्याख्यं ब्राह्मणमालापयामास संभाषयामास । अथेति । अथशब्दोऽत्र मङ्गलार्थो निपातः, स च मृदङ्गध्वनिवत् स्वरूपेणैव मङ्गलं, यद्वाऽधिकारार्थ आरम्भार्थो वा, न त्वनन्तरार्थः; 'ततः' शब्दस्य वैयर्थ्यापत्तेः । 'अथो अथ समुच्चये मङ्गले संशयाऽऽरम्भाऽधिकारानन्तरेषु च' इत्यनेकार्थः । भगवानिति । 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य रूपस्य यशसः श्रियः । ज्ञान-वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना' ॥ १ ॥ इति षडर्थवाचको भगशब्दोऽत्र प्रायः, स विद्यतेऽस्येति 'तदस्यास्ति' (५।२।९४) इति मतुप्, 'मादु०'

(८।२।९) इति मतोर्मस्य वः । पुर इत्यादि । 'पूः स्त्री पुरीनगर्यौ वा' इत्यमरः । 'अन्तिकं पुनः पार्श्वे' इति हैमः । पूर्वाह्णेत्यादि । अह्नः पूर्वः पूर्वाह्णः 'पूर्वापर–' (२।२।१) इत्यादिना समासे 'राजाहःसखिभ्यः–' (५।४।९१) इति टच् । स चासौ कालश्च तस्मिन् । वैशाखेत्यादि । एकादशी चासौ तिथिश्च एकादशीतिथिः वलक्षा चासौ एकादशीतिथिश्च वलक्षैकादशीतिथिः, वैशाखस्य वलक्षैकादशीतिथिः वैशाखवलक्षैकादशीतिथिस्तस्याः । 'वलक्षो धवलोऽर्जुन' इत्यमरः । 'तिथिः पुनः कर्मवाटी' इति हैमः । **चरमेत्यादि** । चरमश्चासौ देहश्च चरमदेहः, सोऽस्ति अस्येति चरमदेही, तस्य भावस्तत्ता, तां मत्वर्थिकेन्नन्ताद्भावे तल् । आयाहीति । आङ्पूर्वात् याधातोर्लोट् । **नामेत्यादि** । नाम उक्तिः कथनं सा पूर्वा यत्र कर्मणि तत्, क्रियाविशेषणमिदं, 'शेषाद्विभाषा' (५।४।१५४) इति कप् । 'आपोऽन्यतरस्याम्' (७।४।१५) इति ह्रस्वः । आलापयामासेति । 'लप परिभाषणे' हेतुमण्णिजन्तादस्मादाम् । मधुरयेति । 'मधुरस्तु प्रिये स्वादा'विति हैमः (अनेकार्थः) । प्रिये मनोज्ञे इत्यर्थः ॥ २ ॥ ३ ॥

अथ स किं कृतवानित्याह—

संस्तुतोऽपि चिरं लोको दुर्लक्षो जनसङ्कुले ।
मामेष कथमज्ञासीदित्यसौ प्रत्यचिन्तयत् ॥ ४ ॥

असौ इन्द्रभूतिर्द्विज इत्यमुना प्रकारेण प्रत्यचिन्तयत् प्रतिचिन्तयति स्म । इतीति किम् ? । यतश्चिरं चिरकालं संस्तुतोऽपि परिचितोऽपि लोको जनैर्मनुष्यादिभिः सङ्कुले संकीर्णप्रदेशे दुर्लक्षो दुःखेन लक्षणीयो भवति ततोऽपरिचित एष जिनो मां कथमज्ञासीत् ? केन प्रकारेण ज्ञातवानिति चिन्तनपरोऽभूदित्यर्थः । **संस्तुत इत्यादि** ।

'संस्तवः स्यात्परिचय' इति । संकीर्णे तु 'सङ्कुलमाकुल'मिति च हैमः ॥ ४ ॥

पुनः किमऽचिन्तयदित्याह—

नामवेत्ता च लोकानां वेत्री चाऽत्र न दृश्यते ।
तदहो कथमह्वासीन्नामवादेन मामयम् ?[1] ॥ ५ ॥

च पुनरत्रास्मिन् स्थाने लोकानां नामवेत्ता नामज्ञाता वेत्री वा वेत्रधारी पुरुषोऽपि न दृश्यते न विलोक्यते, तत् तस्मादहो इति आश्चर्ये, अयं जिनो मां नामवादेन नामोच्चारणेन कथमह्वासीत् हूतवान् ? कथनमन्तरेणैव मदीयं नामाऽनेन कुतो ज्ञातमिति भावः । वेत्री चेति । 'वेत्रं वेत्रदण्डोऽस्यास्तीति मत्वर्थे' इनि, 'दौवारिकः प्रतीहारो वेत्र्युत्सारकदण्डिन' इति हैमः । चाशब्दोऽप्यर्थः । अह्वासीदिति । आङ् पूर्वात् ह्वेञः कर्त्तरि लुङ् । नामेत्यादि । वदनं वादः, नाम्नो वादो नामवादस्तेन ॥ ५ ॥

गौतमेत्यभिधानं मे विदितं वर्त्तते जने ।
आहूयन्ते महान्तो हि प्रायो गोत्राभिधानतः ॥ ६ ॥
इन्द्रभूतीति मे नाम विरला बहुसंस्तुताः ।
विजानन्ति, ततोऽयं तत् कथमाख्यात्यसंस्तुतः ? ॥ ७ ॥

द्वाभ्यां संबन्धः ।

मे मम 'गौतम' इत्येवंप्रकारमभिधानं नाम जने लोके विदितं प्रसिद्धं वर्त्तते । कथमित्याह—हि यतो महान्तो महापुरुषाः प्रायो बाहुल्येन गोत्रस्य निजान्वयस्य यदभिधानं नाम तस्मादाहूयन्ते,

---

१ अत्र 'कथमह्वासीत्' इति प्राचीनमुद्रितपाठः सद्भिरादरणीयः ।

गोत्राभिधानमुच्चार्य संमाप्यन्ते इत्यर्थः । जनैरिति शेषः । परन्तु मे मम 'इन्द्रभूतिः' इत्येवं नामाभिधानं वहु अत्यन्तं संस्तुताः परिचिताः विरलाः केऽपि जना विजानन्ति, ततो अयमसंस्तुतोऽपरिचितो जिनस्तदिन्द्रभूतीति मे नाम कथमाख्याति कथं वक्ति ? अत्र गौतमेति-इन्द्रभूतीति च पदद्वयं निर्विभक्तिकमेवोपात्तमस्ति, गवित्यय-माहेत्यादिवत्, ततो दोषशङ्का न कार्या । आहूयन्ते इति । आङ्पूर्वाद् ह्वेञः कर्मणि लट् । अभिधानत इति । 'ल्यब्लोपे—' (वा०) इति कर्मणि पञ्चमी । आख्यातीति । 'ख्या प्रकथने' अदादिः, आङ्पूर्वादस्मात्कर्तरि लट् ॥ ६ ॥ ७ ॥

शक्तं पदमपि स्वार्थं सङ्केतग्रहणं विना ।
नाभिधत्ते ततः कोऽत्र सङ्केतं ग्राहयेत्तु यः ॥ ८ ॥

तु इति विशेषे, शक्तमपि अर्थप्रतिपादनशक्तियुक्तमपि पदं सङ्केतस्य ग्रहणं विना स्वार्थं स्वकीयाभिधेयं नाभिधत्ते न प्रतिपादयति इति नियमोऽस्ति, ततो यो जनः सङ्केतं ग्राहयेत् सङ्केतग्रहणं कारयेत् सोऽत्रास्मिन् स्थाने को विद्यते, न कोऽपीत्यर्थः । इदमत्र तात्पर्यम्— यथा 'गामानय' इत्यादौ गोपदं यद्यपि स्वनिष्ठार्थप्रतिपादनसमर्थमस्ति तथापि इयं सास्नादिमती व्यक्तिर्गोपदवाच्येति सङ्केतो येन प्राग् न गृहीतस्तस्मै स्वार्थं बोधयितुं न क्षमं तथाऽत्रापि अयं द्विज इन्द्रभूतिपदवाच्य इत्येवंभूतो यः सङ्केतस्तद्ग्रहणं विना शक्तमपि इन्द्रभूतिपदं स्वार्थं गमयितुं न समर्थम् । यदि पुनः कोऽपि सङ्केतग्रहणं कारयेत् तदा तु एतदर्थोपपत्तिः स्यात्, परमत्र तु यः सङ्केतं ग्राहयति स कोऽपि न दृश्यते, ततः कथमनेन ज्ञातमयमेवेन्द्रभूतिरस्तीति ? । शक्तमिति । शक्तिरस्त्यस्मिन्निति अर्शआदित्वादच् । शक्तिमद्-

त्यर्थः । अभिधत्ते इति । अभिपूर्वो धातु कथनार्थः, अस्मात्कर्तरि लट् । ग्राहयेदिति । हेतुमण्णिजन्ताद्ग्रहतेर्लिङ् ॥ ८ ॥

प्रत्यक्षीकृतमैश्वर्यं प्रागेव गृहनिर्गमात् ।
सर्वज्ञताऽप्यनेनाऽस्य वाक्येनाऽऽविरभूत्पुनः ॥ ९ ॥

अस्य वीरजिनस्य ऐश्वर्यमीश्वरत्वं मया गृहान्निर्गमोऽभिसरणं तस्मात् प्रागेव प्रथममेव प्रत्यक्षीकृतं साक्षान्निर्णीतं ततः पुनरनेन 'इन्द्रभूते ! त्वमायाहि' इत्येवंभूतेन वाक्येन अस्य सर्वज्ञता सर्वज्ञत्वमप्याविरभूत् प्रकटीबभूव, सर्वज्ञं विनाऽन्यः कोऽप्येवं वक्तुं न शक्नोतीत्यर्थः । ऐश्वर्यमिति । ईश्वरस्य भाव इत्यर्थे ष्यञ् । निर्गमादिति । 'अन्यारादितरर्ते' (२।३।२९) इत्यादिना 'प्राग्' योगे पञ्चमी । सर्वज्ञतेति । सर्वं वस्तुजातं जानातीति सर्वज्ञस्तस्य भावस्तत्ता भावे तल् ॥ ९ ॥

किंवा स्वर्वासिसान्निध्यात् श्रियः पुंसो न दुर्लभाः ।
सर्वज्ञता तु दुःप्रापा या परब्रह्मनिष्ठिता ॥ १० ॥

किंवाऽथवा स्वर्वासिसान्निध्यात् देवसाहाय्यात् पुंसो मनुष्यस्य श्रियो लक्ष्म्यो न दुर्लभा न दुःप्रापाः, सुलभा एवेत्यर्थः । परं सा सर्वज्ञता तु दुःप्रापा दुर्लभा । सा का इत्याह—येति । या सर्वज्ञता परब्रह्मणि परमात्मनि निष्ठिता निःशेषेण स्थिता, अस्तीति शेषः । अयमर्थः—एतस्य किल वप्रत्रयादिका या ऋद्धिर्दृश्यते सा तु देवसान्निध्यादपि संभवति परंतु या परमात्मनि स्थिता सर्वज्ञता साऽस्मिन् कथं संभवेदिति । स्वर्वासीत्यादि । स्वरित्यव्ययं स्वर्गार्थकम्, स्वः स्वर्गे वसन्तीति स्वर्वासिनो देवाः, संनिधेर्भावः सान्निध्यं, सामीप्य-

मित्यर्थः, सर्वासिनां सान्निध्यं सर्वासिसान्निध्यं तस्मात् हेतौ पञ्चमी । येति । या-शब्दसंबन्धादनुक्तोऽपि सा इति शब्दोऽध्याहार्यः । **परे**त्यादि । परं च तद्ब्रह्म च परब्रह्म, तत्र निष्ठिता । परशब्दः परानर्धानैश्वर्यवद्वचनः ॥ १० ॥

सर्वज्ञताप्रतीतिर्वा न वाक्येनाऽमुना भवेत् ।
नामानि तु समाख्याति पिशाचीसाधको यतः ॥ ११ ॥

वाऽथवा अमुनाऽनेन प्रागुक्तेन वाक्येन सर्वज्ञतायाः सर्वज्ञत्वस्य प्रतीतिः प्रत्ययो न भवेत् । कथमित्याह—यतो यस्मात्कारणात् नामानि तु अभिधानानि तु पिशाचीसाधकोऽपि जनः समाख्याति कथयति, एतावता एतन्नामोक्तिमात्रज्ञानेनाऽस्य सर्वज्ञत्वं न प्रत्येमीति भावः । **पिशाचीत्यादि** । पिशाचो देवविशेषः, तदधिष्ठिता विद्या पिशाचीमुच्यते, तस्याः साधको जापादिना निष्पादक इत्यर्थः ॥ ११ ॥

वर्णचूडामणिग्रन्थाऽऽम्नाताऽपि च तथा वदेत् ।
स्वरशास्त्रप्रवीणोऽपि तथा तुम्बरुचक्रवित् ॥ १२ ॥

च पुनः वर्णचूडामणिर्नाम यो ग्रन्थः शास्त्रं तस्याम्नाता अभ्यासकारकोऽपि जनस्तथा तेन प्रकारेण वदेत् कथयेत् यथाऽनेन मदीयं नाम प्रोक्तं, तथा सोऽपि नामान्यभिधत्ते इत्यर्थः । तथा स्वरशास्त्रे स्वरसाधनग्रन्थे प्रवीणोऽपि निपुणोऽपि जनस्तथा वदेत् तथा पुनस्तुम्बरुचक्रं ग्रन्थविशेषं वेत्तीति तुम्बरुचक्रवित् सोऽपि तथा वदेत् । एतावता सर्वज्ञत्वं विनैव एतेषां शास्त्राणां बलादपि अज्ञातस्य नामाभिधानं संभवतीति भावः । आम्नातेति । 'म्ना अभ्यासे' आङ्पूर्वादस्मात्कर्त्तरि तृच् ॥ १२ ॥

इत्येवं विमृशत्यस्मिन् भगवान् पुनरब्रवीत् ।
मयि सर्वज्ञतायां त्वं मा धा गौतम ! संशयम् ॥ १३ ॥

अस्मिन् गौतमे इत्येवं प्रागुक्तप्रकारेण विमृशति विचारयति सति भगवान् सर्वज्ञो वीरप्रभुः पुनः अब्रवीत् पुनरपि कथयामास । किमब्रवीदित्याह—हे गौतम ! मयि मद्विषये सर्वज्ञतायां सर्वज्ञत्वे त्वं संशयं सन्देहं मा धाः मा धारय, मा प्राप्नुहीति यावत् । विमृशति 'मृश आमर्शने' विपूर्वादस्मात्कर्त्तरि लटः शतृ । अब्रवीदिति । ब्रूञः कर्त्तरि लङ् । मा धा इति । 'डुधाञ् धारणादौ' माङि उपपदेऽस्मात् 'माङि लुङ्' (३।३।१७५) इति लुङ् ॥ १३ ॥

ननु कथं सर्वज्ञत्वप्रत्ययो मे स्यादित्याशङ्क्याह—

यदहं संशयच्छेदी सर्वज्ञं मां प्रतीहि तत् ।
अन्यथाऽनुपपत्त्येवार्थापत्तिमवधारय ॥ १४ ॥

हे गौतम ! यद्यस्मात्कारणादहं संशयच्छेदी सन्देहभेदकोऽस्मि, तत्तस्माद्धेतोर्मां त्वं सर्वज्ञं प्रतीहि जानीहि । एतदेवोपपादयति—अन्यथाऽन्येन प्रकारेणानुपपत्त्यैव उपपत्तेरभावेनैव त्वं अर्थापत्तिमर्थस्य प्राप्तिमवधारय विचारय । इदमत्र तात्पर्यम्—यतः सर्वज्ञत्वाभावे संशयोच्छेदकत्वानुपपत्तिः स्यात्, तत एव संशयोच्छेदकत्वेन सर्वज्ञत्वमायातमित्यवधारय । एतेनार्थापत्तिप्रमाणमुक्तमथ तत्स्वरूपं स्पष्टतया दर्श्यते, यथा 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इति दृष्टे श्रुते वा पीनत्वाऽन्यथानुपपत्त्या रात्रिभोजनमर्थापत्त्या कल्प्यते तथाऽत्रापि सकलजनमनोगतसंशयच्छेदी वीरजिनः कमपि कर्णमूलमागत्य चिन्तितार्थनिवेदकं देवं नाराधयतीत्यत्र सकलजनमनोगतसंशयच्छेदित्वाऽन्यथानुपपत्त्या सर्वज्ञत्वमर्थापत्त्या प्रमायातमिति ।

संशयेत्यादि । संशयं छिनत्तीत्येवंशीलः संशयच्छेदी, छिदेर्णिनिः । प्रतीहीति । प्रतिपूर्वात् 'इण् गतौ' इत्यस्माल्लोट् । अवधारयेति । 'धृञ् धारणे' अवपूर्वादस्माण्णिच् ॥ १४ ॥

> त्वमापृच्छस्व वा मा वा वेद्मि ते संशयानपि ।
> परस्परविरुद्धार्थवेदवाक्यसमुद्भवान्[1] ॥ १५ ॥

पुनरपि प्रभुर्वक्ति—हे गौतम ! त्वमापृच्छस्व प्रश्नं कुरु वा मा वा प्रच्छस्व मा प्रश्नं कुरु वा अहं परस्परेण विरुद्धोऽर्थो येषां तानि तथाविधानि यानि वेदवाक्यानि तेभ्यः समुद्भव उत्पत्तिर्येषां ते तान् ते तव संशयान् सन्देहानपि वेद्मि जानामि वेदवाक्यानामन्योन्याविरुद्धमप्यर्थं प्रमाद् विरुद्धत्वेनाशङ्कमानस्य ते हृदि संशयाः समुत्पन्नाः सन्ति तानप्यहं जाने, त्वं निजेच्छया प्रश्नं कुरु मा कुरु वेति भावः । आपृच्छस्वेति । प्रच्छेः कर्तरि लोट् । 'ननु 'प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्' इत्यस्य परस्मैपदित्वात्कथमत्रात्मनेपदप्रयोगः ? इति चेत्'—उच्यते—पदव्यवस्थायाम् 'आङि नुप्रच्छयोः' (वा०) इति सूत्रेणाङ्पूर्वात् प्रच्छेरात्मनेपदविधानान्न दोषः ॥ १५ ॥

> अविरुद्धोऽपि मोहात्ते विरुद्धोऽर्थोऽवभासते ।
> शङ्खो विरुद्धवर्णैर्यद्वीक्ष्यते[2] तिमिरामयात् ॥ १६ ॥

अर्थसंबन्धाद्वेदवाक्यपदमध्याहार्य; ततोऽयमर्थः—हे गौतम ! वेदवाक्यानामविरुद्धोऽपि विरोधरहितोऽपि अर्थो मोहादज्ञानात्ते तव विरोधवान् अवभासते प्रतिभाति । एतदेवार्थान्तरन्यासेन दृढ-

१ अत्र 'वेदवाक्ये समुद्भवान्' इति काशीमुद्रितपाठोऽप्यसमञ्जसः । २ अत्र 'शङ्खो विरुद्धवर्णो' इति काशीमुद्रितपाठः स च टीकाकृतामसम्मतः प्रतिभाति ।

यति—यत् यस्मात् कारणात् तिमिरामयात् काचकामलरोगात् शङ्खकम्बुर्विरुद्धवर्णैर्वीक्ष्यते विलोक्यते, नरेणेति शेषः । एतावता यस्य नेत्रयोस्तिमिररोगोत्पत्तिर्जायते स नरः श्वेतवर्णमपि शङ्खं विरुद्धैः पीतादिवर्णैः पश्यतीत्यर्थः । मोहादित्ति । 'मोहो मूर्च्छाविपर्यया'विति हैमः (अनेकार्थः) । विपर्ययो विपरीतज्ञानमित्यर्थः । वीक्ष्यते इति । विपूर्वादीक्षतेः कर्मणि लट् । तिमिरेत्यादि । तिमिरं चासावामयश्च तिमिरामयस्तस्मात् हेतौ पञ्चमी । 'तिमिरं तु दृष्टिरोगान्धकारयो'रित्यनेकार्थः । 'स्त्री रुग् रुजा चोपतापरोगव्याधिगदामयाः' इत्यमरः ॥१६॥

अथ धीरस्तावत्तदीयस्वान्तगतं संशयं प्रकटयतीत्याह—

तावदात्मनि सन्देहस्तव चेतसि वर्त्तते ।
जीवः किमस्ति वा नास्ति मुहुर्विमृशसीति यत् ॥ १७॥

हे गौतम ! तावत्प्रथमं तव चेतसि त्वदीये मनसि आत्मनि सन्देहो जीवविषयकः संशयो वर्त्तते विद्यते । कथमित्याह—जीव इत्यादि । यत्त्वमाद्धेतोः किं जीव आत्माऽस्ति विद्यते ? वाऽथवा नास्ति न विद्यते इत्येवं मुहुर्वारं वारं त्वं विमृशसि विचारयसि, ततोऽस्माभिर्ज्ञायते ते हृदि आत्मविषयकः सन्देहोऽस्तीत्यर्थः । विमृशसीति । 'मृश आमर्शने' कर्त्तरि लट् ॥ १७ ॥

नन्वयं केन हेतुना जीवस्य नास्तित्वं चिन्तयति ? केन चास्तित्वम् ? इत्याशङ्क्य तावन्नास्तित्वे हेतूनाह—

प्रत्यक्षेण प्रमाणेन ग्रहीतुं नैव शक्यते ।
इन्द्रियग्राह्यताऽभावात्तस्मान्नास्ति खपुष्पवत् ॥ १८ ॥

इन्द्रस्याऽऽत्मनो लिङ्गं चिह्नमिन्द्रियं चक्षुरादि, ग्रहीतुं योग्यो ग्राह्यः,

इन्द्रियेण ग्राह्य इन्द्रियग्राह्यः तस्य भाव इन्द्रियग्राह्यता, तस्या अभाव इन्द्रियग्राह्यताऽभावस्तस्मात् चक्षुरादीन्द्रियग्राह्यत्वाऽभावादेव आत्मा प्रत्यक्षेण प्रत्यक्षाभिधानेन प्रमाणेन ग्रहीतुं ज्ञातुं न शक्यते, तस्माद्धेतोः खपुष्पवदाकाशकुसुमवदसावात्मा नास्ति, एतावता चक्षुरादीन्द्रियमेव प्रत्यक्षप्रमाणमुच्यते, तेन च योऽग्राह्यः स नास्ति, यथा खपुष्पं तथाऽसावपीति । अयमत्र प्रयोगः—नास्त्यात्मा प्रत्यक्षेणात्यन्तमगृह्यमाणत्वात्, इह यदत्यन्ताप्रत्यक्षं तल्लोके नास्त्येव, यथा खपुष्पं यच्चास्ति तत् प्रत्यक्षेण गृह्यते एव, यथा घट इत्यसौ व्यतिरेकदृष्टान्तः । अणवोऽपि ह्यप्रत्यक्षाः, किंतु घटादिकार्यतया परिणताः सन्तस्ते प्रत्यक्षत्वमुपयान्ति, न पुनरेवमात्मा कदाचिदपि प्रत्यक्षभावमुपगच्छति, अतोऽत्रात्यन्तविशेषणमिति सूत्रेऽपि इन्द्रियग्राह्यताभावादित्यतः प्राक् अत्यन्तमिति पदमनुक्तमपि वाच्यम् । प्रत्यक्षेणेति । अक्षि अक्षि प्रति प्रत्यक्षं वीप्सायां यथार्थत्वेन समासः । यद्वाऽक्ष्णामाभिमुख्यमित्यर्थे लक्षणेन 'अभिप्रति–' (१।३।८०) इति समासः । 'प्रतिपरसमनुभ्योऽक्ष्णः' (सिद्धांतकौ०) इति समासान्तष्टच् । दृष्टिविषयेऽक्षिशब्द इन्द्रियमात्रपरः न तु चक्षुर्मात्रपरः । प्रत्यक्षलक्षणं तु अग्रे मूले एव वक्ष्यति । प्रमाणेनेति । 'प्रमाकरणं प्रमाण'मिति तल्लक्षणं, प्रमा यथार्थज्ञानं । प्रपूर्वान्माङः करणे ल्युट् । ग्राह्येति । ग्रहेरर्हेऽर्थे ण्यत् ॥ १८ ॥

एवं च मन्यसे त्वं किमित्याह—

> क्रशानोर्धूमवच्चिह्नं किमप्यस्य न दृश्यते ।
> यत्सम्बन्धेन जीवोऽयमदृष्टोऽप्यनुमीयते ॥ १९ ॥

कृशानोर्वह्नेर्धूमवत् अस्यात्मनो लिङ्गं चिह्नं किमपि न लभ्यते न प्राप्यते, यथा वह्नेश्चिह्नं धूमः साक्षाल्लभ्यते तथाऽस्य किमपि नेत्यर्थः। ननु लिङ्गस्य किं प्रयोजनमित्यत आह—यदित्यादि। यस्य लिङ्गस्य सम्बन्धेन लिङ्गिना सार्द्धं सम्बन्धस्मरणेन अदृष्टोऽपि अनवलोकितोऽपि अयं जीवोऽनुमीयते अनुमानगोचरः क्रियते, तादृशं लिङ्गं किमपि न लभ्यते इत्यर्थः। कृशानोरिति। 'कृशानुः पावकोऽनल' इत्यमरः। लिङ्गमिति। 'लिङ्ग्यते गम्यतेऽतीन्द्रियार्थोऽनेन' इति लिङ्गम्। अनुमीयते इति। अनुपूर्वान्माङः कर्मणि लट्॥ १९॥

अस्तु वा चेतना लिङ्गं सम्बन्धस्त्वनयाऽस्य च।
प्रत्यक्षो नेक्षितः क्वापि प्राक् ततः काऽनुमेयता?॥ २०॥

वाऽथवा चेतना चैतन्यस्वरूपं लिङ्गं चिह्नमस्तु। आत्मानुमितावितिशेषः। परं अस्यात्मनोऽनया चेतनया सह प्रत्यक्षः साक्षाद्भूतः सम्बन्धः संसर्गस्तु प्राक् पूर्वं क्वापि कुत्रापि प्रदेशे नेक्षितो न दृष्टस्ततस्तस्मात्कारणादस्य काऽनुमेयता किमनुमेयत्वम्? अनुमानविषयत्वमिति यावत्। प्रत्यक्षपूर्वकं हि अनुमानं प्रवर्त्तते इति भावः। अनयेति। सहार्थस्य गम्यमानत्वात्। 'सहयुक्ते—' (२।३।१९) इति तृतीया, अस्य चेत्यत्र चः पादपूरणे। प्रत्यक्ष इति। प्रत्यक्षं ज्ञानमस्त्यस्येति मतुबर्थेऽर्शआद्यच्। ईक्षित इति। 'ईक्ष दर्शनादौ' कर्मणि क्तः। अनुमेयतेति। अनुमातुं योग्योऽनुमीयतेऽसाविति वाऽनुमेयः।

१ जीवसाधकहेतोः। २ लिङ्गिना=जीवेन। ३ अनु—हेतुग्रहणसम्बन्धस्मरणयोः पश्चान्मीयते परिच्छिद्यतेऽर्थोऽनेनेत्यनुमानम्, ग्रहणं च हेतुसाध्ययोः सम्बन्धस्य, तच्च ग्रहणं प्रत्यक्षात्मकम्, तेन सर्वत्र तयोर्लिङ्गलिङ्गिभावोऽवसीयते।

माङः 'अचो यत्' (३।१।९७) इति यत् । 'ईद्यति' (६।४।६५) इति ईकारे गुणः । तस्य भावस्तत्ता ॥ २० ॥

धूमाग्न्योरपि सम्बन्धो गृहीतो हि महानसे ।
पश्चात्स्मरणतः शैले धूमोऽग्निं प्रतिपादयेत् ॥ २१ ॥

हीति निश्चये, धूमश्चाऽग्निश्च धूमाग्नी, तयोर्धूमवह्न्योरपि लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धः कार्यकारणभावादिकः संसर्गो येन केनापि नरेण यदा पूर्वं महानसे पाकस्थाने गृहीतः साक्षात्कारेणोपात्तो भवेत् तदेव तं नरं प्रति पश्चात् कदापि स्मरणतः प्राग्गृहीतसम्बन्धस्मरणात् शैले पर्वते धूमोऽग्निं प्रतिपादयेत् ज्ञापयेत्, अग्नेः [1]प्रतिपत्तिं कुर्यादित्यर्थः । इदमत्र तात्पर्यम्—पूर्वं यत्र धूमस्तत्र वह्निरिति महानसादौ वह्निधूमयोर्लिङ्गिलिङ्गयोर्व्याप्तिं गृहीत्वा तत उत्तरकालं क्वचित्पर्वतादौ गगनावलम्बिनीं धूमलेखामवलोक्य प्राग्गृहीतं सम्बन्धमनुस्मरति, तद्यथा—'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र प्रागहं वह्निमद्राक्षं, यथा महानसादौ, धूमश्चात्र दृश्यते, तस्माद्वह्निनाऽपीह भवितव्यम्' इत्येवं लिङ्गग्रहणसम्बन्धस्मरणाभ्यां तत्र प्रमाता वह्निमवगच्छति, न चैवमात्मनो लिङ्गिनश्चेतनया लिङ्गेन सार्द्धं प्रत्यक्षेण सम्बन्धः सिद्धोऽस्ति, यतस्तत्सम्बन्धमनुस्मरतः पुनस्तल्लिङ्गदर्शनाज्जीवे संप्रत्ययः स्यात्, किंच यदि पुनर्जीवलिङ्गयोः प्रत्यक्षरूपा सम्बन्धसिद्धिः स्यात्तदा जीवस्यापि प्रत्यक्षस्यापत्त्याऽनुमानवैयर्थ्यं स्यात्तत एव तत्सिद्धेरिति । एतेन अस्तु येति धूमाग्न्योरिति च श्लोकद्वयं सममेव भावितं । महानस इति । 'पाकस्थानं महानस'मिति हेमः । प्रतिपादयेदिति । 'पद गतौ' प्रतिपूर्वः हेतुमण्णिजन्तादस्माल्लिङ् ॥ २१ ॥

[1] प्रतिपत्तिः=ज्ञानमित्यर्थः ।

सामान्यतोऽपरत्रापि यद्वा व्याप्त्या गृहीतया ।
संसाधयेदनुमितिं क्वापि स्थानेऽनुमित्सिते ॥ २२ ॥
यथा स्थानान्तरप्राप्तिं पुंसो गत्याऽवलोक्य च ।
रवेर्देशान्तरप्राप्त्या गतिं लोकोऽनुमानयेत् ॥ २३ ॥
तथा सामान्यतो व्याप्तिं जीव-चैतन्ययोः पुरा ।
गृहीता केन ?, तस्मान्नाऽनुमानं त्वस्य साधकम् ॥ २४ ॥

त्रिभिः संबन्धः ।

यद्वाऽथवा सामान्यतः सामान्येन अपरत्रापि अनुमित्सितादन्यत्रापि आपाततो गृहीतया व्याप्त्या साध्यसाधनयोर्नियतसाहचर्यलक्षणया क्वापि कस्मिन्नपि अनुमित्सितेऽनुमातुमिष्टे स्थानेऽनुमितिं संसाधयेत् अनुमितेः सिद्धिं कुर्यात्, जन इति शेषः । कथमित्याह—यथेत्यादि । यथा लोको जनः पुंसो गत्या गमनेन पुरुषस्य स्थानान्तरप्राप्तिं विवक्षितस्थानादितरस्थानप्राप्तिमवलोक्य दृष्ट्वा, देशान्तरप्राप्त्या अपरस्थानप्राप्त्या रवेः सूर्यस्य गतिं गमनमनुमानयेत् । रवेर्गतिमत्रासाधकमनुमानं कुर्यादित्यर्थः । 'नन्वेवं जीवस्यापि सिद्धिर्भविष्यति' इत्यत आह—तथेत्यादि । तथा तेन प्रकारेण पुरा पूर्वं सामान्यतो जीवचेतनयोर्लिङ्गिलिङ्गयोर्व्याप्तिः केन दृष्टान्तेन गृहीता ?, न केनापीत्यर्थः । तस्माद्धेतोरनुमानमनुमानाख्यं प्रमाणं तु अस्य जीवस्य साधकं नास्ति । अनेन प्रमाणेन तु जीवसिद्धिर्न स्यादित्यर्थः । इदमत्र तात्पर्यम्—'यथा गतिमान् आदित्यो देशान्तरप्राप्तेर्देवदत्तवदि'ति सामान्यतो दृष्टादनुमानादाऽऽदित्यगतिः सिध्यति—'तथा सामान्यतो दृष्टादेवानुमाना-

१ यत्राऽप्रत्यक्षे लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धे, केनचिदर्थेन लिङ्गस्य सामान्यादप्रत्यक्षो लिङ्गी गम्यते तत् सामान्यतो दृष्टमनुमानम् ।

जीवोऽपि सिध्यती'ति तु न वक्तव्यं, यतो हन्त देवदत्ते दृष्टान्तधर्मिणि सामान्येन देशान्तरप्राप्तिं गतिपूर्विकां प्रत्यक्षेणैव निश्चित्य सूर्येऽपि तां तथैव प्रमाता साधयतीति युक्तं, न चैवमत्र क्वचिदपि दृष्टान्ते जीवसद्भावेनाविनाभूतः कोऽपि हेतुः प्रत्यक्षेणोपलक्ष्यते इति, अतो न सामान्यतो दृष्टादप्यनुमानात्तत्सिद्धिरिति । संसाधयेदिति । 'साध संसिद्धौ' संपूर्वात् णिजन्तादस्माल्लिङ् । अनुमित्सित इति । अनुपूर्वात्सन्नन्तान्माङः कर्मणि क्तः । स्थानान्तरेत्यादि । अन्यत् स्थानं स्थानान्तरं, मयूरव्यंसकादित्वात्समासः [मयूरव्यंसकादयश्च (२।१।७२)] एवमन्यो देशो देशान्तरमित्यपि बोध्यम् । अनुमानयेदिति । अनुमानशब्दात् 'तत्करोति' (ग०) इत्यर्थे णिच् , ततो लिङ् ॥२२–२४॥

न चागमगम्योऽपि जीव इति दर्शयति—

स्यादागमोऽप्यदृष्टार्थविषयो ह्याप्तनिर्णयात् ।
प्रमाणं, कः स चात्राऽऽप्तः प्रत्यक्षं योऽमुमीक्षते ? ॥ २५ ॥

हीति निश्चये, अदृष्टः साक्षादनुपलब्धो योऽर्थः स्वर्गनारकादिपदार्थः स विषयो गोचरो यस्य स तथाभूत आगमोऽपि शब्दोऽपि प्रमाणं स्यात् । कुत इत्याह—आप्तेत्यादि । आप्तो यथार्थवक्ता, तस्य निर्णयो निश्चयस्तस्मात् आप्तेन निर्णीतत्वात् । यद्येवं तर्हि अनेनैव जीवोऽपि सिध्यतीत्याशङ्क्याह—क इत्यादि । यद्यप्येवं तथापि योऽमुमात्मानं प्रत्यक्षं साक्षाद्रूपमीक्षते पश्यति स चाऽत्र अस्मिन् लोके आप्तः कोऽस्ति ? न कोऽपीत्यर्थः । एतावता न एवंभूतमाप्तं कमपि पश्यामो यस्याऽऽत्मा प्रत्यक्ष इति । तद्वचन-इति । तद्वचनमागम इति प्रतिपद्येमहीति भावः ॥ २५ ॥

---

१ नियतसहचारी इत्यर्थः ।

परस्परविरोधिन्यागमानामपि भारती ।
बृहस्पतिर्हि भूतातिरिक्तं जीवं न मन्यते ॥ २६ ॥

किंच, आगमानामपि भारती आगमसम्बन्धिनी अपि वाणी परस्परविरोधिनी अन्योन्यविरुद्धा विद्यते। एतावता तीर्थिकानां सम्बन्धिनः सर्वेऽप्यागमाः परस्परविरोधिनः खलु, अतोऽपि संशय एवात्मनो युक्तो न तु निश्चय इति भावः । अथ केषांचिदागमानामात्मनो नास्तित्वप्रतिपादनेन, केषांचिच्च अस्तित्वप्रतिपादनेन यथा विरोधस्तद्भावी[1] तथा सार्द्धपट्श्लोकैरुपदर्शयति । बृहस्पतिरित्यादि । हि यतो बृहस्पतिर्बृहस्पतिनामा नास्तिकमतप्रवर्त्तकऋषिः भूतेभ्यः पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशलक्षणेभ्यः पञ्चभ्योऽतिरिक्तं पृथग्भूतं जीवमात्मानं न मन्यते नाङ्गीकरोति । यत् खलु भूतपञ्चकं तदेवात्मा न तु ततोऽन्य इति मन्यते इत्यर्थः । तथा च तदागमः—'एतावानेव लोकोऽयं यावानिन्द्रियगोचरः । भद्रे! वृकपदं पश्य यद्वद[न्ति]न्त्यबहुश्रुताः' (षड्दर्शनसमुच्चय श्लो० ८१) ॥ इत्यादि । मन्यते इति । 'मन ज्ञाने' दिवादिरुत्मात्कर्त्तरि लट् ॥ २६ ॥

विज्ञानघन एवेति वेदवाक्याशयोऽप्ययम् ।
संभाव्यते तथा होष भू-जला-ऽनल-वायुतः ॥ २७ ॥
विज्ञानघन उत्पद्य तान्येवानुविनश्यति ।
प्रेत्येति परलोकेऽस्य कापि संज्ञा न लभ्यते ॥ २८ ॥—युग्मम् ।

"विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न च प्रेत्यसंज्ञाऽस्ती"[2]त्येवंभूतं यद्वेदवाक्यं तस्याऽऽशयोऽभिप्रायोऽपि अयं

---

[1] नास्तित्वप्रतिपादनेन जीवविरोधः, अस्तित्वप्रतिपादनेन जीवभाव इत्यर्थः ।

[2] मुद्रितग्रन्थे अयमेतद्रूपः पाठः, स च चिन्त्यः ।

जीव-नास्तित्वलक्षणं एव संभाव्यते विचिन्त्यते, मयेति शेषः। कथमेतत् ज्ञायते इत्यत आह—**तथा हीति**। निदर्शनेऽव्ययमिदं, तदेव दर्शयतीत्यर्थः, एष प्रत्यक्षविलोक्यमानो विज्ञानघनः पृथिव्यादिभूतानां विज्ञानलवसमुदायः पृथिव्यादिविज्ञानांशानां पिण्डरूप आत्मेत्यर्थः। भू-जला-ऽनल-वायुतः समुदितेभ्यः पृथिव्यतेजोवाय्वाकाशेभ्यो न तु व्यस्तेभ्यो, ज्ञानस्य तत्समुदायपरिणामाङ्गीकारादिति भावः। मद्यकारणेषु धातक्यादिषु मदभाव इव उत्पद्य प्रादुर्भूय, न [illegible] परभवादागत्य ततस्तान्येव पृथिव्यादीनि भूतानि विनाशमश्नुवानानि अनुलक्षीकृत्य स विज्ञानमात्ररूप आत्मा विनश्यति प्रलयं याति। नरवात्मवादिनामिवान्यमर्थं प्रयाति, अत एव। **प्रेत्येति**। अस्य कोऽर्थः? परलोके लोकान्तरेऽस्यात्मनः कापि संज्ञाऽभिख्या न लभ्यते न प्राप्यते, यत्पूर्वभवे नरकादिजन्मनि अभिधानमासीत्, तत्परभवे नास्ति, यदुताऽमुको नारको देवो भूत्वा इदानीं मनुष्यः संवृत्त इत्यादि। नारकादेः प्रागेव सर्वनाशं नष्टत्वादिति भावः। एतेन सर्वथाऽऽत्मनः समुत्पद्य विनष्टत्वान्न भवाद्भवान्तरं कोऽपि यातीति तात्पर्यवृत्त्या निवेदितं, मूले विज्ञानघन एवेति वाक्यैकदेशः समग्रवाक्योपलक्षको ज्ञेयः। **संभाव्यते इति**। संपूर्वाण्णिजन्ताद्भवतेः कर्मणि लट्। **भूजलेत्यादि**। भूश्च जलं चानलश्च वायुश्च एषां समाहारो भूजलानलवायु तस्मात् समाहारद्वन्द्वविधानात्समुदितानामेवैतेषां ग्रहणं, न तु व्यस्तानामिति भावः। इहाकाशपदमनुक्तमपि संग्राह्यं, 'पञ्चभूतमयो ह्यात्मा' इत्यादितच्छास्त्रोक्तत्वात्। **तानीति**। 'लक्षणेत्थंभूत-' (१।४।९०) इत्यादिनाऽनोः (अनु उपसर्गस्य) कर्मप्रवचनीयसंज्ञत्वात्, तद्योगे 'कर्मप्रव-'

(२।३।८) इत्यादिना द्वितीया, संज्ञेति 'गोत्रसंज्ञा नामधेयाऽऽस्याऽऽह्वाऽभिख्याश्च नाम चे'ति हैमः ॥ २८ ॥

शून्यतामेव मन्वानाः सौगताः शून्यवादिनः ।
क्षणिकत्वात्सतोऽप्यन्ये बौद्धा जीवं न मन्वते ॥ २९ ॥

तथा सुगतो बुद्धो देवता एषामिति सौगता बौद्धदर्शनिनो मुनयः शून्यतां शून्यत्वमेव मन्वानाः स्वीकुर्वाणाः सन्तः शून्यं निराकारं वदन्तीति शून्यवादिनः, विद्यन्ते इति शेषः । ते हि सर्वं शून्यमेवास्ति, न तु किमपि तात्त्विकमिति स्वहृदि श्रद्दधानाः सन्त एतदेव जनानां पुरः प्ररूपयन्तीति भावः । अथान्ये[1] केचित् बौद्धा बौद्धमतैकदेशिनो विद्वांसः सतोऽपि विद्यमानस्यापि वस्तुनः क्षणिकत्वात् क्षणमात्रावस्थायित्वात् जीवमात्मानं न मन्वते न स्वीकुर्वन्ति । ते हि 'यत् सत् तत् क्षणिकम्' इति व्याप्तिमङ्गीकृत्य सतोऽपि जीवस्य क्षणिकत्वान्नास्तित्वमेव प्रतिपद्यन्ते इत्यर्थः । मन्वाना इति । 'मन ज्ञाने' तानादिकादस्मात्कर्त्तरि लटः शानच् । सौगता इति । 'साऽस्य देवता' (४।२।२४) इत्यण् । 'सर्वज्ञः सुगतो बुद्ध' इत्यमरः । 'शून्यवादी तु सौगत' इति हैमः । क्षणिकेति । क्षणिकस्य भावः क्षणिकत्वं तस्मात्, 'द्वितीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वं' क्षणिकत्वमिति तल्लक्षणम् । मन्वत इति । तानादिकान्मने कर्त्तरि लट् ॥ २९ ॥

---

१ एक एव बुद्ध उपदेष्टा परन्तु तस्य शिष्याश्चतुर्विधा भिन्नमताय आसन् । तेषु माध्यमिकानुयायिनः सर्वशून्यतावादिनः सर्वं क्षणिकं मन्वते । २ वस्तुनः उत्पत्तिद्वितीयक्षणे वृत्तिर्यस्य एवंविधो यो ध्वंसोऽभावः तस्य प्रतियोगिता तद्वस्तुनि, स्वस्याभावस्य प्रतियोगी स्वः । तन्मते प्रथमक्षणे वस्तुन उत्पत्तिद्वितीयक्षणे तस्य नाशः ।

अस्तित्वमपि जीवस्य संभवेद्वेदवाक्यतः ।
तथा हि जुहुयादग्निहोत्रं स्वर्गस्य कामुकः ॥ ३० ॥

वेदवाक्यतः श्रुतिवाक्यात् जीवस्य अस्तित्वं सद्भावोऽपि संभवेत् । कथमित्याह—तथाहीति । तदेव दर्शयति—'स्वर्गस्य कामुकोऽभिलाषुको जनोऽग्निहोत्रं क्रियाविशेषं जुहुयात् यजेत' इति । अस्माद्वेदवाक्यात् जीवास्तित्वं संभवति, यतो जीवस्य सद्भावं विना स्वर्गप्राप्तिः कस्य भवेदिति भावः । जुहुयादिति । 'हु दानादौ' अस्मात्कर्तरि लिङ् ॥ ३० ॥

अशरीरं वसन्तं वा स्पृशतो न प्रियाऽप्रिये ।
प्रियाऽप्रियपरित्यागः सशरीरस्य नास्ति हि ॥ ३१ ॥

तथा प्रियं चाप्रियं च प्रियाऽप्रिये रागद्वेषौ, नास्ति शरीरं यस्य सोऽशरीरो निरुपाधिक आत्मा तं तथाभूतं वसन्तं तिष्ठन्तं प्रति न स्पृशतो न स्पर्शं कुरुतः । हीति निश्चये, सह शरीरेण वर्तते इति सशरीरः, सकर्मक आत्मा तस्य प्रियाऽप्रिययो राग-द्वेषयोः परित्यागो निर्मुक्तिर्नास्ति । वाशब्दः पादपूरणे । एतावता 'न ह वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वा वसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशत' इति वेदवाक्यमपि आत्मनोऽस्तित्वप्रतिपादकमेव, अन्यथाऽशरीरत्वेनावस्थानासंभवादिति भावः ॥ ३१ ॥

अकर्ता निर्गुणो भोक्ता चिद्रूपः पुरुषः स्मृतः ।
एवं विरुद्धार्थवादनिबद्धा आगमा यतः ॥ ३२ ॥

तथा करोतीति कर्ता न कर्ता अकर्ताऽक्रियाकारकः तथा निर्गता गुणा रागादयो यस्मात् स निर्गुणो रागादिवर्जितस्तथा भुनक्ति

अनन्तसौख्यमिति भोक्ता परमानन्दसंपन्नस्तथा पुनश्चिद् ज्ञानमेव रूपं स्वरूपं यस्य स चिद्रूपोऽनन्तज्ञानमयस्तथाभूतः पुरुष आत्मा स्मृतः कथितः। एतेन 'अस्ति पुरुषोऽकर्ता निर्गुणो भोक्ता चिद्रूप' इत्यादिकापिलागमेऽपि जीवास्तित्वमेव प्रतिपाद्यते इत्यर्थः। एवं प्रागुक्तप्रकारेण यतो हेतोः आगमा आप्तोक्तयो विरुद्धो योऽसौ अर्थवादोऽर्थकथनं तेन निबद्धा ग्रथिताः सन्ति, तस्मादागमानां परस्परविरुद्धत्वान्नागमप्रमाणादप्यात्मसत्त्वसिद्धिरिति भावः ॥ ३२ ॥

उपमाप्रमाणगम्योऽप्यसौ न भवतीत्याह—

आत्मसादृश्यमाबिभ्रत् प्रत्यक्षं न हि वस्तु तत्।
यस्योपमाप्रमाणेन साधनीयोऽसुमान् भवेत् ॥ ३३ ॥

आत्मनो जीवस्य सादृश्यं तुल्यत्वमाबिभ्रत् दधानं तत् प्रत्यक्षं प्रत्यक्षज्ञानविषयं वस्तु पदार्थो न हि अस्ति—यस्य वस्तुन उपमाप्रमाणेन सादृश्यप्रमाणेन असुमान् जीवः साधनीयो भवेत् साध्यः स्यात्। इदमत्र तात्पर्यम्—उपमाप्रमाणमप्यस्य साधकं नास्ति, तत्र हि गोसदृशो गवय इत्यादावपि सादृश्यमसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिमुत्पादयति। न चेहान्यः कश्चित्त्रिभुवनेऽप्यात्मसदृशः पदार्थोऽस्ति, यद्दर्शनादात्मानमवगच्छामः। 'ननु काला-ऽऽकाश-दिगाऽऽदयो जीवतुल्या विद्यन्ते इति चेत्'। न। तेषामपि विवादाऽऽस्पदीभूतत्वेन तदंह्रिपद्धत्वादिति। आबिभ्रदिति। आङ्पूर्वाद्भृञः कर्तरि लटः शतृ। असुमानिति। असवः प्राणाः सन्त्यस्येति असुमान् 'जीवः स्यादसुमान् सत्त्व'मिति हैमः ॥ ३३ ॥

अर्थापत्तिसाध्योऽपि जीवो न भवतीत्याह—

उपपत्तिर्विनाऽऽत्मानं न भवेद्यस्य किं च तत् ।
यद्बलात्साधयेदेनमर्थापत्त्या बुधो जनः ॥ ३४ ॥

च पुनर्यस्य वस्तुन आत्मानं विना जीवमन्तरेणोपपत्तिः समर्थनं न भवेत्, तद्वस्तु किं विद्यत इति शेषः, यतो बुधो जनो विद्वज्जनो यद्बलात् यस्य वस्तुनो बलात् एनमात्मानमर्थापत्त्याऽर्थापत्तिप्रमाणेन साधयेत् । एतावता न हि दृष्टः श्रुतो वा कोऽप्यर्थ आत्मानमन्तरेण नोपपद्यते, यद्बलात्तं साधयाम इति भावः ॥ ३४ ॥

एवं प्रमाणाविषयो जीवो भावोऽस्ति वा न वा ।
संशेषे मनसीति खे सर्वज्ञत्वात्तु वेद्म्यहम् ॥ ३५ ॥

एवं प्रागुक्तनीत्या प्रमाणानां प्रत्यक्षादीनामविषयोऽगोचरो जीव आत्मा भावः सत्पदार्थोऽस्ति वा, न वा-नास्ति वा ? एतावता क्वाप्यागमे एतत्सद्भावप्रतिपादनादयमस्ति अथवा भावोपलम्भकप्रमाणपञ्चकविषयतातीतत्वात् प्रतिषेधसाधकाभावात्स्यषष्ठप्रमाणविषय एवायं जीव इत्यर्थः । हे गौतम, इत्यमुना प्रकारेण त्वं स्वे निजे मनसि हृदये संशेषे संशयं विदधासि । ननु कुतो भवद्भिरेतद् ज्ञातमित्याशङ्क्याह— सर्वेत्यादि । सर्वं वस्तुजातं जानातीति सर्वज्ञः, तस्य भावस्तत्त्वं, तस्मात्सर्वज्ञभावेन अहं वेद्मि, सर्वमपि त्वन्मनोगतसंशयं जानामीत्यर्थः । तुशब्दोऽवधारणे । संशेषे इति । संपूर्वात् 'शीङ् स्वप्ने' अस्मात्कर्त्तरि रूट् । इति पूर्वपक्षः ॥ ३५ ॥

श्रुत्वेति भगवद्वाचो गौतमोऽन्तश्चमत्कृतः ।
अहो ! सर्वज्ञ एषोऽस्तु दध्याविति विशुद्धधीः ॥ ३६ ॥

इतीत्थं भगवतो वीरजिनस्य वाचो वाण्याः श्रुत्वा निशम्य

अन्तश्चित्तमध्ये चमत्कृतश्चमत्कारं प्राप्तः, विस्मित इति यावत्। अत एव विशुद्धा निर्मला धीर्बुद्धिर्यस्य स तथाविधो गौतम इन्द्रभूतिः, अहो इति आश्चर्ये, एष वीरजिनः सर्वज्ञः सर्वपदार्थज्ञाताऽस्तु भवतु इत्यमुना प्रकारेण दध्यौ चिन्तयामास। दध्याविति। 'ध्यै चिन्तायाम्' अस्मात्कर्तरि लिट्॥ ३६॥

पुनः किं दध्यावित्याह—

सन्दिग्धोऽर्थोऽप्रकाश्योऽयमासीच्छल्य इवोरसि।
प्रतिष्ठालोपभीतेन मयाऽऽख्यातो न कर्हिचित्॥ ३७॥

अयं सन्दिग्धः सन्देहविषयीभूतोऽर्थ उरसि मदीये हृदि शल्य इव अप्रकाश्योऽप्रकाशनीय आसीत् अभवत्। कथमित्याह—यतः प्रतिष्ठाया गौरवस्य लोपो विनाशस्तस्माद्भीतेन दरितेन मया कर्हिचित् कदापि न आख्यातो न निगदितः। एतावता यद्यमुं संशयं विद्वत्सु प्रकटयिष्यामि तर्हि मे महत्त्वविघातो भविष्यतीत्याशङ्कया अयमर्थः कदापि विदुषां पुरो न प्रकटीकृत इति भावः। प्रतिष्ठेति। 'प्रतिष्ठा गौरवे स्थिताविं'त्यनेकार्थः। भीतेनेति। 'दरितश्चकितो भीत' इति हैमः॥ ३७॥

यावद्विकल्पः सन्देहोऽवर्तिष्ट मम मानसे।
तावद्विकल्पस्त्वधुनाऽमुनाऽयं प्रकटीकृतः॥ ३८॥

मम मानसे मदीये चित्ते यावन्तो विकल्पाः सङ्कल्पा यत्रेति यावद्विकल्पः सन्देहः संशयोऽवर्तिष्ट अवृतत्, तावन्तो विकल्पा यत्रेति तावद्विकल्पोऽयं सन्देहोऽधुना सम्प्रति अमुनाऽनेन वीरजि-

१ 'अप्रकाश्यो य आसीत्' इति प्राचीमुद्रितपाठश्चिन्त्यः।

नेन प्रकटीकृतः प्रादुष्कृतः । यथा मे हृदि सन्देहोऽभूत् तथैवानेन साम्प्रतं स प्रकटितो न तु किञ्चिदन्यथेति भावः । अवर्तिष्टेति । 'वृतु वर्तने' अस्मात्कर्त्तरि लुङ् । तुः पादपूरणे ॥ ३८ ॥

उपांशु स्थितमेतस्मान्न हि किञ्चन विद्यते ।
ततः सर्वविदोऽस्मान्मे भवतात्तत्त्वनिर्णयः ॥ ३९ ॥

एतस्माद्वीरजिनादुपांशु प्रच्छन्नं स्थितं वर्त्तमानं किंचन किमपि वस्तु न हि विद्यते न हि अस्ति । एतस्य सर्वमपि वस्तुजातं प्रत्यक्षमेवास्तीत्यर्थः । ततस्तस्मात्कारणात् अस्मात्सर्वविदः सर्वज्ञान्मे मम तत्त्वनिर्णयः परमार्थनिश्चयो भवतात् सम्पद्यताम् । उपांश्विति । अव्ययमिदम् । 'रहस्युपांशु' इति हैमः । किञ्चनेति । इदमप्यव्ययं । सर्वेत्यादि । सर्वं वेत्तीति सर्ववित् तस्मात्, क्विबन्तः ॥ ३९ ॥

इति सङ्कल्पयन्तं तं विज्ञाय पुरुषोत्तमः ।
आचष्ट पुनरप्येनं नयन्नुत्तरपक्षताम् ॥ ४० ॥

इत्येवं प्रागुक्तप्रकारेण सङ्कल्पयन्तं चिन्तयन्तं गौतमं विज्ञाय ज्ञात्वा पुरुषोत्तमः पुरुषश्रेष्ठो भगवान् एनं गौतममुत्तरपक्षतामुत्तरपक्षभावं नयन् प्रापयन् पुनरपि भूयोऽपि आचष्ट अकथयत् । पुरुषेत्यादि । पुरुषेषु उत्तम इति विग्रहः । आचष्टेति । 'चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि' आङ्पूर्वादस्मात्कर्त्तरि लङ् ॥ ४० ॥

किमाचष्टेत्याह—

सुखदुःखे स्वसंवेद्ये प्रत्यक्षे भवतो यदि ।
शृणु गौतम ! सन्देहविज्ञानं किं तथा न हि ? ॥ ४१ ॥
विज्ञानमय एवं हि प्रत्यक्षो जीव इष्यते ।
प्रमाणान्तरसाध्यत्वमसत्यस्मिन् विचार्यते ॥ ४२ ॥

हे गौतम ! हे इन्द्रभूते !, त्वं शृणु निशामय—यदि भवतस्तव स्वसंवेद्ये निजानुभवसिद्धे सुखदुःखे साताऽसाते प्रत्यक्षे प्रत्यक्षज्ञानविषयभूते विद्येते तर्हि सन्देहविज्ञानं संशयादिविज्ञानं तथा तेन प्रकारेण स्वसंवेदनसिद्धम्, अत एव प्रत्यक्षं किं न हि अस्ति ? । अस्त्येवेत्यर्थः । ततः किमित्याह—विज्ञानेत्यादि । विज्ञानं स्वरूपमस्येति विज्ञानमय एवंविध एवायं जीव आत्माऽस्माभिः प्रत्यक्ष इष्यते वाञ्छयते ननु विज्ञानातिरिक्तोऽन्यः कोऽपीत्यर्थः । तथाऽस्मिन् प्रत्यक्षेऽसति अविद्यमाने सति अन्यत्प्रमाणं प्रमाणान्तरमनुमानादि तेन साध्यत्वं विचार्यन्ते विचिन्त्यते, सति प्रत्यक्षे वृथा प्रमाणान्तरोपन्यास इत्यर्थः । यदाहुः भाष्यव्याख्यातारः श्रीहेमसूरयः पूज्याः—"गौतम ! भवतोऽपि प्रत्यक्ष एवायं जीवः किमन्येन प्रमाणान्तरोपन्यासेन ? 'ननु कोऽयं जीवो मम प्रत्यक्ष इति चेदु'च्यते—यदेतत् तवैव संशयादिविज्ञानं स्वसंवेदनसिद्धं हृदि स्फुरति स एव जीवः, संशयादिज्ञानस्यैव तदनन्यत्वेन जीवत्वात् । यच्च प्रत्यक्षं तत्र प्रमाणान्तरेण साध्यं, यथा स्वशरीर एवात्मसंवेदनसिद्धाः सुखदुःखादयः । [ननु] 'प्रत्यक्षसिद्धमपि सग्रामनगरं विश्वं शून्यवादिनं प्रति साध्यते एवेति चेत्' नैवं, निरालम्बनाः सर्वे प्रत्ययाः प्रत्ययत्वात् स्वप्नप्रत्ययवदित्यादेस्तदुद्भावितबाधकप्रमाणस्यैव तत्र निराकरणात् अत्र स्वात्मग्राहकप्रत्यक्षे बाधकप्रमाणाभावादिति" (विशेषाव० बृहद्वृ० गा० १५५१ १० पृ० ६६६–७) ॥ ५१ ॥ ५२ ॥

इतश्चायं प्रत्यक्षो जीवः कुत इत्याह—

अहंप्रत्यय एकोऽपि क्रियां त्रैकालिकीं स्पृशन् ।
प्रत्यक्षो दृश्यते, जीवं विनाऽहंप्रत्ययः कुतः ? ॥ ४३ ॥
शरीर एव चेदेषः प्रत्ययो गृह्यते तदा ।
तदवस्थे शरीरेऽपि मृतस्य न भवेत्कथम् ? ॥ ४४ ॥

एकोऽपि अहंप्रत्ययस्त्रैकालिकीं भूत-भवद्-भावि-लक्षणकालत्रयोद्भवां क्रियां स्पृशन् आश्रयन् प्रत्यक्षः साक्षात् दृश्यते विलोक्यते । ततः किमित्याह—जीवमित्यादि । जीवं विनाऽऽत्मानमन्तरेण अहमित्याकारकः प्रत्ययः कुतः कस्माद्भवेत् ? जीवसद्भावे एव तत्संभवः स्यात्, ततोऽस्त्येव प्रत्यक्षो जीव इति । 'नन्वयमहंप्रत्ययो देहे एवोत्पद्यते, न जीवे' इत्याशङ्कापूर्वं प्रतिविधानमाह—शरीर इत्यादि । चेद्यदि एषोऽहमित्याकारकः प्रत्ययः शरीरे एव गृह्यते स्वीक्रियते तदा सा अवस्था यस्य तत् तदवस्थं, तस्मिन् तदवस्थे जीवितवत् स्थिते मृतस्य व्यापन्नस्य प्राणिनः शरीरेऽपि कथं न भवेत् । एतावता जीवं विनाऽपि चेदहंप्रत्ययः स्यात्तर्हि मृतशरीरेऽपि स युज्यते, तस्माज्जीवविषयक एवायमित्यर्थः । यदाहुः पूज्याः—"[यतः] 'कृतवानहं, करोम्यहं, ज्ञातवानहं, जानेऽहं, ज्ञास्याम्यहम्' इत्यादिप्रकारेण योऽयं त्रैकालिकः कार्यव्यपदेशः, तद्विषये प्रयुज्यमानतया तत्समुत्थो योऽयमहंप्रत्यय, एतस्मादपि प्रत्यक्ष एवाऽयमात्मेति प्रतिपद्यस्व । अयं हि अहंप्रत्ययो नानुमानिकः, अलैङ्गिकत्वात्; नाप्यागमादिप्रमाणसंभवः, तदनभिज्ञानां बालगोपालादीनामप्यन्तर्मुखतयाऽऽत्मग्राहकत्वेन स्वसंविदितस्य तस्योत्पादात्, घटादौ चानुत्पादादिति ।

१ इतः=वक्ष्यमाणकारणात् । २ मलधारिश्रीहेमचन्द्रसूरिपादाः ।

हे गौतम ! हे इन्द्रभूते !, त्वं शृणु निशामय—यदि भवतस्तव स्वसंवेद्ये निजानुभवसिद्धे सुखदुःखे साताऽसाते प्रत्यक्षे प्रत्यक्षज्ञानविषयभूते विद्येते तर्हि सन्देहविज्ञानं संशयादिविज्ञानं तथा तेन प्रकारेण स्वसंवेदनसिद्धम्, अत एव प्रत्यक्षं किं न हि अस्ति ? । अस्त्येवेत्यर्थः । ततः किमित्याह—**विज्ञानेत्यादि** । विज्ञानं स्वरूपमस्येति विज्ञानमय एवंविध एवायं जीव आत्माऽस्माभिः प्रत्यक्ष इष्यते वाञ्छ्यते नतु विज्ञानातिरिक्तोऽन्यः कोऽपीत्यर्थः । तथाऽस्मिन् प्रत्यक्षेऽसति अविद्यमाने सति अन्यत्प्रमाणं प्रमाणान्तरमनुमानादि तेन साध्यत्वं विचार्य्यते विचिन्त्यते, सति प्रत्यक्षे वृथा प्रमाणान्तरोपन्यास इत्यर्थः । यदाहुः भाष्यव्याख्यातारः **श्रीहेमसूरयः** पूज्याः—"गौतम ! भवतोऽपि प्रत्यक्ष एवायं जीवः किमन्येन प्रमाणान्तरोपन्यासेन ! 'ननु कोऽयं जीवो मम प्रत्यक्ष इति चेदु'च्यते—यदेतत् तवैव संशयादिविज्ञानं स्वसंवेदनसिद्धं हृदि स्फुरति स एव जीवः, संशयादिज्ञानस्यैव तदनन्यत्वेन जीवत्वात् । यच्च प्रत्यक्षं तन्न प्रमाणान्तरेण साध्यं, यथा स्वशरीर एवात्मसंवेदनसिद्धाः सुखदुःखादयः । [ननु] 'प्रत्यक्षसिद्धमपि समामनगरं विश्वं शून्यवादिनं प्रति साध्यते एवेति चेत्' नैवं, निरालम्बनाः सर्वे प्रत्ययाः प्रत्ययत्वात् स्वप्नप्रत्ययवदित्यादेस्तदुद्भावितबाधकप्रमाणस्यैव तत्र निराकरणात् अत्र त्वात्मग्राहकप्रत्यक्षे बाधकप्रमाणाभावादिति" (विशेषाव० बृहद्वृत्ति० गा० १५५४ पृ० ६६६–७) ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

---

१ तच्च विशेषावश्यकभाष्यम्—श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणैर्विहितम्; तद्व्याख्या मलधारिश्रीहेमचन्द्रसूरिवर्यैर्विहिता । काशी यशोविजयग्रन्थमालाद्वारेण मुद्रणपथमानीतम् । २ जीवाभिन्नत्वेन जीवरूपत्वात् । ३ एतच्चिह्नाङ्कितः पाठो मुद्रितग्रन्थे नास्ति ।

इतश्चायं[1] प्रत्यक्षो जीवः कुत इत्याह—

अहंप्रत्यय एकोऽपि क्रियां त्रैकालिकीं स्पृशन् ।
प्रत्यक्षो दृश्यते, जीवं विनाऽहंप्रत्ययः कुतः ? ॥ ४३ ॥
शरीर एव चेदेषः प्रत्ययो गृह्यते तदा ।
तदवस्थे शरीरेऽपि मृतस्य न भवेत्कथम् ? ॥ ४४ ॥

एकोऽपि अहंप्रत्ययस्त्रैकालिकीं भूत-भवद्-भावि-लक्षणकालत्रयोद्भवां क्रियां स्पृशन् आश्रयन् प्रत्यक्षः साक्षात् दृश्यते विलोक्यते । ततः किमित्याह—जीवमित्यादि । जीवं विनाऽऽत्मानमन्तरेण अहमित्याकारकः प्रत्ययः कुतः कस्माद्भवेत् ? जीवसद्भावे एव तत्संभवः स्यात्, ततोऽस्त्येव प्रत्यक्षो जीव इति । 'नन्वयमहंप्रत्ययो देहे एवोत्पद्यते, न जीवे इत्याशङ्कापूर्वं प्रतिविधानमाह—शरीर इत्यादि । चेद्यदि एषोऽहमित्याकारकः प्रत्ययः शरीरे एव गृह्यते स्वीक्रियते तदा सा अवस्था यस्य तत् तदवस्थं, तस्मिन् तदवस्थे जीवितवत् स्थिते मृतस्य व्यापन्नस्य प्राणिनः शरीरेऽपि कथं न भवेत् । एतावता जीवं विनाऽपि चेदहंप्रत्ययः स्यात्तर्हि मृतशरीरेऽपि स युज्यते, तस्माज्जीवविषयक एवायमित्यर्थः । यदाहुः पूज्यैः[2]—"[यतः] 'कृतवानहं, करोम्यहं, ज्ञातवानहं, जानेऽहं, ज्ञास्याम्यहम्' इत्यादिप्रकारेण योऽयं त्रैकालिकः कार्यव्यपदेशः, तद्विषये प्रयुज्यमानतया तत्समुत्थो योऽयमहंप्रत्यय, एतस्मादपि प्रत्यक्ष एवाऽयमात्मेति प्रतिपद्यस्व । अयं हि अहंप्रत्ययो नानुमानिकः, अलैङ्गिकत्वात्; नाप्यागमादिप्रमाणसंभवः, तदनभिज्ञानां बालगोपालादीनामप्यन्तर्मुखतयाऽऽत्मग्राहकत्वेन स्वसंविदितस्य तस्योत्पादात्, घटादौ चानुत्पादादिति ।

१ इतः=वक्ष्यमाणकारणात् । २ मलधारिश्रीहेमचन्द्रसूरिपादाः ।

[किंच] हन्त कथमसति जीवेऽहमिति प्रतिपन्नं त्वया, विषयाभावे विषयिणोऽनुत्थानप्रसङ्गात्, 'देह एव अस्याहंप्रत्ययस्य विषय इति चेन्न,' जीवविप्रमुक्तेऽपि देहे तदुत्पत्तिप्रसङ्गात् । सति च जीवविषयेऽस्मिन्नहंप्रत्यये 'किमहमस्मि [वा]नास्मि' इति भवतः संशयः केन प्रकारेणोपजायते? अहंप्रत्ययग्राह्यस्य जीवस्य सद्भावादस्म्यहमिति निश्चय एव युज्यते इति भावः । सति चास्मिन्नात्माऽस्तित्वसंशये कस्यायमहंप्रत्ययो युज्यते? निर्मूलत्वेन तदनुत्थानप्रसङ्गादिति" (विशेषा० बृह० पृ० ६६७) ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

जीवाभावे संशयविज्ञानमपि न युज्यते एवेति दर्शयन्नाह—

उत्पादः संशयस्यापि न स्यात् संशयिनं विना ।
विज्ञानाख्यो गुणो ह्येष विहाय गुणिनं कुतः ? ॥ ४५ ॥

संशयोऽस्ति अस्येति संशयी संदेहवान् जीवस्तं विना संशयस्यापि उत्पाद उत्पत्तिर्न स्यात् । कथमित्याह—विज्ञानेत्यादि । हि यत एष संशयो विज्ञानमाख्या यस्य स विज्ञानाख्यो विज्ञाननामा गुणोऽस्ति, स च गुणिनं विहाय गुणाश्रयं द्रव्यं मुक्त्वा कुतः संभवेत्? अयमर्थः—यदि संशयी जीव एव आदौ नास्ति तर्हि अस्ति-नास्तीति संशयः कस्य भवतु? संशयो हि विज्ञानाख्यो गुण एव । न च गुणिनं विना गुणः संभवतीति ॥ ४५ ॥

नन्वत्र देह एव गुण्यस्तु इत्याशङ्क्य प्रतिविधानमाह—

मूर्त्तत्वाद्वा जडत्वाद्वा देहोऽस्य न गुणी भवेत् ।
अमूर्त्तस्य गुणस्यानुरूपोऽमूर्तो गुणी यतः ॥ ४६ ॥

मूर्त्तत्वान्मूर्तिमत्त्वात् वा पुनर्जडत्वादचेतनत्वाद्देहः शरीरोऽस्य

गुणी प्रत्यक्ष एव स्याद्गुणे प्रत्यक्षतां गते ।
रूपे गुणे हि प्रत्यक्षे प्रत्यक्षः स्याद्घटो गुणी ॥ ४७ ॥

गुणे ज्ञानादौ प्रत्यक्षतां गते प्रत्यक्षभावं प्राप्ते सति गुणी गुणाऽऽश्रय आत्मादिः प्रत्यक्ष एव स्यात् । केन दृष्टान्तेनेत्याह—रूपे इत्यादि । हि यतो रूपे कृष्णरक्तादिके गुणे प्रत्यक्षे सति गुणी कृष्णरक्तादिरूपाश्रयो घटः प्रत्यक्षः स्यात् । अयमर्थः—प्रत्यक्ष एव गुणी जीवः स्मृति-जिज्ञासा-चिकीर्षा-जिगमिषा-संशयेत्यादिज्ञानविशेषाणां गुणानां स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धत्वात्, इह यस्य गुणाः प्रत्यक्षाः स प्रत्यक्षो दृष्टो यथा घटः, प्रत्यक्षगुणश्च जीवस्तस्मात्प्रत्यक्षोऽयं, यस्माद् घटोऽपि गुणी रूपादिगुणप्रत्यक्षत्वादेव प्रत्यक्षः तद्वद्विज्ञानादिगुणप्रत्यक्षत्वादात्मापि प्रत्यक्ष इति ॥ ४७ ॥

यथोक्तार्थे दोषाविर्भावपूर्वं प्रतिविधानमाह—

शब्दे गुणे तु प्रत्यक्षे गुण्याकाशस्तथा न किम् ? ।
मैवं मंस्थाः, पौद्गलिकः शब्दो नाकाशगो गुणः ॥ ४८ ॥

तुशब्दः प्रश्ने, 'ननु शब्दे शब्दाभिधाने गुणे प्रत्यक्षे सति गुणी शब्दगुणाश्रय आकाशस्तथा तेन प्रकारेण किं न शब्दवत् प्रत्यक्षः ? कथं नास्तीत्यर्थः' । एवममुना प्रकारेण हे गौतम ! त्वं माऽमंस्था मा मनस्व । कथमित्याह—पौद्गलिक इत्यादि । यतः शब्द आकाशगो गुणो न भवति, किन्तु पौद्गलिकः पुद्गलगुणोऽस्ति, पुद्गलस्तु प्रत्यक्ष एवेति न शब्दाश्लेषोऽप्यत्र कार्यः । इदमेवाहुः पूज्याः—'नन्वनैकान्तिकोऽयं, यस्मादाकाशगुणः शब्दः प्रत्यक्षोऽस्ति, न पुनराकाश-

१ मलधारिश्रीहेमचन्द्रसूरिरचिता विशेषा० बृहद्वृत्तिः

गुणी प्रत्यक्ष एव स्याद्गुणे प्रत्यक्षतां गते ।
रूपे गुणे हि प्रत्यक्षे प्रत्यक्षः स्याद्घटो गुणी ॥ ४७ ॥

गुणे ज्ञानादौ प्रत्यक्षतां गते प्रत्यक्षभावं प्राप्ते सति गुणी गुणाऽऽश्रय आत्मादिः प्रत्यक्ष एव स्यात् । केन दृष्टान्तेनेत्याह—रूपे इत्यादि । हि यतो रूपे कृष्णरक्तादिके गुणे प्रत्यक्षे सति गुणी कृष्णरक्तादिरूपाश्रयो घटः प्रत्यक्षः स्यात् । अयमर्थः—प्रत्यक्ष एव गुणी जीवः स्मृति-जिज्ञासा-चिकीर्षा-जिगमिषा-संशयेत्यादिज्ञानविशेषाणां तद्गुणानां स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धत्वात्, इह यस्य गुणाः प्रत्यक्षाः स प्रत्यक्षो दृष्टो यथा घटः, प्रत्यक्षगुणश्च जीवस्तस्मात्प्रत्यक्षोऽयं, यस्माद् घटोऽपि गुणी रूपादिगुणप्रत्यक्षत्वादेव प्रत्यक्षः तद्वद्विज्ञानादिगुणप्रत्यक्षत्वादात्मापि प्रत्यक्ष इति ॥ ४७ ॥

अथोक्तार्थे दोषाविर्भावपूर्वं प्रतिविधानमाह—

शब्दे गुणे तु प्रत्यक्षे गुण्याकाशस्तथा न किम् ? ।
मैवं मंस्थाः, पौद्गलिकः शब्दो नाकाशगो गुणः ॥ ४८ ॥

तुशब्दः प्रश्ने, 'ननु शब्दे शब्दाभिधाने गुणे प्रत्यक्षे सति गुणी शब्दगुणाश्रय आकाशस्तथा तेन प्रकारेण किं न शब्दवत् प्रत्यक्षः ? कथं नास्तीत्यर्थः' । एवममुना प्रकारेण हे गौतम ! त्वं माऽमंस्था मा मनस्व । कथमित्याह—पौद्गलिक इत्यादि । यतः शब्द आकाशगो गुणो न भवति, किंतु पौद्गलिकः पुद्गलगुणोऽस्ति, पुद्गलस्तु प्रत्यक्ष एवेति न शङ्कालेशोऽप्यत्र कार्यः । इदमेवाहुः पूज्याः—'नन्वनैकान्तिकोऽयं, यस्मादाकाशगुणः शब्दः प्रत्यक्षोऽस्ति, न पुनराकाश-

१ मलधारिश्रीहेमचन्द्रसूरिपादाः विशेषा० बृहद्वृत्तौ

गुणी प्रत्यक्ष एव स्याद्गुणे प्रत्यक्षतां गते ।
रूपे गुणे हि प्रत्यक्षे प्रत्यक्षः स्याद्घटो गुणी ॥ ४७ ॥

गुणे ज्ञानादौ प्रत्यक्षतां गते प्रत्यक्षभावं प्राप्ते सति गुणी गुणाऽऽश्रय आत्मादिः प्रत्यक्ष एव स्यात् । केन दृष्टान्तेनेत्याह—रूपे इत्यादि । हि यतो रूपे कृष्णरक्तादिके गुणे प्रत्यक्षे सति गुणी कृष्णरक्तादिरूपाश्रयो घटः प्रत्यक्षः स्यात् । अयमर्थः—प्रत्यक्ष एव गुणी जीवः स्मृति-जिज्ञासा-चिकीर्षा-जिगमिषा-संशयेत्यादिज्ञानविशेषाणां तद्गुणानां स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धत्वात्, इह यस्य गुणाः प्रत्यक्षाः स प्रत्यक्षो दृष्टो यथा घटः, प्रत्यक्षगुणश्च जीवस्तस्मात्प्रत्यक्षोऽयं, यस्माद् घटोऽपि गुणी रूपादिगुणप्रत्यक्षत्वादेव प्रत्यक्षः तद्वद्विज्ञानादिगुणप्रत्यक्षत्वादात्मापि प्रत्यक्ष इति ॥ ४७ ॥

अथोक्तार्थे दोषाविर्भावपूर्वं प्रतिविधानमाह—

शब्दे गुणे तु प्रत्यक्षे गुण्याकाशस्तथा न किम् ? ।
मैवं मंस्थाः, पौद्गलिकः शब्दो नाकाशगो गुणः ॥ ४८ ॥

तुशब्दः प्रश्ने, 'ननु शब्दे शब्दाभिधाने गुणे प्रत्यक्षे सति गुणी शब्दगुणाश्रय आकाशस्तथा तेन प्रकारेण किं न शब्दवत् प्रत्यक्षः ? कथं नास्तीत्यर्थः' । एवममुना प्रकारेण हे गौतम ! त्वं माऽमंस्था मा मनस्व । कथमित्याह—पौद्गलिक इत्यादि । यतः शब्द आकाशगो गुणो न भवति, किंतु पौद्गलिकः पुद्गलगुणोऽस्ति, पुद्गलस्तु प्रत्यक्ष एवेति न शङ्कालेशोऽप्यत्र कार्यः । इदमेवाहुः पूज्याः—'नन्वनैकान्तिकोऽयं, यस्मादाकाशगुणः शब्दः प्रत्यक्षोऽस्ति, न पुनराकाश-

१ [illegible] विशेषा॰ बृहद्वृत्तौ

मिति । चक्षुषा गृह्यते इत्यर्थे विशेषे इत्यण् । निरित्यादि । निर्गत उपाधिर्यस्मात्, 'स्वसमीपवर्तिनि स्ववृत्तिधर्मसङ्क्रामकत्व'मुपाधित्वमिति तल्लक्षणम् ॥ ५० ॥

अथोपसञ्जिहीर्षुराह—

इत्यात्मा देशतस्तेऽपि प्रत्यक्षः सर्वथा मम ।
अस्खलज्ज्ञानयुक्तत्वाद्भवतः संशयो यथा ॥ ५१ ॥

इत्येवमुक्तप्रकारेण हे गौतम ! स्वशरीरे तेऽपि तवापि देशत एकदेशेन आत्मा प्रत्यक्षोऽस्ति, छद्मस्थत्वेन भवतः सर्वस्यापि वस्तुनो देशविषयत्वात् घटवत्, तथा हि—सर्वमपि स्वपरपर्यायतोऽनन्तपर्यायं वस्तु, छद्मस्थश्च प्रत्यक्षेण साक्षात् तद्देशमेव गृह्णाति, प्रत्यक्षेण च प्रदीपादिप्रकाशेनेव देशतः प्रकाशिता अपि घटादयो व्यवहारतः प्रत्यक्षा उच्यन्ते एव, सर्वात्मना च केवलिप्रत्यक्षमेव वस्तु प्रकाशयति, अतो मम अस्खलज्ज्ञानयुक्तत्वादप्रतिहतानन्तज्ञानवत्त्वेन सर्वथा सर्वात्मनाऽपि प्रत्यक्षोऽयमात्माऽस्ति यथा भवतस्त्वत्सम्बन्धी संशयः सन्देहः । एतावताऽप्रतिहतानन्तज्ञानिनो मम यथाऽतीन्द्रियमपि त्वत्संशयविज्ञानं प्रत्यक्षं तथा सर्वात्मनाऽयमात्माऽपि; इति प्रतिपद्यस्व । अस्खलदित्यादि । अस्खलच्च तद् ज्ञानं च अस्खलज्ज्ञानं, एतेन युक्तोऽस्खलज्ज्ञानयुक्तस्तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात् ॥ ५१ ॥

परशरीरे तर्हि कथमित्याह—

अनुमानाद्गृहाणैवमन्यदेहेऽपि चिन्मयम् ।
जीवमस्तीति प्रवृत्ति-निवृत्तिभ्यां स्वरूपवत् ॥ ५२ ॥

---

१ यथा स्फटिके जपाकुसुमरक्तता, अत्र जपाकुसुमसमीपवर्तिनि स्फटिके स्व-जपाकुसुमवृत्तिरक्तत्वधर्मसंक्रामकत्वम् उपाधित्वमित्यर्थः ।

यथा स्वदेहे एवममुना प्रकारेणान्यदेहे परशरीरेऽपि अनुमानादनुमानप्रमाणेन चिन्मयं विज्ञानात्मकं जीवमात्मानं गृहाणाऽवबुध्यस्व कथमित्याह—अस्तीति। विज्ञानमय आत्मा विद्यते इति। अनुमानमेव सूचयन्नाह—प्रवृत्तीत्यादि। प्रवृत्ति-निवृत्तिभ्यां हेतुभ्यां स्वरूपवत् यथा स्वरूपे इव इति। अयमर्थः—परशरीरेऽप्यस्ति जीवः इष्टानिष्टयोः प्रवृत्ति-निवृत्तिदर्शनात् यथा स्वरूपे स्वात्मनि, इह यत्रेष्टाऽनिष्टयोः प्रवृत्ति-निवृत्ती दृश्येते तत् सात्मकं दृष्टं, यथा—स्वशरीरं, तथा च प्रवृत्ति-निवृत्ती दृश्येते परशरीरेऽतस्तदपि सात्मकम्। आत्माभावे च इष्टाऽनिष्टप्रवृत्ति-निवृत्ती न भवतः यथा घटे, इत्यनुमानात् परशरीरेऽप्यात्मसिद्धिरिति। चिन्मयमिति। चिद् ज्ञानमेव स्वरूपमस्येति चिन्मयस्तं स्वरूपवदिति स्वरूपे इवेत्यर्थे सप्तम्यन्ताद्वतिः॥ ५२॥

ननु लिङ्गलिङ्गिनोः पूर्वं सम्बन्धाग्रहणान्न लिङ्गाज्जीवोऽनुमीयते इत्याशङ्क्य तत्प्रतिविधानमाह—

अगृहीत्वाऽपि सम्बन्धं पूर्वं लिङ्गेन लिङ्गिनः।
समं विधीयते चानुमानं लिङ्गेन तद्यथा॥ ५३॥
हसनै रोदनैर्गानैर्भूतो गात्रेऽनुमीयते।
अतो नैकान्तिकं पूर्वं सम्बन्धग्रहणं स्मृतम्॥ ५४॥

पूर्वं प्रथमं लिङ्गेन समं चिह्नेन सार्द्धं लिङ्गिनस्सम्बन्धं अगृहीत्वाऽपि अपरिगृह्याऽपि लिङ्गेन अनुमानं विधीयते क्रियते। कथमित्याह—तद्यथेत्यादि। तद् दर्श्यते—यतो हसनैर्हास्यै रोदनैरश्रुमोचनैर्गानैर्गीतिभिश्च देहमिर्गात्रे शरीरे भूतो देवविशेषोऽनुमीयतेऽतोऽस्माद्धेतोः पूर्वं लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धग्रहणमनैकान्तिकमनिश्चितं स्मृतं कथितम्।

इदमत्र तात्पर्यम्—'यतो यथा शशकेन समं शृङ्गं केनाऽपि न प्राग्गृहीतं तथा न खलु लिङ्गैः कैश्चिदपि समं लिङ्गी जीवः क्वापि केनापि पुरोपात्तः ततो न लिङ्गादनुमेयोऽसौ जीव इति यन्मन्यसे त्वं'—तत्रोच्यते सोऽनेकान्तः, यस्माल्लिङ्गैः सममदृष्टपूर्वोऽपि मृतो देवविशेषः शरीरे हसन-गान-रोदन-करचरणभ्रूविक्षेपादिमूललिङ्गदर्शनादनुमीयते इति बालानामपि प्रतीतमेवेति । आद्यपद्ये चशब्दः पादपूरणे । लिङ्गेनेति । हेतौ करणे वा तृतीया ॥ ५३ ॥ ५४ ॥

अनुमानान्तरमप्यात्मसाधकमाह—

आदिमन्नियताकारा जातौ जातौ यतस्तनुः ।
कुलाल इव कुम्भस्य तत्कर्त्ता कोऽपि कल्प्यताम् ॥५५॥

यतो यस्माद्धेतोर्गोमहिष्यादिभेदभिन्नायां जातौ जातौ तनुः शरीरम् आदिमन्नियताकारा आदियुक्ता प्रतिनियताकारवती च दृश्यते । ततस्तस्यास्तनोः कर्त्ता निष्पादकः कोऽपि पदार्थः कल्प्यतां समर्थ्यताम् । कस्य क इव ?—कुम्भस्य घटस्य कुलालः कुम्भकार इव । यथा कुम्भस्यादिमन्नियताकारस्तत्कर्त्ता कुलालो विद्यते तथेत्यर्थः, यश्च तनोः कर्त्ता स जीव एवेति । अयमर्थः—देहः सकर्तृकः, आदिमत्त्वे सति प्रतिनियताकारत्वात्, घटवत् । इह यद्वस्तु आदिमत्प्रतिनियताकारं तत् सकर्तृकं दृष्टं, यथा घटः, यत्पुनरकर्तृकं तदादिमत् प्रतिनियताकारमपि न भवति, यथाऽभ्रविकारः, यथाऽऽदिमत्प्रतिनियताकारो देहस्ततः सोऽपि सकर्तृकः, यश्च तस्य कर्त्ता स जीवः, प्रतिनियता-

१ अत्र 'जातौ यतस्तनुस्ततः' इति काशीमुद्रितपाठोऽसाधुः, छन्दोभङ्गदोषदुष्टत्वात्, स्वारस्यविरहाच्च ।

कारत्वं मेर्वादीनामप्यस्ति, नच तेषां कश्चित्कर्त्ता इति तैरनैकान्तिको हेतुः स्यात्, अतोऽत्राऽऽदिमत्त्वविशेषणमुपात्तमिति । आदीत्यादि । आदिर्विद्यते यस्याः साऽऽदिमती, नियतो निश्चित आकारो यस्याः सा नियताकारा, आदिमती चासौ नियताकारा चेति कर्मधारये पुंवद्भावः । तनुशब्दः शरीरवाची नित्यस्त्रीलिङ्गः ॥ ५५ ॥

ननु देहस्य कर्त्ता तु ईश्वरोऽस्ति, न तु जीवस्ततो नैतदनुमानमात्मसाधकमित्याशङ्क्याह—

> ईश्वरो निर्गुणो यो वा न स कर्तृत्वमर्हति ।
> कृतकृत्यत्वसाचिव्यान्निर्विकल्पत्वतोऽपि वा ॥ ५६ ॥

हे गौतम ! ईश्वरो द्विविधः—निर्गुणः सगुणश्च । तत्र यो वा निर्गुणो रागद्वेषादिगुणवर्जित ईश्वरः परमात्माऽस्ति स तु कर्तृत्वं कर्तृभावं नार्हति, न योग्यो भवति । कुत इत्याह—कृतेत्यादि । कृतानि कृत्यानि येन स कृतकृत्यो निष्पादितप्रयोजनस्तस्य भावः कृतकृत्यत्वं, सचिवस्य भावः साचिव्यं साहाय्यं, कृतकृत्यत्वस्य साचिव्यं कृतकृत्यत्वसाचिव्यं तस्मात्, कृतार्थत्वसाहाय्यात् वा । पुनर्निर्विकल्पत्वतो विकल्परहितत्वादपि । एतावता निखिलकर्मक्षयान्मोक्षं प्राप्य कृतकृत्यीभूतोऽत एव विकल्पवर्जितो य ईश्वरस्तस्य पुनः कर्मकर्तृत्वमयुक्तमिति भावः । निर्गुण इति । निर्गता गुणा यस्मात्सः, निष्क्रान्तो गुणेभ्य इति वा 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे' (वा०) इति पञ्चम्यन्तेन समासः । 'सचिवः सहायेऽमात्ये' इति हैमः (अनेकार्थः) ॥ ५६ ॥

१ व्यभिचारापरपर्यायोऽनैकान्तनामाऽसौ हेत्वाभासः, लक्षण-भेदाभ्यां तस्य त्रैविध्यम्, अत्र तु साधारणो व्यभिचारः, तल्लक्षणञ्च साध्यवदन्यवृत्तिर्हेतुः ।
२ मेर्वादीनां नास्ति आदिमत्ता, तेषां कथंचित् शाश्वतत्वात्-नित्यत्वात् ।

ईश्वरः सगुणो यस्तु त्वदुक्त्या कर्तृतां गतः ।
नामान्तरेण तं जीवं विद्धि गौतम ! बुद्धितः ॥ ५७ ॥

हे गौतम ! यस्तु त्वदुक्त्या तव वचनेन कर्तृतां गतः कर्तृभावं प्राप्तः, अत एव सह गुणै रागद्वेषादिभिर्वर्तते इति सगुण ईश्वरोऽस्ति तं बुद्धितो बुध्या नामान्तरेण अपरनाम्ना जीवं विद्धि जानीहि । यं सगुणमीश्वरं त्वं कर्तृत्वेनाङ्गीकरोषि स एवास्माभिर्जीव उच्यते, अतो अस्माकमिष्टसिद्धिरेवेति भावः ॥ ५७ ॥

अथोक्तानुमाने दोषमाशङ्क्य परिहरन्नाह—

दृष्टान्ते मूर्त्ततां वीक्ष्य दोषमात्मनि मा ग्रहीः ।
अदृष्टदेहसंयोगान्मूर्त्तत्वं तस्य निश्चितम् ॥ ५८ ॥

हे गौतम ! त्वं दृष्टान्ते कुलाललक्षणे मूर्त्ततां मूर्त्तिमत्त्वं वीक्ष्य दृष्ट्वा आत्मनि जीवे दोषं मूर्त्तत्वाभावलक्षणं मा ग्रहीः मा गृहाण । कथमित्याह—अदृष्टेत्यादि । अदृष्टं शुभाऽशुभं कर्म, देहः शरीरं, तयोर्जीवेन सह यः संयोगः सम्बन्धस्तस्मात् तस्य संसारिणो जीवस्य मूर्त्तत्वं मूर्त्तिमत्त्वं निश्चितमसन्दिग्धं, विद्यते इति शेषः । तथा च सति न तद्दोषसंभवः । अयमर्थः—'घटस्य कर्ता कुलालो मूर्त्तिमान् सङ्घातरूपोऽनित्यादिस्वभावश्च दृष्ट इति, अतो जीवोऽप्येवंविध एव सिध्यति, एतद्विपरीतश्च किलाऽस्माकं साधयितुमिष्ट इत्येवं साध्यविरुद्धसाधकत्वात् दुष्टोऽयं हेतु'रिति त्वं मन्यसे—तदेतदयुक्तं, यतः खलु संसारिणो जीवस्य साधयितुमिष्टत्वाऽदोषोऽयं, स हि अष्टकर्मपुद्गलसङ्घातोपगूढत्वात् शरीरत्वाच्च कथंचित् मूर्त्तत्वादिधर्मयुक्त एवेति न दोषलेशोऽपि शङ्क्य इति ॥ ५८ ॥

---

१ 'अदृष्टे देहसंयोगात्' इति काशीमुद्रितः पाठो न मनोरमः ।

ननु मूर्तोऽयं जीवस्तर्हि, घटादिवत् साक्षात्किमिति न दृश्यते ? इत्याशङ्क्याह—

अदृष्टत्वेऽपि किं वायोर्मूर्तत्वं नाभिलष्यते ? ।
इत्थं चानुमितिग्राह्यो जीवः सद्भावमश्नुते ॥ ५९ ॥

वायोः पवनस्य अदृष्टत्वेऽपि साक्षादनुपलब्धत्वेऽपि किं त्वया मूर्तत्वं नाभिलष्यते न स्वीक्रियते ? एतावता साक्षादनुपलभ्यमानोऽपि वायुस्त्वया मूर्तत्वेन स्वीक्रियते एव, एवं चामुं जीवमपि स्वीकुरु इति भावः । इत्थं च वक्ष्यमाणप्रकारेणापि अनुमित्याऽनुमानेन ग्राह्यो जीवः सद्भावमस्तित्वमश्नुते प्राप्नोति । अभिलष्यते इति । अभिपूर्वात् 'लष कान्तौ' इत्यस्मात्कर्मणि लट् । अश्नुते इति । 'अशूङ् व्याप्तौ' अस्मात्कर्तरि लट् ॥ ५९ ॥

कथमित्याह—

अक्षाणां परतन्त्रत्वात्करणत्वं विनिश्चितम् ।
ततोऽधिष्ठायकं सौम्य ! विना जीवं कमिच्छसि ? ॥६०॥

हे गौतम ! अक्षाणामिन्द्रियाणां परतन्त्रत्वात्पराधीनत्वात्करणत्वं साधनत्वं विनिश्चितं, निश्चयेन वर्तते इत्यर्थः । ततस्तस्मात् करणत्वात् जीवं विनाऽधिष्ठायकमिन्द्रियाणामधिष्ठातारं त्वं कमिच्छसि ? एतावता जीव एव तेषामधिष्ठाताऽस्तीत्यर्थः । इदमत्र तात्पर्यम्; अयमत्र प्रयोगः—इन्द्रियाणां, अस्ति अधिष्ठाता, करणत्वात्, यथा चक्र-चीवर-मृत्-सूत्र-दण्डानां कुलालः, यच्च निरधिष्ठातृकं तत्करणमपि न भवति, यथाऽऽकाशं, यश्चेन्द्रियाणामधिष्ठाता स जीव इति ॥ ६० ॥

सन्दंशवदुपादानमक्षग्रामं प्रतीहि भोः ।
कर्मारवदुपादाता विषयग्रहणेऽस्त्ययम्[१] ॥ ६१ ॥

१ 'ग्रहणेऽस्त्ययम्' इति काशीमुद्रितः पाठः ।

तथा भो गौतम! अक्षग्राममिन्द्रियसमूहमुपादानं प्रतीहि जानीहि, उपादीयते गृह्यते वस्तु अनेनेति उपादानं, वस्तुग्रहणसाधनमित्यर्थः। किंवत्? संदंशवत्, यथा सन्दंशमुपादानं जानासि तथेत्यर्थः। अथ विषया उपादेयाः शब्द-रूपादयस्तेषां ग्रहणे स्वीकारे उपादाताऽयं जीवोऽस्ति, उपादत्ते इति उपादाता वस्तुग्राहक इत्यर्थः। किंवत्? कर्मारवत्, यथा कर्मारो लोहकारो लोहादिग्रहणे उपादाताऽस्ति तथेत्यर्थः। अयमत्र भावार्थः- यत्र खलु आदानाऽऽदेयभावस्तत्राऽवश्यमादाता समस्ति, यथा लोके सन्दंशकलोहानां लोहकारः, विद्यते चेन्द्रियविषयाणामादानाऽऽदेयभावः, अतस्तेषामप्यस्त्याऽऽदाता स च जीवः, यत्र त्वादाता नास्ति तत्राऽऽदानादेयभावोऽपि न विद्यते, यथाऽऽकाशे इति। सन्दंशेति। 'सन्दंशः स्यात्कङ्कमुख' इति हैमः। 'सांडसी' इति लोकप्रसिद्धो लोहकाराद्युपकरणविशेषोऽयम्। उपादानमिति। उपाङ्पूर्वाद्दाञः करणे ल्युट्। कर्मारेति। 'व्योकारः कर्मारो लोहकार' इति हैमः। उपादातेति। कर्तरि तृच्॥ ६१॥

तनोः सङ्घातरूपत्वात् स्वामी जीवोऽनुमीयते।
भोग्यत्वाच्च शरीरस्य भोक्ता जीवोऽनुमीयते॥ ६२॥

तथा तनोः शरीरस्य सङ्घातरूपत्वात् स्वामी तन्नाथो जीव आत्माऽनुमीयतेऽनुमानगोचरः क्रियते, तद्यथा—देहादीनां विद्यते स्वामी, सङ्घातरूपत्वात्। उपलक्षणं ह्येतत्—तेन मूर्त्तिमत्त्वादैन्द्रियकत्वाचाक्षुषत्वादित्यादयोऽपि अनैकान्तिकत्वपरिहारार्थं संभवद्विहितविशेषणा हेतवो योज्याः। यथा गृहादीनां सूत्रधारादय इति दृष्टान्तः। यत्पुनरस्वामिकं तत्सङ्घातादिरूपमपि न भवति; यथा

गगनकुसुमं, सङ्घातादिरूपं च देहादिकं तस्माद्विद्यमानस्वामिकमिति । तथा पुनः शरीरस्य भोग्यत्वात् भोक्ता जीवोऽनुमीयते, तद्यथा देहादीनां भोक्ता, समस्तभोग्यत्वात्, यथा शाल्यादिभक्तवस्त्रादीनां नरः, यस्य च भोक्ता नास्ति तद्भोग्यमपि न भवति यथा खरविषाणं, भोग्यं च शरीरादिकं ततो विद्यमानभोक्तृकमिति ॥ ६२ ॥

अथ श्लोकत्रयेणापरमप्यात्मसाधकमनुमानमाह—

विहाय वस्तुनोऽस्तित्वं न स्यात्संशयसम्भवः ।
सतोर्हि स्थाणुपुंसोः स्यादरण्ये संशयोद्भवः ॥ ६३ ॥

हे गौतम ! वस्तुनः पदार्थस्याऽस्तित्वं सद्भावं विहाय त्यक्त्वा संशयसंभव संशयस्य उत्पत्तिर्न स्यात्, वस्तुसद्भावे एव संशयोत्पत्तिरिति भावः । तथा हि—हि यतो अरण्येऽटव्यां सतोर्विद्यमानयोः स्थाणुपुंसोः शङ्कुपुरुषयोः संशयस्य उद्भवः प्रादुर्भावः स्यात् । विद्यमानस्थाणुपुरुषविषयक एव संशयोऽरण्ये जनानां समुत्पद्यते, नाविद्यमानवस्तुविषयक इति भावः । विहायेति । विनाऽर्थेऽव्ययमिदम्, नतु ल्यबन्तमेव कर्तृत्वासंभवात । तथा च श्रीहर्षप्रयोगः—'विहाय भैमीमपदर्पयावाये'ति ॥ ६३ ॥

सन्दिग्धं यच्च तत्तत्रान्यत्र वाऽस्तीति निश्चयः ।
शशीयशृङ्गनास्तित्वेऽप्यन्यत्राऽस्ति तदेव सत् ॥ ६४ ॥

यच्च वस्तु सन्दिग्धं संदेहविषयीभूतं विद्यते तद्वस्तु तस्मिन् प्रदेशे अन्यत्राऽन्यस्मिन्वा प्रदेशेऽस्ति विद्यते एवेति निश्चयो वर्त्तते । 'ननु यदि यत्र संशयस्तेनावश्यमेव भाव्यम्, ततः शशशृङ्गमस्तीति प्राप्तं, तत्रापि कस्यचित्संशयसद्भावादि'त्यत आह—शशीयेत्यादि । शशस्य जन्तुविशेषस्येदं शशीयं शशसम्बन्धि यत् शृङ्गं विषाणं तस्य

नास्तित्वेऽपि असद्भावेऽपि अन्यत्राऽन्यस्मिन् प्रदेशे तत् शृङ्गलक्षणं वस्तु सदेव विद्यमानमेवास्ति । एतावता शशके एव तत् शृङ्गं नास्ति । अन्यत्र गवादावस्त्येवेति न कश्चिद्व्यभिचारः ॥ ६४ ॥

एवं संशयसद्भावादात्माऽस्तीति प्रतीयते ।
वन्ध्यापुत्रस्य नास्तित्वे संशयोऽपि न कस्यचित् ॥६५॥

एवमुना प्रकारेण संशयस्य सद्भावात् आत्मा जीवोऽस्ति विद्यते इति प्रतीयते ज्ञायते तथा वन्ध्यापुत्रस्य नास्तित्वेऽसद्भावे संशयोऽपि कस्यचिन्न भवति । एतेन सद्वस्तुन एव संशय इति सिद्धम् । उक्तं च श्रीविशेषावश्यकवृत्तौ—"हे गौतम ! अस्त्येव जीवः तव संशयतः, संशयसद्भावात्, यत्र यत्र संशयस्तत्र तदस्ति, यथा स्थाणुपुरुषौ, संशयश्च तव जीवे तस्मादस्त्येवाऽयम् । तथा हि—स्थाणुपुरुषयोरूर्ध्वत्वारोहपरिणाहाद्युभयसाधारणधर्मप्रत्यक्षतायां चलनशिरःकण्डूयनवयोनिलयनवल्ल्यारोहणाद्युभयगतविशेषधर्माऽप्रत्यक्षतायां चोभयगतैतद्धर्मानुस्मरणे च सति एकतरविशेषनिश्चयं चिकीर्षोः किमिदमिति विमर्शरूपः संशयः प्रादुरस्ति । एवंभूते च स्थाणुपुरुषादिगतसंशये तत् स्थाणुपुरुषादिकं वस्तु अस्त्येव । अवस्तुनि संशयाऽयोगात्, एवमात्मशरीरयोरपि प्रागुपलब्धसामान्यविशेषधर्मस्य प्रमातुस्तयोः सामान्यधर्मप्रत्यक्षतायां विशेषधर्माप्रत्यक्षत्वेऽपि च तद्विषयानुस्मृतौ सत्यामेकतर-

१ तथा च चलन-शिरःकण्डूयनादयः पुरुषगतविशेषधर्माः, चलनं-गतिः, शिरःकण्डूयनं-हस्तेन हस्ताभ्यां वा शिरसः कण्डूयनम्-खर्जनमित्यर्थः, अपि च वयोनिलयन-वल्ल्यारोहणादयो धर्माः स्थाणुगतविशेषधर्माः, वयोनिलयनं-स्थाणौ वयसां-पक्षिणां निलयनं आश्रयस्थानमित्यर्थः, वल्ल्यारोहणं-वल्लीनां आरोहणम् ऊर्ध्वगत्या गमनमित्यर्थः ।

विशेषोपलिप्सोः 'किमयमात्मा, किं वा शरीरमात्रमिदम् ?' इति विमर्शरूपः संशयो जायते । अयं चात्मशरीरयोः सत्त्वे एवोपपद्यते, नैकतरस्याप्यभावे, अतोऽस्ति जीवः, अथैवं ब्रूषे—अरण्यादिषु स्थाणुपुरुषसंशये तत्र विवक्षितप्रदेशेऽनयोरेकतर एव भवति, न पुनरुभयमपि, तत्कथमुच्यते विद्यमान एव वस्तुनि संशयो भवति ? इति, तदयुक्तम्—अभिप्रायाऽपरिज्ञानात्, न हि वयमेवं ब्रूमः तत्रैव प्रदेशे तदुभयमप्यस्तीति किंतु यद्वतः सन्देहस्तद्वस्तु तत्रान्यत्र वा प्रदेशे ध्रुवमस्त्येव । अन्यथा पञ्चमभूतविषयो संशयः स्यात्, तस्मात्संशयविषयत्वादस्त्येव जीवः इति स्थितम्" (विशेषा० वृ० पृ० ६७३) इत्यादि ॥६५॥

इत्थमात्मानुमित्यापि साध्यतां गौतम ! त्वया ।
अथाऽविरुद्धवाक्यार्थं वेदस्यैवं विभावय ॥ ६६ ॥

हे गौतम ! त्वया इत्थं प्रागुक्तप्रकारेण अनुमित्याऽपि अनुमानप्रमाणेनाऽपि आत्मा जीवः साध्यताम् । 'ननु प्रागुक्तविरुद्धवेदवाक्यार्थमनुसरतस्त्वत्तोऽपि मम संशयोऽतिविराधिताऽर्हिरिव पृष्ठं न मुञ्चति तत्किं करोमीत्यत आह—अथेत्यादि । अथानन्तरं वेदस्य अविरुद्धो विरोधवर्जितो योऽसौ वाक्यार्थस्तमेवं वक्ष्यमाणप्रकारेण विभावय विचिन्तय । प्रागुक्तविरुद्धार्थे आग्रहं मा कार्षीरित्यर्थः ॥६६॥

कथमित्याह—

विज्ञानमुपयोगोऽत्र ज्ञानदर्शनयोः स्मृतम् ।
तत्सद्भावो घनस्तेन विज्ञानघन उच्यते ॥ ६७ ॥
उत्पत्तिमत्त्वाद्भूतेभ्यो घटादिभ्यो यथायथम् ।
स जीवद्रव्यपर्यायः समुत्थायाऽनुनश्यति ॥ ६८ ॥

१ अतिदुर्दन्तो व्रणोऽर्शः इव मां पुनः पुनः दुनोति इत्यर्थः ।

ततः संज्ञाऽपि न प्रेत्याऽपरसंज्ञासमुद्भवात् ।
एवं हि देहिपर्यायोत्पत्तिनाशौ विवक्षितौ ॥ ६९ ॥
अशरीरं वसन्तं वेत्यादिवेदोक्तिभिः स्फुटम् ।
ध्रुवत्वं तस्य जीवस्य द्रव्यत्वेन प्रदर्शितम् ॥ ७० ॥

चतुर्भिः संबन्धः ।

अत्राऽस्मिन् 'विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न च प्रेत्यसंज्ञा'स्तीति वाक्ये ज्ञानदर्शनयोरुपयोगो विज्ञानं स्मृतं कथितं, विशिष्टं ज्ञानं विज्ञानमिति तस्य विज्ञानस्य सङ्घातः समूहो घन उच्यते, तेन कारणेन जीवो विज्ञानघन उच्यते ॥ ६७ ॥ अथ स विज्ञानघनो जीवद्रव्यस्य पर्याय, उत्पत्तिमत्त्वात् घटादिभ्यो भूतेभ्यो यथायथं यथायोग्यं समुत्थाय उत्पद्य अनु पश्चात् अर्थान्तरेऽपि योगे सति नश्यति विनाशं प्राप्नोति ॥ ६८ ॥ ततस्तदनन्तरमपरसंज्ञासमुद्भवात् अपरोपयोगिसंज्ञायाः संभवतः प्रेत्यसंज्ञाऽपि नास्ति, प्राक्तनी ज्ञानसंज्ञाऽपि न विद्यते। हि इति निश्चये, एवममुना प्रकारेण देहिनां जीवानां ये पर्याया ज्ञानोपयोगाद्यास्तेषामुत्पत्तिनाशौ उत्पादव्ययौ विवक्षितौ ॥ ६९ ॥ तथा 'अशरीरं वसन्तं वा' इत्यादयो या वेदोक्तयो वेदवाक्यानि ताभिः स्फुटं प्रकटं तस्य जीवस्य द्रव्यत्वेन द्रव्यरूपतया ध्रुवत्वं नित्यत्वं प्रदर्शितमस्ति । वेदोक्तिर्यथा—'न ह वै सशरीरस्य प्रियाऽप्रिययोरपहतिरस्ति, अशरीरं वा वसन्तं प्रियाऽप्रिये न स्पृशत' इति, यथा 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्यादि । एतदर्थस्तु प्रागेवोक्तोऽतः पुनर्नोच्यते इति ॥ अथ श्लोकचतुष्टयस्य भावना विधीयते—इह विज्ञानघनो जीव उच्यते, तथा हि—विज्ञानं ज्ञानदर्शनोपयोगः तेन सदाऽभिन्नत्वेन

घनत्वं निबिडत्वं प्राप्तो विज्ञानघनो जीवः, यदि वा प्रतिप्रदेशमनन्तानन्तविज्ञानपर्यायसङ्घातघटितत्वात् विज्ञानघनो जीवः। एवकारेण तु विज्ञानघन एवाऽसौ न तु नैयायिकादीनामिव 'स्वरूपेण निर्विज्ञानत्वाज्जडोऽसौ बुद्धिस्तु तत्र समवेतैवे'ति नियम्यते । स हि भूतेभ्य उत्पद्यते, भूतानि इह घट-पटादिज्ञेयवस्तुस्वरूपाणि अभिप्रेतानि, तेभ्यो ज्ञेयभावेन परिणतेभ्यो 'घटोऽयं पटोऽयम् इत्यादिज्ञानपर्यायेणोत्पद्यते इत्यर्थः। ततस्तान्येव ज्ञानालम्बनभूतानि कालक्रमेण व्यवधानस्यानाऽन्यमनस्कत्वादिनाऽर्थान्तरोपयोगे सति विज्ञेयभावेन विना समनुभवनानि, अनु पश्चात् तदवबोधपर्यायेण स विनश्यति। 'ननु किमित्थं सर्वथाऽयमात्मा विनश्यतीति चेत्', नैवम्, एक एवाऽयमात्मा त्रिस्वभावः, तथा हि—अर्थान्तरोपयोगकाले पूर्वविज्ञानोपयोगेनायं विनश्वरस्वभावः, अपरविज्ञानोपयोगतस्तु उत्पादस्वभावः, अनादिकालप्रवृत्तसामान्यविज्ञानमात्रसन्तत्या पुनरयं विज्ञानघनो जीवोऽविनष्ट एवाऽवतिष्ठते। एवमन्यदपि सर्वं वस्तु उत्पादव्ययध्रौव्यस्वभावमेव बोध्यम्। न च प्रेत्येति। न चाऽन्यवस्तूपयोगकाले प्राक्तनी ज्ञानसंज्ञाऽस्ति। कुतः। साम्प्रतवस्तुविषयोपयोगात्। अयमर्थः—यदा घटोपयोगनिवृत्तौ पटोपयोग उत्पद्यते, तदा घटोपयोगसंज्ञा नास्ति, तदुपयोगस्य निवृत्तत्वात्किंतु पटोपयोगसंज्ञैवाऽस्ति। तदुपयोगस्यैव तदानीमुत्पन्नत्वात्, तस्माद्विज्ञानघनाख्यो वेदपदेष्वभिहितोऽयं जीवः। ततो गौतम! प्रतिपद्यस्वैनमिति ॥ ७० ॥

अथ यत्सत्तत्क्षणिकमिति व्याप्तिवादिनां बौद्धानामेकान्तवादित्वं दर्शयति—

क्षणनश्वरताबुद्धिर्बौद्धानां या श्रुते श्रुता ।
ज्ञानपर्यायमाश्रित्य साऽस्तु द्रव्यानपेक्षणात् ॥ ७१ ॥

बौद्धानां सौगतानां श्रुते शास्त्रे या क्षणनश्वरताबुद्धिः सर्वमपि वस्तु जातं क्षणविनश्वरमस्तीत्येवंभूता मतिः श्रुता प्रसिद्धाऽस्ति, सा बुद्धिर्द्रव्यानपेक्षणात् द्रव्याऽपेक्षामविधाय, किंतु ज्ञानपर्यायमाश्रित्य स्वीकृत्य अस्तु भवतु । एतावता पर्यायनयाऽपेक्षया क्षणनश्वरत्वं सर्वपदार्थानामस्तीत्यर्थः । द्रव्येत्यादि । 'ल्यब्लोपे—' (वा०) इति पञ्चमी ॥ ७१ ॥

अथ नास्तिकादिमतं निराकुर्वन्नाह—

अनुमानात् स्वसाध्यं यः साधयन्नपि तं पुनः ।
खण्डयन्निह चार्वाकः सतां प्राप्तवचाः स किम् ? ॥ ७२ ॥

इहाऽस्मिन् लोके स चार्वाको नास्तिकः, किं सतां सत्पुरुषाणां प्राप्तमुपादेयं वचो वचनं यस्य स प्राप्तवचो भवति ? न भवत्येवेत्यर्थः । क इत्याह—अन्वित्यादि । यश्चार्वाकः स्वस्यात्मनः साध्यं नास्तित्वमनुमानादनुमानप्रमाणेन साधयन्नपि तं पुनरनुमानादिसाध्यं जीवं खण्डयन् निराकुर्वन् वर्त्तते । एतावता यो येन प्रमाणेन स्वसाध्यं साधयति तेनैव सिद्धं पदार्थान्तरं न स्वीकुरुते । तस्याऽयथार्थभाषिणो वचनं कस्य सत्पुरुषस्योपादेयं भवेदिति भावः ॥ ७२ ॥

शून्यतैव परं तत्त्वं येषां स्याच्छून्यवादिनाम् ।
तेषां वाचोऽर्थशून्यत्वात् प्रतीताः स्युः कदाऽपि न ॥ ७३ ॥

तथा तेषां शून्यवादिनां बौद्धैकदेशिनां शून्यता एव परं प्रधानं तत्त्वं स्यात् विद्यते, तेषां वाचो गिरोऽर्थशून्यत्वादभिधेयहीनत्वात्क-

दापि कस्मिन्नपि काले न प्रतीताः स्युर्न प्रतीतियुक्ता भवन्ति । अयमर्थः—ये खलु सर्वं शून्यमेवास्तीति वदन्ति तेषां वाचोऽपि सर्ववस्त्वन्तर्गतत्वात् शून्या एव, ततश्चार्थशून्ये तद्वचने को विद्वान्प्रतीतिं कुर्वीतेति ॥ ७३ ॥

वेदान्तिमतमाश्रित्य ब्रह्मैक्यं यद्यपि स्थितम् ।
तथाऽपि लिङ्गभेदेनाऽऽत्मभेदमवधारय ॥ ७४ ॥

वेदान्तिनां मतं वेदान्तिमतं, तदाश्रित्य यद्यपि ब्रह्मण आत्मन ऐक्यमेकत्वं स्थितम्, तथाऽपि हे गौतम ! लिङ्गस्य चिह्नस्य भेदेन आत्मनो जीवस्य भेदं नानात्वमवधारय जानीहि । वेदान्तिमतं तावदिदम्—"एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः । एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥ यथा विशुद्धमाकाशं तिमिरोपप्लुतो जनः । संकीर्णमिव मात्राभिर्भिन्नाभिरभिमन्यते ॥ तथेदममलं ब्रह्म निर्विकल्पमविद्यया । कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं प्रकाशते ॥" इत्यादि ॥ ७४ ॥

ननु कथं लिङ्गभेदेनात्मभेद इत्याशङ्क्याह—

उपयोगो हि लिङ्गं स्यात्तस्योत्कर्षाऽपकर्षतः ।
भेदास्त्वनन्ता जीवानां भिन्नता तेन गृह्यताम् ॥ ७५ ॥

हीति निश्चयेन उपयोगो ज्ञानदर्शनोपयोगः, स च जीवस्य लिङ्गं स्याद् विद्यते । तस्योपयोगस्य तु उत्कर्षापकर्षतः प्रतिशरीरमाधिक्यन्यूनभावात् जीवानां अनन्ता भेदाः सिद्धाः, तेन कारणेन हे गौतम ! त्वया जीवानां भिन्नताऽनेकविधत्वं गृह्यतां स्वीक्रियतां, न तु वेदान्तिवदेकत्वमिति भावः । एषां भिन्नत्वं तु संसारीतर(सिद्ध)-

स्थावरत्रससूक्ष्मबादरपर्याप्ताऽपर्याप्तादिभेदैरवसेयम् ॥ अत्र प्रयोगः— नानारूपा भुवि जीवाः, लक्षणादिभेदात्, कुम्भादिवत्, यच्च न भिन्नं न तस्य लक्षणभेदः, यथा नभस इति। अपि च एकत्वे सति जीवानां सुखदुःखबन्धमोक्षादयो नोपपद्यन्ते सर्वगतत्वान्नभस इव। यत्र तु सुखादयो न तत्सर्वगतं, यथा देवदत्त इत्यादि। इत्थं चैकत्वे सुखाद्यनुपपत्तेर्नानात्वं जीवानामिति स्थितम् ॥ अत्र नैयायिकाः—'भवतु तर्हि जीवानां नानात्वं किंत्वेकैको जीवः सर्वजगद्व्यापकोऽस्तु इति वदन्ति', तत्रोच्यते—जीवस्य सर्वजगद्व्यापकत्वं तावदसङ्गतमेव मतिमावतः[2] मतिभाति। तस्य हि शरीरमात्रावस्थायित्वस्यैव प्रमाणसिद्धत्वात्। तथा च प्रयोगः—देहमात्रस्थो जीवः तत्रैव तद्गुणोपलब्धेः, यथा स्थालमात्रे घट इति। अथवा यो यत्र प्रमाणैर्नोपलभ्यते तस्य तत्राभाव एव, यथा भिन्ने[3] घटे पटस्य, नोपलभ्यते च शरीराद्बहिर्जीवः, तस्मात्तस्य तत्राभाव एव। इत्यलं प्रसङ्गेन ॥ ७५ ॥

तदेवं केषांचिद्वेदपदानामर्थं व्याख्याय साम्प्रतमुपसंहरन् सर्वेषां च वेदपदानां सङ्क्षेपतोऽर्थमुपदर्शयंश्चाह—

एषां वेदपदानां यत्तमर्थं वेत्सि नैव तत्।
करोषि संशयं जीवे, सर्वेषामथवा ध्रुवम् ॥ ७६ ॥
अर्थः किं वा भवेच्छब्दो जातिर्द्रव्यं गुणः क्रिया।
विज्ञानं वस्तुभेदो वाऽयुक्तोऽयं संशयस्तव ॥ ७७ ॥

---

१ परस्परभेदमात्रा इत्यर्थः। २ बुद्धिमतो नरान्। ३ पटात् पृथक्स्थिते घटे पटस्य सत्ता नोपलभ्यते अत एव तदभावोऽवसीयते इत्यर्थः।

वस्तुधर्मो न युक्तो हि अयमेव न वेत्ययम् ।
सर्वं सर्वमयं चैव स्वान्यपर्यायतो यतः ॥ ७८ ॥
सर्वं विवक्षयाऽसर्वमयमप्यस्ति केवलम् ।
युक्तः पदार्थः सामान्यविशेषात्मा विवक्षया ।
वस्तुनो विश्वरूपो यत्पर्यायापेक्षया समः ॥ ७९ ॥

षट्पदीयम् । चतुर्भिः कलापकम् ।

हे गौतम ! यद्यस्मात्कारणात् एषां 'विज्ञानघन एवे'त्यादिपूर्वोक्तानां वेदपदानां योऽर्थो मया दर्शितस्तमर्थं न वेत्सि न जानासि, तत्तस्मात्कारणादेव जीवे संशयं करोषि । अथवा सर्वेषामशेषवेदपदानामर्थं ध्रुवं निश्चितं त्वं न जानासि, यस्मात्सर्वेष्वपि वेदपदेषु विषये तवैवंभूतः संशयोऽस्तीति सम्बन्धः ॥ ७६ ॥ कथंभूत इत्याह— अर्थ इत्यादि । किमेतेषां वेदपदानामर्थः शब्दो भवेत् ? यथा भेरीपटहढक्कादीनां शब्दस्य शब्द एवार्थः ?, वा अथवा किं जातिरेषामर्थो यथा गोशब्दे समुच्चारिते गोजातिरवसीयते, यदि वा किं द्रव्यमेषामर्थो यथा दण्डीत्यादिषु दण्डादिमद्द्रव्यं, किं वा शुक्लकृष्णादीनामिव शुक्लादिगुण एतेषामर्थः ?, अथवा धावतीत्यादीनामिव धावनादिक्रियाऽमीषामर्थः, यदि वा यद्घटादिशब्दे समुच्चारिते तदभिधेयार्थविषयं विज्ञानं भवद् दृश्यते तदेषामर्थः, किं वा घटशब्दे समुच्चारिते पृथुबुध्नोदराद्याकारवान् घटलक्षणोऽर्थोऽनेनोक्तो न तु पटादिरित्येवं यो वस्तुभेदः प्रतीयते स एषामर्थः इति—अयं च संशयः, स चाऽयुक्तोऽन्याय्यश्च ॥ ७७ ॥ कथमित्याह—वास्त्वित्यादि । हि यस्मादयमेवास्ति वाऽथवाऽयं नैवास्ति इत्येवं कस्यापि वस्तुनो

१ अत्र 'यत् पर्यायविवक्षया समः' इति काशीमुद्रितपाठश्छन्दोऽनुरोधेन प्रामादिकः । २ अवसीयते इत्यप्याद्दार्यम् ।

धर्मोऽवधारयितुं न युक्तः, शब्दोऽपि वस्तुविशेष एव, तत एवंभूतस्यैवार्थस्यायमभिधायको नैव वा ?, इत्थंभूतस्यार्थस्यायं प्रतिपादक इत्येवमेतद्धर्मस्याप्यवधारणमयुक्तमेव । कुत इत्याह—सर्वमित्यादि । यतो यस्मात्सर्वमपि वाच्यवाचकादिकं वस्तु स्वान्यपर्यायतः स्वपरपर्यायैः सर्वमयं सर्वात्मकमेव विद्यते सामान्यविवक्षयेत्यर्थः ॥ ७८ ॥

तथा विवक्षया केवलस्वपर्यायापेक्षया सर्वं वस्तु असर्वमयमसर्वात्मकमप्यस्ति । कीदृशमित्याह—केवलं विविक्तरूपं सर्वतो व्यावृत्तमित्यर्थः । तस्मात्सर्वेषामपि पदानां विवक्षया विवक्षावशतः सामान्यविशेषात्मा सामान्यमयो विशेषमयश्च पदार्थो युक्तः, न पुनरेकान्तेन । इत्थंभूत एव अनित्थंभूत एव वेति कुत इत्याह—वस्तुन इत्यादि । यद्यस्मात्समः सर्वोऽपि वाच्यस्य वाचकस्य वस्तुनः स्वभावैः, पर्यायापेक्षया विश्वरूपो नानाविधो वर्तते, ततश्च सामान्यविवक्षायां घटशब्दः सर्वात्मकत्वात्सर्वेषामपि द्रव्यगुणक्रियाद्यर्थानां वाचकः । विशेषविवक्षायां तु प्रतिनियतरूपत्वात् य एवास्येह पृथुबुध्नोदराद्याकारवानर्थो वाच्यतया रूढस्तस्यैव वाचकः, एवमन्योऽपि शब्दः विशेषविवक्षया यो यत्र देशादौ यस्यार्थस्य वाचकतया रूढः स तस्य वाचको द्रष्टव्यः । सामान्यविवक्षया तु सर्वः सर्वस्य वाचकः सर्वं च सर्वस्य वाच्यमित्यनया दिशा सकलं सुधिया भावनीयमिति । सामान्येत्यादि । सामान्यं च विशेषश्च सामान्यविशेषौ तौ आत्मा स्वरूपं यस्य सः । सम इति । अर्थसम्बन्धात् समस्तार्थवाचकोऽयमत्र ग्राह्यो न तु तुल्यार्थकः ॥ ७९ ॥

---

१ सामान्यापेक्षया=द्रव्यार्थिकनयस्य प्राधान्यविवक्षया ।

इत्येवं भगवान्, इन्द्रभूतेः संशयं निराकृत्य पुनरपि प्रागुक्तं सर्वमेवार्थं द्रढयति—

प्रतीत्य मयि सार्वज्ञ्यं सत्यं मन्यस्व मद्वचः ।
रागद्वेषभयातीतो न ह्यसत्यं प्रभाषते ॥ ८० ॥

हे गौतम ! मयि मद्विषये सार्वज्ञ्यं सर्वज्ञत्वं प्रतीत्य सर्वज्ञोऽयमिति प्रतीतिं विधाय मद्वचो मदीयं वचनं सत्यमवितथं त्वं मन्यस्व जानीहि । कुत इत्याह—रागेत्यादि । हि यतो रागः प्रीतिर्द्वेषोऽप्रीतिर्भयं साध्वसं तानि रागद्वेषभयानि अतीतोऽतिक्रान्तः पुमान् असत्यमऽनृतवाक्यं न प्रभाषते न ब्रवीति, ईदृशश्चाहमित्यतो मद्वचनं सत्यं मन्यस्वेत्यर्थः । अत्रैवं प्रयोगः—सर्वमपि मद्वचनं सत्यमनतिपाति च बोध्यम्, रागद्वेषभयाऽज्ञानरहितत्वात् इह यद्भयादिरहितस्य वचनं तत्सत्यं दृष्टं, यथा मार्गज्ञस्य भयरहितस्य प्रष्टरि रागद्वेषरहितस्य मार्गोपदेशवचनं, तथा च मद्वचः, तस्मात्सत्यमनतिपाति चेति, मूले रागद्वेषभये इत्यत्राऽज्ञानपदमनुक्तमपि सन्नाह्यं, प्रकृतोपयोगित्वात् ॥ ८० ॥

तदेवं त्रिजगत्स्वरूपवेदिना भगवता श्रीमहावीरेण निःशेषपरभवोपनोपायकुशलतया निपुणयुक्तिप्रबन्धेन समासन्नपरमकल्याणस्येन्द्रभूतेः सर्वस्मिन्नपि संशये मूलच्छिन्ने सति किमसौ कृतवानित्याह—

इत्थं संशयघातकानि वचनान्याकर्ण्य वीरप्रभोः
सर्वज्ञत्वमिहाधिगत्य जगतामीशत्वमालोक्य च ।
वार्णश्चात्मगतैरसौ परिवृतो मिथ्यात्वमोहोज्झित-
श्चारित्रं प्रविवेश सर्वविरतिं तीर्थाग्रणीर्गौतमः ॥ ८१ ॥

इत्थं प्रागुक्तप्रकारेण संशयस्य जीवविषयकसन्देहस्य घातकानि विनाशकानि वीरप्रभोः वर्द्धमानस्वामिनो वचनानि आपीय सादरं श्रुत्वा, तथा इहास्मिन् वीरप्रभौ सर्वज्ञत्वं सर्वज्ञभावमधिगत्य विज्ञाय, च पुनरस्मिन्नेव प्रभौ जगतामीशत्वं विश्वेश्वरत्वमालोक्य दृष्ट्वा, मिथ्यात्वेन मिथ्यात्वोदयेन यो मोहो मौढ्यमविवेकित्वमिति यावत्, तेन उज्झितो मुक्तो मिथ्यात्वोदयजनितमूढत्वविमुक्त इत्यर्थः । तथा बाणैः पञ्चभिश्छात्राणां शिष्याणां शतैः परिवृतो वेष्टितः छात्रपञ्चशतीसहित इत्यर्थः । एवंविधोऽसौ गौतम इन्द्रभूतिः सर्वविरतिं सर्वविरत्याख्यं चारित्रं चरणं प्रविवेश प्रविशति स्म । भागवतीं दीक्षां जग्राहेत्यर्थः । अत एव कीदृशोऽसौ गौतमः—**तीर्थाग्रणीः** तीर्थे चतुर्विधसङ्घेऽग्रणीर्मुख्यो, भगवता दीक्षां दत्त्वा प्रथमगणधरत्वेन स्थापितत्वादिति भावः । आपीयेति । आङ्पूर्वात् 'पीङ् पाने'-ऽस्मात् क्त्वाप्रत्ययस्तस्य ल्यबादेशः । बाणैरिति । मदनस्य पञ्च बाणाः सन्ति, ततो बाणशब्देनाऽत्र पञ्चेति सङ्ख्या परिग्राह्येति । इदं च शार्दूलविक्रीडितवृत्तम् । एतल्लक्षणं तु प्रागुक्तमेवेति ॥ ८१ ॥

इति कविरूपचन्द्रविरचिते श्रीगौतमीयमहाकाव्ये गौतमस्य संशयच्छेदानन्तरं प्रव्रज्याग्रहणवर्णनो नाम सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

इति स्पष्टम् ।

इति श्रीगौतमीयप्रकाशाख्यायां गौतमीयमहाकाव्यव्याख्यायां सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

इति प्रथमगणधरवादः ॥ १ ॥

अष्टमः सर्गः ।

इन्द्रभूतिमथ सोदरमग्र्यं दीक्षितं जिनपदेन निशम्य ।
अग्निभूतिरपि तल्लघुबन्धुर्भग्नबाहुरिव खेदमवाप ॥ १ ॥

विशुद्धविज्ञानकरं प्रसार्याऽग्निवायुभूती भवसिन्धुमध्यात् ।
समुद्धृतौ येन जिनेश्वराय नमोऽस्तु तस्मै त्रिशलात्मजाय ॥ १ ॥

अथानन्तरं अग्रे भवमग्र्यं प्रथममित्यर्थः । सोदरं भ्रातरं इन्द्रभूतिं गौतमं जिनपदेन जिनवाक्येन दीक्षा जाता यस्येति दीक्षितस्तं निशम्य श्रुत्वा तस्येन्द्रभूतेर्लघुबन्धुर्लघुभ्राता अग्निभूतिरपि भग्नो बाहुर्यस्य स भग्नबाहुरिव खेदं शोकमवाप प्राप्तवान् । पदेनेति । 'पदं स्थाने विभक्त्यन्ते शब्दे वाक्येऽङ्कवस्तुनोः' इत्यादि हैमः । अस्मिन्सर्गे स्वागतावृत्तं, तल्लक्षणं तु 'स्वागतेति रनभाद्गुरुयुग्म'मिति ॥ १ ॥

अथाऽसौ किं शुशोचेत्याह—

यं बृहस्पतिरपि श्रुतिवादे जेतुमर्हति न युक्तिप्रपञ्चैः ।
सोऽपि केनचिदहो ! निगृहीतो हन्त ! दैवरचितं हि दुरन्तम् ॥२॥

बृहस्पतिरपि सुराचार्योऽपि श्रुतीनां वेदानां वादे युक्तिप्रपञ्चैरुपपत्तिविस्तारैर्यं मद्भ्रातरं जेतुं न अर्हति न योग्यो भवति, न शक्नोतीत्यर्थः । अहो इत्याश्चर्ये, सोऽपि मद्भ्राता केनचिद्वादिना निगृहीतो निर्जितः । हि यस्मात्कारणात् हन्तेति विषादे, दैवेन यद्रचितं तत् दुरन्तं दुरवसानं, भवतीति शेषः ॥ २ ॥

भ्रातरं मम महान्तमजैषीद्यश्छलादिनिपुणः स च वादी ।
तत्र यत्किमपि संप्रति वृत्तं ज्ञायते न निखिलं तदगत्वा ॥ ३ ॥

च पुनः, यो वादी मम महान्तं ज्येष्ठं भ्रातरं गौतमं अजैषीत् जयति

स, स वादी छद्मादौ निपुणः प्रवीणो, दृश्यते इति शेषः । सांप्रतमधुना यत्किमपि कार्यं वृत्तं सञ्जातं तन्निखिलं समस्तं तत्र प्रदेशे न गत्वा गमनमकृत्वा न ज्ञायते, अतो ममापि तत्र गन्तव्यमिति भावः ॥ ३ ॥

यज्ञपाटकमतीत्य सुरा यन्निर्ययुस्तदभवद्विपरीतम् ।
मत्सहोदरपराजय एवं कोऽद्य दैव ! विषमो बत कालः ! ॥४॥

पूर्वं तु सुरा देवा यज्ञपाटकमतीत्य विलङ्घ्य यन्निर्ययुर्निर्योन्ति स तद्विपरीतमभवत् । ततश्च एवममुना प्रकारेण मम सहोदरस्य भ्रातुः पराजयो विपरीतं कार्यमभवत् । बतेति खेदे, हे दैव ! अद्य अस्मिन्नहनि को विषमः कालः समयः समजनीति शेषः ॥ ४ ॥

कोऽस्त्यसौ सुरवरैरपि सेव्यो यस्य चैष महिमा वरिवर्ति ।
दर्शनेऽस्य विहिते खलु पश्चाच्च मे भवतु यद्भवितव्यम् ॥५॥

च पुनर्यस्य वादिन एष महिमा प्रभावो वरिवर्ति अतिशयेन वर्तते । अयमसौ सुरवरैर्देवेन्द्रैरपि सेव्यः कोऽपि, सांप्रतं [illegible] खलु निश्चितं, अस्य वादिनो दर्शने विहिते कृते सति मे मम यद्भवितव्यं तद्भवतु । चः पादपूरणे । वरिवर्तीति । 'वृतु धातोः' यङ्लुगन्ताल्लट्, पूर्वस्य रिगागमः ॥ ५ ॥

निर्ययावयमपीति विमृश्य छात्रपञ्चशततन्त्रसमेतः ।
इन्द्रभूतिरिव विसयमृच्छन्नाप तीर्थपतिदर्शनदेशम् ॥ ६ ॥

अयमग्निभूतिरपि इति उक्तप्रकारेण विमृश्य विचिन्त्य छात्राणां पञ्चशतानि छात्रपञ्चशतानि तान्येव तन्त्रं परिकरस्तेन समेतः संयुक्तः सन् निर्ययौ गृहान्निर्गच्छति स्म । ततश्च इन्द्रभूतिरिव विसयमाश्चर्यमृच्छन् प्राप्नुवन् तीर्थपतेः श्रीवीरभगवतो दर्शनस्य देशं प्रदेश-

माप प्राप्तवान् । तत्रेति । 'तत्रोपकरणे अपी'ति हैमः । ऋच्छन्निति । 'ऋच्छ गत्यादौ' अस्माल्लटः शतृ ॥ ६ ॥

एहि सूरिवर ! पावकभूते ! भ्रातृवत्त्वमपि संशयमुज्झ ।
तत्र तीर्थपतिनेति स उक्तो विस्मयं मनसि बाढमुवाह ॥ ७ ॥

हे पावकभूतेऽग्निभूते ! सूरिवर विद्वद्वर ! एहि आगच्छ त्वमपि भ्रातृवद्गौतमवत् संशयं सन्देहं उज्झ परित्यज । इत्यमुना प्रकारेण तत्र समवसरणे तीर्थपतिना श्रीवीरस्वामिना उक्तः सन् सोऽग्निभूतिर्मनसि बाढमत्यर्थं विस्मयमाश्चर्यमुवाह वहति स्म, धारयति स्मेति यावत् । वहेः कर्त्तरि लिट् ॥ ७ ॥

अग्निभूतिरपि वाक्यविचारे प्राविशद्ध्रुवमसौ सकलज्ञः ।
अन्यथा परमनोगतमेवं कः प्रकाशयति गूढविमर्शम् ? ॥ ८ ॥

अग्निभूतिरपि भगवदुक्तस्य वाक्यस्य विचारे विचारणे प्राविशत् प्रविशति स्म । कथमित्याह—असौ जिनो ध्रुवं निश्चितं सकलज्ञः सर्वज्ञो विद्यते इति शेषः । अन्यथा सर्वज्ञमन्तरेण एवममुना प्रकारेण परस्य मनोगतं हृदयप्राप्तं गूढविमर्शं गुप्तविचारं कः प्रकाशयति प्रकटीकरोति, न कोऽपीत्यर्थः । ततश्च निश्चितोऽयं सर्वज्ञ इति भावः ॥८॥

वेत्ति यः परमनोविचिकित्सां निर्णयोऽपि हि भवेत्तदधीनः ।
तं च वक्ष्यति ततोऽयमपृष्टो मौनमेव मम साम्प्रतमस्तु ॥ ९ ॥

यः परस्यान्यस्य मनसो विचिकित्सां संशयं वेत्ति, हीति निश्चितं, तत्संशयस्य निर्णयो निश्चयोऽपि तदधीनस्तदायत्तो भवेत्, ततस्तस्मात्कारणात् तं च सन्देहं सनिर्णयं अयमपृष्ट एव वक्ष्यति वदिष्यति । मम तु साम्प्रतमधुना मौनमेवास्तु । विचिकित्सामिति । 'विचिकित्सा च संशयः' इति हैमः । वक्ष्यतीति । वचेः कर्तृ लृट् ॥९॥

सर्वविरसमधिगम्य तदीयं
चित्तभावमथ वाचमवोचत् ।
सौम्य ! वेत्सि विषयः करणानां
कर्म नो तदिदमस्ति न वेति ॥ १० ॥

अथाऽनन्तरं सर्वं वेत्तीति सर्ववित् सर्वज्ञः श्रीमहावीरस्वामिभूतेरयं तदीयस्तं चित्तभावं हृदयाभिप्रायं समधिगम्य केवलज्ञानेन ज्ञात्वा वाचं वाणीं अवोचत् अवादीत् । कथमित्याह—हे सौम्य ! *शान्तप्रकृते ! अग्निभूते ! क्रियते मिथ्यात्वादिहेतुयुक्तेन जीवेनेति* कर्म ज्ञानावरणादिकं, करणानामिन्द्रियाणां विषयो गोचरो नो विद्यते, इन्द्रियगम्यं नास्तीत्यर्थः । तत्तस्मात्कारणादिदं कर्म अस्ति न वा ? इति त्वं वेत्सि स्वहृदये जानासि, परमयमनुचितस्तव संशय इति वाक्यशेषः ॥ १० ॥

तत्रोपपत्तिमाह—

यत्तवाऽप्रकटमस्ति तदेत-
द्वर्त्तते प्रकटमेव ममाऽत्र ।
केनचिच्छरभसिंहगजाद्ये-
र्वेक्षिताः किमु न ते खलु सन्ति ? ॥ ११ ॥

हे अग्निभूते ! अत्रास्मिन्नवसरे यत्कर्मादिकं तव अप्रकटमस्ति तदेतन्मम प्रकटमेव वर्त्तते । अथ यदि भवतः प्रत्यक्षं कर्म तर्हि ममापि तत्प्रत्यक्षं फलाय भवतीत्याशङ्क्याह—केनेत्यादि । केनचित्पुरुषेण चेद्यदि शरभसिंहगजाः शरभोऽष्टापदः सिंहगजौ प्रतीतौ एवंविधाः पशवो न ईक्षिता न दृष्टास्तर्हि खलु निश्चितं ते जन्तवः किमु न सन्ति ?, सन्त्येवेत्यर्थः । इदमत्र तात्पर्यम्—न हि यदेकस्य कस्यचि-

प्रत्यक्षं तेनाऽपरस्यापि प्रत्यक्षेण भवितव्यम् । न हि शरभादयः सर्वस्यापि लोकस्य प्रत्यक्षाः, न च ते न सन्ति, बालादीनामपि तत्सर्वस्य प्रसिद्धत्वात्, तस्मात् अस्ति कर्म सर्वज्ञत्वेन मया प्रत्यक्षीकृतत्वाद्ध्वस्तसंशयविज्ञानवत् इति, कार्यप्रत्यक्षतया च भवतोऽपि प्रत्यक्षमेव कर्म, यथा घटादिकार्यप्रत्यक्षतया परमाणव इति । शरभेति । 'शरभः कुञ्जराऽरातिरुत्पादकोऽष्टपादऽपि' इति हैमः ॥ ११ ॥

एतेन न तावत्प्रत्यक्षं कर्म, अतीन्द्रियत्वात्, खरविषाणवदित्याद्यग्निभूत्यभिप्रायं निराकृत्याऽथानुमानमाह—

कर्मसाधनमदोऽप्यनुमानं विद्यते तदवधारय बुद्धौ ।
प्राणिनामिह फले सुखदुःखे कारणं यदिह तत् किल कर्म ॥१२॥

हे अग्निभूते ! अदोऽनन्तरं वक्ष्यमाणमनुमानमपि कर्मणः साधनं हेतुभूतं विद्यते, तत्त्वं बुद्धाववधारय । तथा हि—इह लोके प्राणिनां जीवानां सुखदुःखे फले विधेते, कस्यचित्कारणस्य कार्ये स्त इत्यर्थः । अथेह सुखादौ यत्कारणं तत्किलेत्यवधारणे कर्म, उच्यते इति शेषः । कर्मणः फले सुखदुःखे इति भावः । इदमत्र तात्पर्यम्—प्रतिप्राणिप्रसिद्धयोः सुखदुःखयोर्हेतुरस्ति, कार्यत्वादङ्कुरस्य बीजमिव । यश्चेह सुखदुःखयोर्हेतु तत्कर्म्मैवेति ॥ १२ ॥

अथ परस्याऽऽशङ्कामाविष्कृत्य परिहरति—

दृष्टमेव रमणीपरिभोगा-
द्यं सुखस्य च विषाद्यसुखस्य ।
कारणं यदि भवान्मनुते किं
तत्फले विषमताऽस्ति तथाहि ॥ १३ ॥

हे अग्निभूते ! यदि भवान् दृष्टमेव रमणीपरिभोगाद्यं अङ्गनासंयोगस्रक्चन्दनादिकं सुखस्य कारणं मनुते जानाति, च पुनर्विषादि विषकण्टकादिकं असुखस्य दुःखस्य कारणं मनुते तर्हि तयो रमणीसंयोगादिविषाद्योः सुखदुःखकारणयोः फलं कार्यम् । तत् फलं तत्र विषमता वैषमता वैषम्यं किमस्ति ? कथमस्तीत्यर्थः । तथाहि—तदेव वैषम्यं दर्शयतीत्यक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्—'स्रक्-चन्दना-ऽङ्गनादयः सुखस्य हेतवो दुःखस्य तु अहि-विष-कण्टकादय इति दृष्टमेव सुखदुःखयोर्हेतुरस्ति, किमदृष्टस्य कर्मणस्तद्धेतुत्वकल्पनेन ? नहि दृष्टपरिहारेणाऽदृष्टकल्पना कर्तुं युक्ता अतिप्रसङ्गात्'—इति त्वं मन्यसे—तदयुक्तं, कारणसाम्येऽपि कार्यवैषम्यदर्शनादिति ॥ १३ ॥

अथ फले विषमतां दर्शयति—

यद्रुगादि वनितापरिभोगे रोगहानिरपि वा विषभोगे ।
दृश्यते बहुतरं तददृष्टं कारणं किमपि कल्पयितव्यम् ॥ १४ ॥

यद्यस्मात्कारणाद्बहुतरं यथा स्यात्तथा, वनितापरिभोगे स्त्रीसम्भोगे सुखस्य कारणे सत्यपि केषाञ्चित्पुंसां रुगादि रोगोत्पत्त्यादिकं दुःखफलं दृश्यते । अपिः पुनरर्थे, वाऽथवा विषभोगे शृङ्गिकादिविषभक्षणे दुःखकारणे सत्यपि बहूनां रोगहानिः सुखफलं दृश्यते, तण्लात्कारणात् किमपि अदृष्टं कारणं कल्पयितव्यं विचार्य्यम् । एतावता नहि अदृष्टं कमपि हेतुमन्तरेणैतदुपपद्यते, स चादृष्टहेतुः कर्मैवेति भावः । अत्र विशेषाधान्यकृत्वा वैषम्यभावना एवं कृतास्ति, तथा हि—'इह यत्तुल्यसाधनयोरिष्टनन्दादिविषयसुखसाधनसमेतयोरनिष्टार्थसाधनयुक्तयोश्च द्वयोर्बहूनां वा फले सुखदुःखानुभवनलक्षणे विशेषस्तारतम्यरूपो दृश्यते । नाऽसौ अदृष्टं कमपि हेतुमन्तरेणोप-

पद्यते, कार्यत्वाद्, घटवत्, यश्च तत्र विशेषाऽऽधायकोऽदृष्टहेतुरुक्तः गौतम ! कर्मेति प्रतिपद्यस्वेति' (विशेषा० वृह० गा० १६१३, पृ० ६८९) ॥ १४ ॥

अमुमेवार्थं सूत्रकारो दृष्टान्तेन द्रढयति—

साधनेष्विह समेषु विशेषो यः फलेऽस्ति स च कारणयोगात् ।
गौरबन्धुषु समेषु य एकः श्यामलः स विषमाशनहेतोः ॥१५॥

इह लोके समेषु तुल्येषु साधनेषु सत्सु यः फले विशेषोऽस्ति, स च कारणयोगात् ज्ञेयः । यथा समेषु सर्वेषु गौरबन्धुषु गौरवर्णेषु भ्रातृषु मध्ये य एको भ्राता श्यामलः श्यामवर्णो भवति । स विषमाऽशनहेतोर्विषमभोजनकारणात् । अयमर्थः—मातापित्रोरैक्येऽपि भ्रातृषु यो वर्णभेदस्तत्र व्यवहाराद्भोजनवैषम्यमेव कारणं, यदुत गौरभ्रातृषु गर्भस्थितेषु मात्राऽन्यद्भोजनं विहितं श्यामे तु गर्भस्थितेऽन्यदिति । एवमिहापि, साधनसाम्ये यः सुखदुःखानुभवनयोर्विशेषः सोऽदृष्टकारणादेवेति मन्तव्यम् । **विषमेत्यादि** । विषमं च तदशनं च विषमाशनं तदेव हेतुस्तस्मात् ॥ १५ ॥

उक्तमेवार्थमुपसंहरन्नाह—

दृष्टहेतुकलने व्यभिचारं वीक्ष्य कल्पय तदेवमदृष्टम् ।
तच्छरीरमिह कार्मणसंज्ञं यद्भवान्तरविधानसहायम् ॥ १६ ॥

तत् तस्मात्कारणात् एवमुक्तप्रकारेण दृष्टस्य हेतोः कलने विचारणे व्यभिचारं विरोधं वीक्ष्य दृष्टाऽदृष्टं कल्पय चिन्तय, हेतुत्वेनेति शेषः । तददृष्टं इह कार्मणसंज्ञं कार्मणनामकं शरीरं ज्ञेयम् । तत् किम् ? यद्भवान्तरस्य एकस्माद्भवादन्यस्य भवस्य विधाने करणे सहायं साहा-

व्यकारि वर्तते, सहायशब्दस्य पुंस्त्वेऽपि सहाय इवाचरतीति विग्रहे आचारक्विबन्तात्पचाद्यचि क्लीबत्वं बोध्यम् । 'सहाय' इति पाठे तु न काऽप्यनुपपत्तिः ॥ १६ ॥

यद्विनान्यतनुसंभव एव स्यान्न गौतम ! विचारय चित्ते ।
मूर्तमन्तरपहाय नु मूर्तं वस्तु केन सह गच्छति योगम् ? ॥१७॥

[1] पुनर्यत् कार्मणशरीरं विना अन्यस्य भवान्तरभाविन्यास्तनोः शरीरस्य औदारिकादेः संभव उत्पत्तिरेव न स्यात् । हे गौतम ! अग्निभूते ! त्वं चित्ते विचारय, नु इति प्रश्ने, अन्तर्मध्यवर्ति मूर्तं मूर्तिमद्वस्तु कार्मणशरीराख्यं अपहाय त्यक्त्वा बाह्यं मूर्तं वस्तु औदारिकादिकं केन सह योगं संबन्धं गच्छति प्राप्नोति ? अनेनाऽनुमानान्तरं सूचितं, तच्चैवम्—"आद्यं बालशरीरं, शरीरान्तरपूर्वकं, इन्द्रियादिमत्त्वात् युवशरीरवत् इति । आदिशब्दात् सुख-दुःखित्व-प्राणादयो हेतवो ग्राह्याः । न च जन्मान्तरातीतशरीरपूर्वकमेवेदमिति शक्यते वक्तुं, तस्यापान्तरालगतावसत्त्वेन तत्पूर्वकत्वाऽनुपपत्तेः । नचाऽशरीरिणो नियतगर्भ-देश-स्थानप्राप्तिपूर्वकशरीरग्रहो युज्यते, नियामककारणाभावात्, नाऽपि स्वभावो नियामकस्तस्य निराकरिष्यमाणत्वात्, यच्चेह बालशरीरस्य पूर्वं शरीरान्तरं तत्कर्मेति मन्तव्यम्, कार्मणशरीरमित्यर्थः ।" इत्यादि विशेषावश्यकवृत्तौ (पृ० ६९०)॥१७॥

अनुमानान्तरमपि तत्सिद्धये प्राह—

या च काचन सचेतनक्लृप्ता
सा क्रिया फलवती न हता चेत् ।

---

१ प्रायशः विशेषावश्यकबृहद्वृत्त्यनुसारेणाऽयं पाठः ।

तच्छुभाऽशुभकृतेः फलमेत-
त्कर्म सिध्यति कृषेरिव धान्यम् ॥ १८ ॥

च पुनः सह चेतनया वर्तते इति सचेतनो जीवस्तेन कृता आरब्धा या काचन क्रिया सा फलवती, सफला दृष्टेति शेषः । चेयदि हता न भवेत् केनचिद्दोषेण विनष्टा न भवेदित्यर्थः । किं तत्फलमित्यत आह—तदेतत् शुभाऽशुभकृतेः शुभाऽशुभक्रियायाः फलं कर्म इह सिध्यति । कस्याः किमिव ? कृषेर्धान्यमिव, यथा कृषिक्रियायाः फलं धान्यं तथेदमपीत्यर्थः । अयं भावः—इह दानादिक्रियाणां फलमस्ति, सचेतनारब्धक्रियाणां फलसद्भावदर्शनात्, यथा कृषिक्रियायाः, इह या सचेतनस्य क्रिया तस्याः फलं दृष्टं, यथा कृष्यादिक्रियायाः । सचेतनारब्धाश्च दानादिक्रियाः, तस्मात्फलवत्यः, यच्च तासां फलं तत्कर्म । या तु निष्फला क्रिया सा सचेतनारब्धाऽपि न भवति, यथा परमाण्वादिक्रिया । स्यादेतत्—'अनैकान्तिकोऽयं हेतुः, चेतनारब्धानामपि कासांचित्कृष्यादिक्रियाणां निष्फलत्वदर्शनात्'—तदयुक्तं, फलवत्त्वाभिप्रायेणैव तदारम्भात्, क्वचिन्निष्फलत्वमपि दृश्यते, तत्सम्यग्ज्ञानाद्यभावेन सामग्रीवैकल्याद्द्रष्टव्यम् । मनःशुद्ध्यादिसामग्रीविकलतया दानादिक्रिया अपि निष्फला इष्यन्त एवेत्यदोषः । शुभेत्यादि । शुभया युक्ताऽशुभा शुभाऽशुभा, सा चाऽसौ कृतिश्चेति विग्रहः ॥ १८ ॥

उक्तमेवार्थं द्रढयति—

तत्क्रियाप्रहृदयजामधिकुर्वत्
साधयेत्खलु फले सुखदुःखे ।
एवमेव सकलाऽपि फलाढ्या
स्यात्क्रिया तदिह सिध्यति कर्म ॥ १९ ॥

जीवस्येति शेषः, कस्माद्धेतोः स्यात्?, न कुतोऽपीति भावः। तस्माद्भवाऽटनहेतुभूतं शुभाऽशुभक्रियाजन्यमदृष्टं कर्मैव प्रतिपद्यस्वेति तात्पर्यम्॥ २१॥

पुनः पराऽऽशङ्कामाविष्कृत्य निराकुर्वन्नाह—

सा क्रिया फलतु यत्फललिप्सा
मा परेति सफलाः सकलाः किम्?।
नैवमिच्छति न बन्धनबाधां
चौर्य्यकृत्किमु लभेत फलं तत्?[1]॥ २२॥

यत्फललिप्सा यस्याः क्रियायाः फलस्य लब्धुमिच्छा भवेत् सा क्रिया फलतु सफला भवतु परं अपराऽन्या यस्याः फललिप्सा नास्ति सा क्रिया मा फलतु इत्यतः सकलाः समस्ताः क्रियाः सफलाः फलवत्यः किं कथमुक्ता?' इत्यर्थः। एवमिति। हे गौतम! एवं चेन्मन्यसे तर्हि चौर्य्यं करोतीति चौर्यकृन्मनुष्यो बन्धनस्य बाधां पीडां नेच्छति, परं तत् चौर्यक्रियाजन्यं बन्धनबाधादिकं फलं किमु न लभेत न प्राप्नुयात्? प्राप्नुयादेवेति भावः। यदुक्तं विशेषावश्यकवृत्तौ—'ननु दानादिक्रियाऽनुष्ठातृभिर्यददृष्टं धर्मलक्षणं फलमाशंसितं तत्तेषां भवतु, यैस्तु कृषि-हिंसादिक्रियाकर्तृभिरदृष्टमधर्मरूपं फलं नाशंसितं, तत्तेषां कथं भवति?' इति चेत्—तदयुक्तं, न ह्यविकलं कारणं स्वकार्यं जनयत् कस्याप्याशंसामपेक्षते किन्त्वऽविकलकारणतया स्वकार्यं जनयत्येव, इत्यादिबहुविस्तरः, स च तत्र (पृ० ६९२ तः आरभ्य) एवावगन्तव्यः॥ २२॥

---

[1] इह 'नैवमिच्छति न बन्धनस्य तु बाधां चौर्यकृत् किमु लभेत तत्' इति काशीमुद्रितपाठोऽर्थवैकल्याच्छन्दोभङ्गदोषदुष्टत्वाच्च प्रामादिकः।

तत्कर्म उदयाज्जाता उदयजा तां स्वोदयजनितां क्रियां अधिकुर्वत् अधिकृतां कुर्वत्, अग्रगामिनीं कुर्वदित्यर्थः । खलु निश्चितं सुख-दुःखे फले साधयेत् । एवमेव अमुना प्रकारेणैव सकला समस्ताऽपि क्रिया फलेन आढ्या समृद्धा फलाऽऽढ्या फलवती स्यात् भवेत्, तत्तस्मात्कारणादिह कर्म सिध्यति ॥ १९ ॥

अथ पराऽभिप्रायमाविष्कुर्वन्नाह—

कीर्त्तिलाभफलमस्त्यथ दाने मांसभोजनफलं पशुघाते ।
धान्यवद्भवतु दृष्टफलैव सा क्रिया कथमदृष्टविकल्पः ? ॥२०॥

अथेति प्रतिज्ञायां, दाने दानादिविषये कीर्त्तेर्यशसो लाभ एव फलमस्ति । तथा पशूनाम् अज-मृगादीनां घाते विनाशे मांसभोजनमेव फलमस्ति, न तु अदृष्टे पुण्यपापकर्मणि इति भावः । ततश्च सा क्रिया धान्यवत् कृषेर्धान्यमिव दृष्टं फलं यस्याः सा दृष्टफलैव भवतु । अदृष्टस्य विकल्पो विमर्शः कथं ?, किमर्थं क्रियते इत्यर्थः । अयं भावः—कृष्यादिक्रियाः दृष्टधान्याद्यवाप्तिफला दृष्टा, अतो दानादिक्रियाणामपि दृष्टमेव कीर्त्तिलाभादिकं फलं भविष्यति, किमदृष्टकर्मलक्षण(फल)साधनेनेति ॥ २० ॥

अथ पराऽभिप्रायं निराकुर्वन्नाह—

मा ग्रहीर्द्विजवरेति विवादं यत्तु दृष्टमिह तच्च विनष्टम् ।
स्याद्भवाऽटनमहो ! वद कस्माच्चेन्नहीच्छसि फलं तददृष्टम् ॥२१॥

हे द्विजवर ! ब्राह्मणश्रेष्ठ ! अग्निभूते ! त्वं इत्युक्तनीत्या विरुद्धो वादो विवादस्तं मा ग्रहीर्मा गृहाण । कथमित्याह—यत्तु दृष्टं फलं तच्च इहैव विनष्टं, चेद्यदि तत् अदृष्टं कर्मलक्षणं फलं त्वं नहि इच्छसि तर्हि अहो अग्निभूते ! त्वं वद कथय—भवाऽटनं परभवे गमनं,

जीवस्येति शेषः, कस्माद्धेतोः स्यात् ?, न कुतोऽपीति भावः । तस्माद्भवाऽटनहेतुभूतं शुभाऽशुभक्रियाजन्यमदृष्टं कर्मैव प्रतिपद्यस्वेति तात्पर्यम् ॥ २१ ॥

पुनः पराऽऽशङ्कामाविष्कृत्य निराकुर्वन्नाह—

सा क्रिया फलतु यत्फललिप्सा
मा परेति सफलाः सकलाः किम् ? ।
नैवमिच्छति न बन्धनबाधां
चौर्य्यकृत्किमु लभेत फलं तत् ? ॥ २२ ॥[1]

यत्फललिप्सा यस्याः क्रियायाः फलस्य लब्धुमिच्छा भवेत् सा क्रिया फलतु सफला भवतु परं अपराऽन्या यस्याः फललिप्सा नास्ति सा क्रिया मा फलतु इत्यतः सकलाः समस्ताः क्रियाः सफलाः फलवत्यः किं कथमुक्ता ?' इत्यर्थः । एवमिति । हे गौतम ! एवं चेन्मन्यसे तर्हि चौर्य्यं करोतीति चौर्यकृन्मनुष्यो बन्धनस्य बाधां पीडां नेच्छति, परं तत् चौर्यक्रियाजन्यं बन्धनबाधादिकं फलं किमु न लभेत न प्राप्नुयात् ? प्राप्नुयादेवेति भावः । यदुक्तं विशेषावश्यकवृत्तौ—'ननु दानादिक्रियाऽनुष्ठातृभिर्यददृष्टं धर्मलक्षणं फलमाशंसितं तत्तेषां भवतु, यैस्तु कृषि-हिंसादिक्रियाकर्तृभिरदृष्टमधर्मरूपं फलं नाशंसितं, तत्तेषां कथं भवति ?' इति चेत्—तदयुक्तं, न ह्यविकलं कारणं स्वकार्यं जनयत् कस्याप्याशंसामपेक्षते किन्त्वऽविकलकारणतया स्वकार्यं जनयत्येव; इत्यादिबहुविस्तरः, स च तत्र (पृ० ६९२ तः आरभ्य) एवावगन्तव्यः ॥ २२ ॥

१ इह 'नैवमिच्छति न बन्धनस्य तु बाधां चौर्यकृत् किमु लभेत् तत्' इति काशीमुद्रितपाठोऽयंचैकल्याच्छन्दोभङ्गदोषदुष्टत्वाच्च प्रामादिकः ।

ननु प्रायेण लोको दृष्टमात्रफलार्थेव कृष्याद्यसत्क्रियासु प्रवर्तते; अदृष्टफलासु पुनर्दानादिसत्क्रियासु कतिपयमात्र एव लोकः प्रवर्तते, न बहुः । ततश्च हिंसादीनामशुभक्रियाणामदृष्टफलाभावात् शुभक्रियाणामपि दानादीनामदृष्टफलाऽभावो भविष्यतीति पराऽभिप्रायमाशङ्क्याह—

सत्क्रियाकरणमस्ति सदाऽल्पं
दृश्यते हि बहुलं विपरीतम् ।
यत्र या सकलकारणयोगोऽ-
निच्छतोऽपि खलु सा फलदा स्यात् ॥ २३ ॥

सत्क्रियाया दानादिशुभक्रियायाः करणं विधानं सदाऽल्पमेवाऽस्ति, पुंसामिति शेषः । पुण्यवद्भिरेव तद्विधानात्, तेषां चाल्पत्वादिति भावः । विपरीतं कृष्याद्यशुभक्रियाकरणं हि बहुलं प्रचुरं दृश्यते, तत्कर्तॄणामल्पपुण्यजन्तूनां बहुत्वात् । या पुनर्यत्र यस्यां क्रियायां सकलकारणानां योगः सम्बन्धो भवेत् खलु निश्चितं सा क्रिया अनिच्छतोऽपि फलमवाञ्छतोऽपि जन्तोः फलदा स्यात् । अयं भावः—यद्यपि कृषि-हिंसादिक्रियाकर्तारो दृष्टफलमात्रार्थमेव ताः समारभन्ते नाऽधर्मार्थं तथाऽप्यधर्मलक्षणं पापरूपमदृष्टफलमश्नुवते एव, अनन्तसंसारिजीवाऽन्यथानुपपत्तेः, ते हिंसादिक्रियानिमित्तमनभिलषितमप्यदृष्टं पापलक्षणं फलं बध्वाऽनन्तं संसारं परिभ्रमन्तोऽनन्ता इह तिष्ठन्ति । दानादिक्रियानुष्ठातारस्तु स्वल्पाः, अदृष्टं धर्मरूपं फलमासाद्य क्रमेण मुच्यन्त इति ॥ २३ ॥

पुनः पराभिप्रायमाशङ्क्य भगवानाह—

कर्म सिद्ध्यतु परं तददष्टं मूर्तमित्यविमलं प्रतिभाति ।
मा विधेहि मनसेति विमर्शं भूय एव विपुलां शृणु युक्तिम् ॥२४॥

सुख-दुःख-शरीरादिसाधनं कर्म सिध्यतु, परं तददृष्टं दृग्विषयाऽतीतं कर्म मूर्तं मूर्तिमत् इत्येवं भवदुच्यमानं अविमलं प्रतिभाति, निर्मलं न प्रतिभासते इत्यर्थः । अयं भावः—'मूर्तमेव कर्म, तत्कार्यस्य शरीरादेर्मूर्तत्वात्, इह यद्यत्कार्यं मूर्तं तस्य तस्य कारणमपि मूर्तम्, यथा घटस्य परमाणवः, यथाऽमूर्तं कार्यं न तस्य कारणं मूर्तं, यथा ज्ञानस्यात्मेति, समवायिकारणं चेहाधिक्रियते, न निमित्तकारणभूता तपा-ऽऽलोकादय' इति—युक्त्या भवद्भिः कर्मणो मूर्तत्वमुच्यते परमेतन्निश्चितं न प्रतिभाति, यतः सुख-दुःखादयोऽपि कर्मणः कार्यम् । अतस्तेषाममूर्तत्वात्कर्मणोऽमूर्तत्वमपि प्राप्नोति । न हि मूर्तादमूर्तप्रसवो युज्यते । न चैकस्य मूर्तत्वममूर्तत्वं च युक्तं, विरुद्धत्वात् । इति । हे अग्निभूते ! इत्येवं मनसा विमर्शं वितर्कं मा विधेहि मा कुरु । भूय-एवेति । अत्र एवशब्दोऽप्यर्थे, भूयोऽपि पुनरपि विपुलां विस्तीर्णां युक्तिं शृणु, भूय एवेति कथनादेका युक्तिरत्राऽनुक्ताऽप्यूह्या । तथाहि—अत एवाऽस्माभिरत्र समवायिकारणमधिक्रियते न निमित्तकारणम्, सुखादीनां चात्मधर्मत्वादात्मैव समवायिकारणम् । कर्म पुनस्तेषामन्नपानादिविषादिवन्निमित्तकारणमेवेति न कश्चिद्दोषः ॥२४॥

अथ कर्मणो मूर्तत्वसाधनाय युक्त्यन्तराण्यप्याऽऽह—

वेद्यते सुखमथाप्यसुखं वा भोजनादिदहनाद्यनुषङ्गात् ।
मूर्तताऽत्र यदि कर्मणि साऽपि प्रस्फुटा तनुतया न हि दृष्टा ॥२५

भोजनादेरशनादेर्दहनादेरग्न्यादेश्च अनुषङ्गः संसर्गः, तस्मात्सुखं अथापि असुखं दुःखं वा वेद्यतेऽनुभूयते प्राणिभिः । अथाऽत्र सुखा-

दिकारणे भोजनादौ यदि मूर्त्तताऽस्ति तर्हि कर्मण्यपि सा मूर्त्तताऽस्त्येवेति शेषः । यद्येवं तर्हि भोजनादाविव कर्मण्यपि सा स्फुटा कथं नोपलभ्यते ? इत्याशङ्क्याह—अस्फुटेत्यादि । तनुतया आन्तरशरीरतया सूक्ष्मतया वा कर्मणि मूर्त्तता अस्फुटा अप्रकटा न हि दृष्टा, भवादृशैरिति शेषः । इदमत्र तात्पर्यम्—मूर्त्तं कर्म्म, तत्सम्बन्धे सुखादिसंवित्तेः, इह यत्सम्बन्धे सुखादि संवेद्यते तन्मूर्त्तं दृष्टम्, यथा अशनाद्याऽऽहारः, यच्चाऽमूर्त्तं न तत्सम्बन्धे सुखादिसंविदस्ति, यथाऽऽकाशसम्बन्धे, संवेद्यते च तत्सम्बन्धे सुखादि, तस्मान्मूर्त्तं कर्म्म इति । तथा यत्सम्बन्धे वेदनोद्भवो भवति तन्मूर्त्तं दृष्टं यथाऽग्निः, भवति च कर्म्मसम्बन्धे वेदनोद्भवः, तस्मात्तन्मूर्त्तमिति ॥ २५ ॥

यद्यदात्मगुणधर्मविभेदे
बाह्यवस्तुबलतो बलधारि ।
तत्तदाऽऽर्य ! परिभावय मूर्त्तं
पश्य कुम्भमपि तैल-घृताक्तम् ॥ २६ ॥

आत्मनो गुणानां ज्ञानादीनां च तद्धर्माणां विभेदेऽतिरिक्तत्वे सति यद्यद्वस्तु बाह्यस्य वस्तुनो बलतो बलधारि भवति तत्तद्वस्तु हे आर्य ! अग्निभूते ! त्वं मूर्त्तं परिभावय चिन्तय । अपि पुनरत्र निदर्शनं, तैल-घृताभ्यां अक्तं म्रक्षितं कुम्भं घटं पश्येत्यक्षरार्थः । भावार्थः पुनरयम्—इह यस्याऽनात्मविज्ञानादेः सतो बाह्येन वस्तुना बलमाधीयते तन्मूर्त्तं दृष्टम्, यथा स्नेहादिना आधीयमानबलो घटः, आधीयते बाह्यैः मिथ्यात्वादिहेतुभूतैर्वस्तुभिः कर्म्मणि उपचयलक्षणं बलं, तस्मात्तन्मूर्त्तमिति ॥ २६ ॥

यद्यदात्मगुणधर्मविभेदे भिन्नभिन्नपरिणाममवाप्तम् ।
तत्तदार्य ! परिभावय मूर्तं क्षीरमाश्रय निदर्शनमत्र ॥ २७ ॥

आत्मगुणधर्मविभेदे आत्मगुणधर्मव्यतिरिक्तत्वे सति यद्यद्वस्तु भिन्नं भिन्नपरिणामं अवाप्तं प्राप्तं तत्तत् हे आर्य ! मूर्तं परिभावय । अत्रार्थे निदर्शनं दृष्टान्तं क्षीरं दुग्धं आश्रय अङ्गीकुरु । अयं भावः—मूर्तं कर्म्म, आत्मादिव्यतिरिक्तत्वे सति परिणामित्वात्, क्षीरमिवेति ॥ २७ ॥

योग्यतापरिणतं खलु मूर्तं दृश्यतेऽपरमदृश्यमवेहि ।
ज्ञातमत्र पवनद्व्यणुकादि स्पष्टमेवमिह भावय कर्म ॥ २८ ॥

खलु निश्चितं, योग्यतया परिणतं मूर्तं वस्तु दृश्यते प्रत्यक्षमुपलभ्यते घटपटादिवत्, अपरं अन्यत् यद्योग्यतापरिणतं न भवति तद्वस्तु अदृश्यमप्रत्यक्षमवेहि जानीहि । अत्रार्थे पवनो वायुर्द्व्यणुकः परमाणुद्वयनिष्पन्नः स्कन्धस्तदादि ज्ञातं दृष्टान्तः, पवनादेर्मूर्त्तत्वेऽपि घटाद्यपेक्षयाऽतिसूक्ष्मत्वेन दर्शनयोग्यपरिणतेरभावाददृश्यत्वमित्यर्थः । एवं पवनादिवदिह लोके कर्माऽपि स्पष्टं निःसन्देहं भावय विचिन्तय । एतेन कर्मणो मूर्तत्वं साधितं इह विशेषावश्यकवृत्तौ वेदोक्तद्वारेणाऽपि कर्म साधितमस्ति, तदधिकारश्च बहुत्वेन सूत्रकृताऽनुक्तत्वादिहापि न लिख्यते, विशेषार्थिना तत (गा० १६४० पृ० ७०० १८ तः आरभ्य) एवावसेयः ॥ २८ ॥

इत्थं भगवताभिहितेऽग्निभूतिः किं कृतवानित्याह—

इत्थमात्महृदि संशयभङ्गे
सर्ववेदिनमिनं प्रतिपद्य ।

खण्डिकैः सह शिवोचितमार्गे
सोऽग्निभूतिरपि दीक्षित आसीत् ॥ २९ ॥

इत्थमुक्तप्रकारेण आत्महृदि स्वहृदये संशयभङ्गे सन्देहनिवृत्तौ सत्यां इनं श्रीवीरस्वामिनं सर्ववेदिनं सर्वज्ञं प्रतिपद्य ज्ञात्वा सोऽग्निभूतिरपि खण्डिकैश्छात्रैः सह शिवोचिते मुक्तियोग्ये मार्गे जैने इत्यर्थः । दीक्षित आसीत् प्रभुपार्श्वे दीक्षां जग्राहेत्यर्थः ॥ २९ ॥

॥ इति अग्निभूतेर्दीक्षाग्रहणवर्णनम् ॥

अथ वायुभूतेस्तदाह—

वायुभूतिरथ तल्लघुबन्धुर्भ्रातृयुग्ममपि दीक्षितमेवम् ।
मुक्तचारवचनादधिगत्य स्वे मनस्यपि भृशं विममर्श ॥ ३० ॥

अथानन्तरं तस्याग्निभूतेर्लघुबन्धुर्लघुभ्राता वायुभूतिरपि, मुक्तः प्रभुपार्श्वे स्वयं महितो यश्चारो हेरिकस्तस्य वचनादेवमुक्तप्रकारेण भ्रातृयुग्ममपि दीक्षितं अधिगत्य ज्ञात्वा स्वे मनसि स्वकीये हृदये भृशमत्यर्थं विममर्श विचिन्तयामास । अत्र चतुर्थपादस्थोऽपिशब्दः अन्वययोजनायां प्रथमपादस्थकर्तृपदाग्रे योज्यः । अधिगत्येत्यत्र 'वा ल्यपि' (६।४।३८) इति वैकल्पिकोऽनुनासिकलोपः ॥ ३० ॥

किं विममर्शेत्याह—

गन्धहस्त्युपमयोपमितौ यौ तावुभावपि बुधौ मम बन्धू ।
यं गुरुं विनयतः प्रतिपन्नौ श्रेयसे भवतु मे स उपास्यः ॥३१॥

यस्य गन्धेन सर्वेऽपि हस्तिनो निर्मदा भवन्ति स गन्धहस्तीत्युच्यते । यौ परवादिमदनिवारणे गन्धहस्तिना उपमितौ युक्तौ आस्तामिति शेषः । तौ उभौ अपि बुधौ पण्डितौ मम बन्धू भ्रातरौ

विनयतो विनयेन यं गुरुं प्रतिपन्नौ अङ्गीकृतवन्तौ स एव गुरुः श्रीवीरप्रभुर्मे ममाऽपि उपास्यः सेवनीयः सन् श्रेयसे कल्याणाय भवतु ॥ ३१ ॥

मन्मनोमलविशोधनमद्यो-
पेत्य तं जिनपतिं विदधामि ।
चिन्तयन्निति स नाथसमीपे
पञ्चखण्डिकशतैः सहितोऽगात् ॥ ३२ ॥

तं जिनपतिं उपेत्य समीपे गत्वाऽद्य मम मनसो मलस्य विशोधनं विदधामि कुर्वे इति चिन्तयन् स वायुभूतिः पञ्चखण्डिकशतैः पञ्चशैतच्छात्रैः सहितो नाथसमीपे प्रभुपार्श्वेऽगात् गच्छति स्म ॥ ३२ ॥

आजुहाव विभुरप्यमुमेवं
किं ब्रवीषि न समीरणभूते ! ।
यां श्रुताध्ययनतो विचिकित्सा-
मादधासि तनुजीवविभेदे ? ॥ ३३ ॥

विभुः श्रीवर्द्धमानप्रभुरपि अमुं वायुभूतिं एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण आजुहाव आह्वयति स्म, जल्पयति स्मेति यावत् । कथमित्याह—हे समीरणभूते ! वायुभूते ! श्रुताध्ययनतो वेदशास्त्राध्ययनात् तनु-जीवयोर्विभेदे देह-जीवयोर्भिन्नत्वे यां विचिकित्सां संशयं आदधासि धारयसि तां किं न ब्रवीषि ? ॥ ३३ ॥

अथैवमुक्त्वा भगवान् स्वयमेव तत्संशयं प्रादुष्कुर्वन्नाह—

यत्सुराङ्गसमवायसमुत्था
क्षीबता न परतोऽस्त्यति तद्वत् ।

चेतना क्षिति-जला-ऽनल-वायु-
व्यूहजेयमिति चेतसि वेत्सि ॥ ३४ ॥

यद्यस्मात्कारणात् यथा सुराया मदिराया अङ्गानि अवयवभूतानि कारणानि तेषां यः समवायः समुदायो धातकीकुसुम-गुडादिकस्तस्मात् समुत्था उत्पन्ना क्षीबता मत्तता न परतः अग्रतः नान्यत्र क्वापि गच्छति कियत्कालं स्थित्वा विनश्यतीत्यर्थः, तद्वत् क्षिति-जला-ऽनल-वायूनां पृथिव्यप्तेजोवायूनां यो व्यूहः समूहस्तस्माज्जाता क्षिति-जलाऽनलवायुव्यूहजा इयं चेतनाऽपि न परत्र गच्छति इति त्वं चेतसि चित्ते वेत्सि जानासि । अयं भावः—यथा च मद्याङ्गेषु मद-भावः प्रत्येकावस्थायामदृष्टोऽपि तत्समुदाये भूत्वा ततः कियन्तमपि कालं स्थित्वा कालान्तरे तथाविधसामग्रीवशात् कुतश्चिद्विनश्यति, तथा पृथिव्यादिभूतगणेऽपि प्रत्येकमसत् चैतन्यं भूत्वा ततः कालान्तरे विनश्यति, ततो निश्चीयते भूतधर्म एव चैतन्यं, तस्मात्स एव जीवः तदेव च शरीरमिति त्वं जानासीति ॥ ३४ ॥

वाक्यान्तरेषु पुनः शरीराद्भिन्नो जीवः श्रूयते तदाह—

स्वर्गकामुकजनस्तु यजेतेत्यादिवाचि तनु-जीवविवेकः ।
बोध्यते पुनरतः सद-सत्किं ? स्वास्थ्यमत्र लभसे न मुधैव ॥ ३५ ॥

तु इति विशेषे, स्वर्गकामुकः स्वर्गाभिलाषी जनो यजेत यज्ञं कुर्यात् इत्यादिवाचि एवमादिकायां वाण्यां पुनः तनु-जीवयोर्विवेको देहाज्जीवस्य भिन्नत्वमेव बोध्यते ज्ञाप्यते, वेदेनेति शेषः । आदि-शब्दात् 'न ह वै सशरीरस्य प्रियाऽप्रिययोरपहतिरस्ति अशरीरं वा वसन्तं प्रियाऽप्रिये न स्पृशतः' इत्यादिवेदवाक्यपरिग्रहः । अतोऽस्मा-

त्कारणात् अनयोर्मध्ये किं सत्? किमसत्? इत्थं मनसि संशयं बिभ्राणस्त्वं हे वायुभूते! अत्राऽस्मिन्नर्थे मुधैव वृथैव स्वास्थ्यं चित्तस्थैर्यं न लभसे, एतत्संशयस्य कर्तुमयुक्तत्वादिति भावः ॥ ३५ ॥

अत्र भगवानुत्तरमाह—

या च शक्तिरसती प्रतिवस्तु सा कुतः समुदये समुदेति? ।
चेदिदं न, सिकतासमवाये किं न तैलजननं जगतीष्टम्? ॥३६॥

या च शक्तिः प्रतिवस्तु असती वस्तु वस्तु प्रति अविद्यमाना, सा समुदये वस्तुसमूहे कुतः समुदेति कथं प्रादुर्भवति?, न समुदेत्येवेत्यर्थः । चेद्यदि इदं प्रागुक्तं न स्यात्; एतावताऽवयवेष्वविद्यमानाऽपि शक्तिः समुदाये चेत्प्रादुर्भवति तर्हि जगति लोके सिकतासमवाये वालुकासमूहे तैलजननं तैलोत्पत्तिः किं न इष्टम्?, कथं न इष्यते सेत्यर्थः । अयं भावः—न भूतसमुदायमात्रप्रभवा चेतना, भूतप्रत्येकावस्थायां तस्या अंशतोऽपि सर्वथानुपलब्धेः, यथा प्रत्येकं सर्वथाऽनुपलम्भाद्रेणुकणसमुदायप्रभवं तैलं न भवति । एवं चात्र प्रयोगः—"यद्येषु[1] पृथगवस्थायां सर्वथा नोपलभ्यते तत्तेषां समुदायेऽपि न भवति, यथा सिकताकणसमुदाये तैलम् । यत्तु तेषां समुदाये भवति, न तस्य प्र(पृ)थग्व्यवस्थितेषु तेषु सर्वथाऽनुपलम्भः, यथा एकैकतिलावस्थायां तैलस्य, सर्वथा नोपलभ्यते च भूतेषु प्रत्येकावस्थायां चेतना, तस्मान्नासौ तत्समुदायमात्रप्रभवा, किंतु अर्थापत्तेरेव अन्यत्किमपि जीवलक्षणं कारणान्तरं भूतसमुदायातिरिक्तं तत्र सद्घटितं यत इयं[2] प्रभवतीति प्रतिपत्तव्यमिति ॥ ३६ ॥

१ विशेषा० वृहद्वृत्त्यनुसारेणाऽयं पाठः (पृ० ७०७ गा० १६५२) ।
२ चेतना ।

ननु 'प्रत्येकावस्थायां सर्वथानुपलम्भात्' इति अनैकान्तिकोऽयं हेतुः प्रत्येकावस्थायां सर्वथाऽनुपलब्धस्यापि मदस्य मद्याङ्गसमुदाये दर्शनादित्याशङ्क्याह—

शक्तिरन्ववयवं मदिराया अस्ति चेत्समुदिता प्रबला स्यात् ।
चेन्न, तर्ह्यनियतं मदिराङ्गं योज्यते न किमु मादसुखाप्त्यै ? ॥३७॥

मदिरायाः शक्तिः अन्ववयवं प्रत्यवयवं चेदस्ति तर्हि समुदिता अवयवसमुदायस्था सा प्रबला स्यात्, चेद्यदि एवं न भवेत् तर्हि मादसुखस्य आप्त्यै मदसुखस्य प्राप्तये अनियतं अनिश्चितं धातकीकुसुमादतिरिक्तं यत्किंचित् भस्मगोमयादि मदिराया अङ्गं अवयवभूतं कारणवृन्दं किमु न योज्यते कथं न संयुक्तीक्रियते ? । एतावता धातकीकुसुमादिभिर्नियतैरेव कारणैः संयोजितैर्मदशक्तिरुत्पद्यते न त्वनियतैः, धातकीकुसुमादिषु पुनः पृथक् न सर्वथा मदो नास्ति, अपि तु या च यावती च मदमात्रा पृथगपि तेष्वस्त्येव, ततो नानैकान्तिकता हेतोरिति । मदि(दय)ति मदः स एव मादः प्रज्ञादित्वादण् ॥३७॥

भूतेष्वपि एवं भविष्यतीत्याशङ्कामाविष्कृत्य परिहरन्नाह—

मात्रया क्षिति-जलादिषु विष्वक् चेतनाऽस्तु सकला समवाये ।
मा ग्रहीरिति मतिं, मृतदेहे लेशतोऽपि लभसे न कथं ताम् ? ॥३८

मात्रयाऽल्पेन अंशेन क्षिति-जलादिषु पृथिव्यप्तेजोवायुलक्षणभूतेषु विष्वक् (? पृथक्) पृथक् चेतनाऽस्ति, सा चेतना समवाये भूतसमुदाये सकला समस्ताऽस्तु । अयमर्थः—व्यस्तेष्वपि भूतेषु चैतन्यमस्ति, तत्समुदाये तद्दर्शनात्, मद्याङ्गेषु मदवदिति, यथा मद्याङ्गेषु मदः पृथक् स्वल्पत्वान्नातिस्पष्टः तत्समुदाये तु साकल्यमेति तथा

भूतेष्वपि पृथगवस्थायामणीयसी चेतना तत्समुदाये तु भूयसीयम् हे वायुभूते ! इति मतिं एवंप्रकारां बुद्धिं मा ग्रहीर्मा अङ्गीकुरु भूतसमुदाये चेतनाया दर्शनात्, इति हेतोरसिद्धत्वात् । तथा हि—यदि भूतसमुदायमात्रधर्मश्चेतना भवेत् तदा मृतदेहे मृतशरीरे लेशतोऽपि तां चेतनां त्वं कथं न लभसे प्राप्नोषि ?, भूतसमुदायस्य तत्रापि सत्त्वात्, ततश्च तत्र चेतनाऽनुपलम्भात् न भूतसमुदायमात्रधर्मश्चेतना इति, तथा चासिद्ध एवायं हेतुरिति भावः ॥ ३८ ॥

अथ वायु-वह्न्योस्तदानीं तत्राभावात्तदनुपलम्भ इत्याशङ्कामाविष्कृत्य परिहरन्नाह—

वायु-वह्निविकले मृतदेहे सा न चास्ति मतिमित्यपि मा धाः ।
श्रोत्रतो नलिकया नय पूर्त्तिं तत्र तौ यदि भवेद्भवदिष्टम् ॥३९॥

वायु-वह्निभ्यां विकले रहिते मृतदेहे सा चेतना न चास्ति न विद्यते इत्यपि मतिं त्वं मा धाः मा धारय । यदि वायु-वह्निसंयोगे भवता इष्टं भवदिष्टं चैतन्यं भवेत् तर्हि तत्र मृतदेहे श्रोत्रतः कर्णछिद्रद्वारतस्तौ वाय्वग्नी नलिकया सुषिरोपकरणविशेषेण पूर्त्तिं पूरणं नय प्रापय पूरयेत्यर्थः । एतावता नलिकादिप्रयोगतस्तत्र तत्सत्त्वेऽपि चैतन्यानुपलम्भाद्य भूतधर्मश्चैतन्यमिति भावः ॥ ३९ ॥

अथ विशिष्टतेजो-ऽवायभावादनुपलम्भ इत्याशङ्कां प्रादुष्कृत्य प्रतिविधातुमाह—

चेद्विशिष्टपवनाऽनलयोगो
नास्ति तत्र, ननु कुतो न विशिष्टौ ? ।
कारणादपि कुतो यदि तत्, किं
देहवर्त्तिनमृतेऽपि न जीवम् ? ॥ ४० ॥

तत्र मृतदेहे विशिष्टयोः पवनाऽनलयोर्वाय्वग्न्योर्योगः सम्बन्धो नास्ति इति चेदाशङ्कसे तर्हि नु इति प्रश्ने, तत्र तौ विशिष्टौ कुतो न ?, यदि त्वं ब्रूषे कुतोऽपि कारणात्तत्र तौ विशिष्टौ न स्तः तर्हि देहवर्तिनं शरीरस्थं जीवं चेतनमेव किं न उपैषि प्राप्नोषि ?, कथं नाङ्गीकरोषीत्यर्थः । किं नामाऽऽत्मसत्त्वं विहायाऽन्यत्त्वद्वैशिष्ट्यं, ननु संज्ञान्तरेणात्मसत्त्वमेव त्वयाऽपि प्रतिपादितं स्यादिति भावः ॥ ४० ॥

अथ भूतसमुदायातिरिक्तात्मसाधकानुमानसद्भावान्न भूतधर्मश्चैतन्यमिति ज्ञापयितुं तदात्मसाधकमनुमानमाह—

भौतिकेन्द्रियविभावितमर्थं कः स्मरेद्यदि भवेन्न हि जीवः ? ।
किं गवाक्षविवरैरनुभूतं संस्मरेद्गृहमथो पुरुषो वा ? ॥ ४१ ॥

हे वायुभूते ! देहाद्भिन्नो देहमध्यस्थो यदि जीव आत्मा न हि भवेत् तर्हि भूतेषु भवानि भौतिकानि यानि इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि तैः करणभूतैर्विभावितं प्रकाशितं साक्षादनुभूतमिति यावत् । अर्थं घटादिकं कः स्मरेत् ? न कोऽपीत्यर्थः । अत्र दृष्टान्तमाह—यथा गवाक्षविवरैर्गवाक्षच्छिद्रैरनुभूतमर्थं किं गृहमालयः संस्मरेत् ? अथो वाऽथवा पुरुषस्तन्मध्यस्थो मनुष्यः संस्मरेत् ?, एतावता तत्र पुरुष एव स्मरेन्न तु गृहं, तद्वदत्रापि जीव एव संस्मर्ता न तु देह इत्यर्थः ॥ ४१ ॥

अमुमेवाऽर्थं पुनः स्पष्टतरमाह—

मन्दिरे क्वचन पञ्चगवाक्षे भिन्नभिन्नकृतिकारकमेकम् ।
चेत्प्रपश्यसि नरं गृहनाथमेवमात्मनि तनावपि पश्य ॥ ४२ ॥

---

१ विशिष्टवेनौवायुरूपेण ।

पञ्च गवाक्षा यस्मिंस्तत् पञ्चगवाक्षं तस्मिन् कचन कस्मिंश्चिन्मन्दिरे गृहे भिन्नभिन्नकृतीनां रूपदर्शन-रसास्वादन-शब्दश्रवणादिभिन्नभिन्न-क्रियाणां कारकं कर्तारं एकं गृहनाथं गृहस्वामिनं नरं चेद्यदि त्वं प्रपश्यसि तर्हि एवममुना प्रकारेण तनौ शरीरे य आत्मा जीवस्तत्रापि पश्य विलोकय, 'विवक्षातः कारकविभक्तयो भवन्ती'ति वचनात् तनावात्मानमपि पश्येत्यर्थः । इह काव्यद्वयसूचिताऽनुमानस्वरूपं चेदम्—"भूतेन्द्रियेभ्यो भिन्नरूपस्य पदार्थस्य कस्याऽपि धर्मश्चेतनेति प्रतिज्ञा, भूतेन्द्रियोपलब्धार्थाऽनुस्मरणादिति हेतुः, यथा पञ्चभिर्गवाक्षैरुपलब्धान् अर्थान् अनुस्मरतस्तदतिरिक्तस्य कस्यापि देवदत्तादेः पुरुषस्य चेतनेति दृष्टान्तः । अयमत्र तात्पर्यार्थः—इह य एको यैरनेकैरुपलब्धानर्थानऽनुस्मरति स तेभ्यो भेदवान् दृष्टः, यथा पञ्च-भिर्गवाक्षैरुपलब्धानर्थाननुस्मरन् तेभ्यो देवदत्तः, यश्च यस्माद्भूतेन्द्रिया-त्मकसमुदायाद्भिन्नो न भवति किं तर्हि ? अनन्यः, नायमेकोऽनेकोप-लब्धानामर्थानामनुस्मर्ता, यथा शब्दादिग्राहकमनोविज्ञानविशेषः," इत्यादि विशेषावश्यकवृत्तौ (पृ० ७०९ गा० १६५७) ॥ ४२ ॥

अथापरमपि भूतव्यतिरिक्ताऽऽत्मसाधकमनुमानमाह—

यश्च धित्सति पयः शिशुरादौ क्वापि तत्प्रथमवृत्तिस्त एव ।
जीवमेनमवगच्छ ततस्त्वं देहभिन्नमपराऽपरदेहम् ॥ ४३ ॥

---

१ गवाक्षेभ्यः । २ व्याप्तिरियं–यदुत 'यो यस्मात् भूतेन्द्रियात्मकसमुदायाद् अभिन्नः । स एक एव न अनेकोपलब्धानामर्थानां अनुस्मर्ता, अनेकैर्भूतेन्द्रियैरुप-लब्धानां पदार्थानां एक एव अनुस्मर्ता स भवति यो तेभ्यो भूतेन्द्रियेभ्यो भिन्नो वर्तते, तस्मान्निगम एष-आत्मा तेभ्यो भूतेन्द्रियेभ्यो भिन्नो, यतः तस्याऽऽत्मनः तैरुपलब्धानामर्थानां एकस्यैव अनुस्मर्तृत्वात्' ।

यच्च यत्पुनः शिशुर्बाल आदौ प्रथमत एव पयो मातुः स्तनोद्भवं दुग्धं धित्सति धातुमिच्छति पानं कर्तुं वाञ्छतीत्यर्थः । तत् क्वापि कस्मिंश्चिद्भवान्तरे प्रथमवृत्तितः प्रथमवृत्तेरेव प्राक्तनजन्माभ्यासादेवेत्यर्थः । ततस्तस्मात्कारणात् हे वायुभूते ! त्वं एनं देहाच्छरीराद् भिन्नं अत एव प्रतिभवं अपरे अपरे देहा यस्य सोऽपराऽपरदेहस्तं जीवं चेतनमवगच्छ जानीहि । धित्सतीति । 'धेट् पाने' सन्नन्तः 'सनि मीमा–' (७।४।५४) इत्यादिना इसादेशः । इदमत्र तात्पर्यम्—योऽयमाद्यः स्तनाभिलाषो बालस्य, अयमन्याभिलाषपूर्वकः, अनुभवात्मकत्वादभिलाषत्वात् वा, सांप्रताभिलाषवदिति । इह योऽभिलाषः सोऽन्याभिलाषपूर्वको दृष्टः, यथा सांप्रताभिलाषः यदभिलाषपूर्वकश्चायमाद्यः स्तनाभिलाषः स शरीरादन्य एव, पूर्वशरीरपरित्यागेऽपि इहत्याऽभिलाषकारणत्वात् । ज्ञानगुणश्चाभिलाषो न गुणिनमन्तरेण संभवत्यतो यस्तत्साश्रयभूतो गुणी स शरीरातिरिक्त आत्मेति ॥ ४३ ॥

अनुमानान्तरमाह—

एवमेव सुख-दुःख-भयादेर्वेदकः स च परम्परयाऽर्भः ।
चेतना तव मता तनुजा चेदादितः कथमसौ व्यवहारः ? ॥ ४४ ॥

च पुनः सोऽर्भो बालः एवमेव उक्तप्रकारेणैव परंपरया जन्मान्तरसंसक्त्या सुख-दुःख-भयादेर्वेदको विज्ञाता बोध्य इति शेषः । चेद्यदि तनोर्जाता तनुजा शरीरजा एव चेतना तव मताऽभिप्रेता तर्हि आदितः प्रथमत एव असौ सुख-दुःख-भयादिसंवेदनलक्षणो व्यवहारः कथं स्यादिति शेषः । अयं भावः—अन्यसुखपूर्वकमिदमाद्यं बालसुखं, अनुभवात्मकत्वात्, सांप्रतसुखवत्, यत्सुखपूर्वकं चेदमाद्यं सुखं

तच्छरीरादन्यदेव, तदत्ययेऽपि इहत्यसुखकारणत्वात्, गुणश्चायम्, स च गुणिनमन्तरेण न सम्भवति, असौ यत्तस्याश्रयभूतो गुणी स देहाद्भिन्नः सुखानुभूतिमयो जीव इति सिद्धम् । एवं दुःख-भय-राग-द्वेष-शोकादयोऽपि जानीयाः । मतेति । 'मतिबुद्धि-' (३।२।१८८) इत्यादिसूत्रेण वर्तमाने क्तः । मतिरिह इच्छा, बुद्धेः पृथगुपादानात् । तवेत्यत्र 'क्तस्य च वर्तमाने' (२।३।६७) इति षष्ठी । मता इष्टा, त्वया इष्यमाणेत्यर्थः ॥ ४४ ॥

अथैवमनुमानेन शरीराद्भिन्नं जीवं संसाध्य पुनः पराभिप्रायं प्रादुष्कृत्य निराकुर्वन्नाह—

> चेत्स्वभावमवलम्ब्य न मुञ्चे-
> दाग्रहं, वद तदा स च कीदृक् ?[1], ।
> चिन्मयोऽयमिति चेत्, न जडेना-
> ऽन्वेति भूतनिवहेन चिदात्मा ॥ ४५ ॥

हे वायुभूते ! चेद्यदि इहत्यसुखाद्यनुभवस्य कारणं स्वभावमवलम्ब्य आश्रित्य शरीरादभिन्न एवात्मेति आग्रहं हठं त्वं न मुञ्चेर्न त्यजेः, तदा वद ब्रूहि स चात्मा कीदृक् ? कीदृशोऽस्तीत्यर्थः । अथाऽयमात्मा चिन्मयो ज्ञानमय इति चेद्ब्रूषे तर्हि चिदात्मा चिन्मयो जीवो जडेन भूतनिवहेन भूतसमुदायेन न अन्वेति न समवायसम्बन्धमुपगच्छति । अवयवावयविव्यतिरिक्तयोर्द्रव्ययोः संयोगसम्बन्धस्यैवाभ्युपगमात्, अवयवावयविभावस्त्वनयोर्न संघटीतीति मिथो-

---

1 देहाऽऽत्मनोः । 2 सेयम् भिन्नस्वभावता—यत् आत्मनो ज्ञानमयत्वं—चेतनरूपता, शरीरस्य च जडस्वरूपता ।

स्वभावत्वात् । अनयोः संयोगसम्बन्धाभ्युपगमे तु सिद्ध एव देहाद्भिन्नो जीव इति भावः ॥ ४५ ॥

अथोपसंहरन्नाह—

अस्ति स प्रकट एव तदात्मा
मेदवांश्च मनसोऽप्युपयोगी ।
व्यापृतिं जगति यस्य विमुच्य
ज्ञानकार्यमखिलं निहतं स्यात् ॥ ४६ ॥

तत् तस्मात्कारणात् स आत्मा प्रकट एव शरीराद्भेदोऽस्यास्तीति मेदवान्, च पुनर्मनसः सङ्कल्पहेतोश्चेतसोऽपि उपयोगोऽस्यास्तीति उपयोगी अस्ति विद्यते । यस्याऽऽत्मनो व्यापृतिं व्यापारं विमुच्य त्यक्त्वा जगति लोकेऽखिलं समस्तं ज्ञानकार्यं ज्ञानविषयीभूतं कार्यं निहतं स्यात् निहन्येत । ततश्च स आत्मा शरीराद्भिन्न एव प्रतिपत्तव्य इति तात्पर्यम् ॥ ४६ ॥

एवं भगवता संशये छिन्ने सति वायुभूतिः किं कृतवानित्याह—

इति हृदि कुविकल्पव्याधिबाधाविमुक्तो
भगवति जिननाथे सर्वविच्त्वं प्रतीत्य ।
सपदि सपरिवर्हस्त्रीणि रत्नानि गृह्णन्
शिवपदपथपान्थोऽभूद्द्विजो वायुभूतिः ॥ ४७ ॥

इत्यनेन प्रकारेण हृदि हृदये यः कुविकल्पः कुत्सितविमर्शः स एव व्याधी रोगस्तस्य बाधया पीडया वियुक्तो विप्रमुक्तो वायुभूतिर्द्विजो भगवति जिननाथे श्रीवीरस्वामिनि सर्वविच्त्वं सर्वज्ञत्वं प्रतीत्य

1 भिन्नयोरेव द्रव्ययोः संयोगः इति न्यायनयेन स्वीकृतत्वात् ।

ज्ञात्वा सपदि शीघ्रं सह परिबर्हेणेति सपरिबर्हः सपरिकरः त्रीणि रत्नानि ज्ञान-दर्शन-चारित्राणि गृह्णन् भगवत्पार्श्वे स्वीकुर्वन् शिवपदस्य मुक्तिस्थानस्य यः पथो मार्गस्तत्र पान्थः पथिकोऽभूत् । पथेति । पथशब्दोऽदन्तोऽप्यस्ति 'वाटः पथश्च मार्गश्च' इति त्रिकाण्डशेषकोशे उक्तत्वात् । पान्थ इति । पन्थानं नित्यं गच्छतीति विग्रहे 'पन्थो ण नित्यम्' (५।१।७६) इति णप्रत्ययः, पन्थ इत्यादेशश्च । इदं मालिनीछन्दः, एतल्लक्षणं तु प्रागुक्तमेवेति ॥ ४७ ॥

इति गौतमलघुबन्धुद्वयदीक्षाग्रहणवर्णनो
नामाऽष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

इति स्पष्टम् ।

इति श्रीगौतमीयप्रकाशाख्यायां श्रीगौतमीयमहाकाव्यव्याख्यायां
अष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

नवमः सर्गः ।

व्यक्ताभिधानोऽथ विशारदानां सदस्युपाध्यायपदप्रतिष्ठः ।
भ्रातृत्रयं प्रव्रजितं निशम्य श्रीवीरनाथं प्रणिनंसुरासीत् ॥ १ ॥

विशुद्धविज्ञानकरं प्रसार्य व्यक्तादिविप्रा भवसिन्धुमध्यात् ।
समुद्धृता येन जिनेश्वराय नमोऽस्तु तस्मै त्रिशलाऽऽत्मजाय ॥१॥

अथानन्तरं विशारदानां पण्डितानां सदसि सभायां उपाध्यायपदस्य प्रतिष्ठा स्थापनं यस्य स तथोक्त एवंविधो व्यक्ताभिधानो व्यक्तनामा पण्डितः, भ्रातृत्रयमिन्द्रभूत्यादिसहोदरत्रितयं प्रव्रजितं श्रीवीरपार्श्वे दीक्षितं निशम्य श्रुत्वा श्रीवीरनाथं प्रणन्तुमिच्छुः प्रणिनंसुः आसीत् अभवत् । स्वयमपि भगवन्तं नमस्कर्तुमैच्छदित्यर्थः ।

प्रतिष्ठेति। 'प्रतिष्ठा मर्यादादेवादिस्थापनयोरपी'ति मङ्खः (?)। अस्मिन् सर्गे इन्द्रवज्रोपजातिछन्दसी, तल्लक्षणे च प्रागुक्ते एव ॥ १ ॥

समाजगाम स्वपरिच्छदेन
छद्म व्यतीत्याऽऽशु जिनोपकण्ठम् ।
व्यक्ताऽभ्युपेहीति जिनोऽप्यवादी-
द्विमुञ्च भूतेषु च नास्तिभावम् ॥ २ ॥

अत्र 'स' इति कर्तृपदमध्याहार्य्यम् । स व्यक्तनामा उपाध्यायः छद्म शाठ्यं व्यतीत्य विलङ्घ्य परित्यज्येति यावत् । आशु शीघ्रं स्वपरिच्छदेन स्वच्छात्रपरिवारेण सह जिनस्य श्रीवीरपरमेश्वरस्य उपकण्ठं समीपं समाजगाम संप्राप्तः । तदा जिनो वीरप्रभुरपि हे व्यक्त ! त्वमभ्युपेहि अभ्यागच्छ, च पुनर्भूतेषु पृथिव्यादिषु नास्तिभावं नास्तित्वं विमुञ्च परित्यज, 'भूतेषु नास्तित्वबुद्धिं मा धा' इत्यर्थं, इत्येवमवादीत् वदति स्म ॥ २ ॥

अथ यथा एतस्य संशयस्तथा दर्शयन्नाह—

स्वप्नोपमं वै जगदिन्द्रजालो-
पमं विचार्य्येति वचो विचारम् ।
भूतानि लुम्पस्यथवा व्यपेक्षा-
माश्रित्य सर्वं ननु वेत्सि शून्यम् ॥ ३ ॥

हे व्यक्त ! वै इत्यवधारणे, इदं जगत् स्वप्नोपमं अथवा इन्द्रजालोपमं वर्त्तते इत्येवंरूपं विचारोऽस्त्यस्मिन्निति विचारं 'अर्शआदिभ्योऽच्' (५।२।१२७) विचारगर्भितमित्यर्थः । वचो वेदवचनं विचार्य्य स्वहृदये पर्यालोच्य त्वं भूतानि लुम्पसि नास्तित्वेन विजानासि अथवा

विरुद्धा अपेक्षा व्यपेक्षा विरुद्धवेदपदार्थपर्यालोचना तामाश्रित्य, ननु इत्यवधारणे, सर्वं लोकं शून्यं वेत्सि जानासि । अयं भावः—पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशलक्षणानि पञ्चभूतानि तानि च किं सन्ति न वेति त्वं मन्यसे, संशयश्च तवाऽयं विरुद्धवेदपदश्रवणनिबन्धनो वर्त्तते । तानि चामूनि वेदपदानि—'स्वप्नोपमं वै सकलम्' 'इत्येष ब्रह्मविधिरञ्जसा विज्ञेय' इत्यादि, 'तथा पृथिवी देवता आपो देवता' इत्यादि । एतेषां चायमर्थः तव प्रतिभासते, स्वप्नोपमं स्वप्नसदृशं वै-निपातोऽवधारणे, सकलमशेषं जगदित्येष ब्रह्मविधिः परमार्थप्रकारः अञ्जसा प्रगुणेन न्यायेन विज्ञेयो ज्ञातव्य इति, तदेवमादीनि वेदपदानि किल भूतनिह्नवपराणि तथा पृथिवी देवता इत्यादीनि तु तत्सत्त्वाप्रतिपादकानि, अतस्तव संशयः ।

भूतानां स्वप्नसादृश्यादिभावना त्वेवं, यथा हि—स्वप्ने किल कश्चिन्निःस्वोऽपि निजगृहाङ्गणे गजघटा-तुरगगण-मणि-कनकराश्यादिकमभूतमपि पश्यति । "मायायां चेन्द्रजालक्रियारूपायामविद्यमानमपि कनक-मणि-मौक्तिक-रजतभाजना-ऽऽराम-पुष्प-फलादिकं दृश्यते तथैतान्यपि भूतान्येवंविधान्येव, यतो विचार्यमाणान्येतानि सर्वथैव न काञ्चिद्युक्तिं सहन्ते । भूतेषु संशये पुनर्जीवादिषु का वार्त्ता ? तेषां भूतविकाराधिष्ठानत्वात्, तस्मात्सर्वस्यापि भूतजीवादिवस्तुनस्त्वदभिप्रायेणाऽभावात् सर्वशून्यताशङ्की त्वं निरवशेषमपि लोकं स्वप्नेन्द्रजालमायोपमं मन्यसे इति" । परमेतेषां वेदपदानामर्थं, युक्तिहृदयं च त्वं न वेत्सि तेन संशयं कुरुषे । एषामर्थस्तु अग्रे वक्ष्यते ॥ २ ॥

---

१ विशेषा० वृहद्वृत्ति० (पृ० ७२२ गा० १६९१) ।
१४ गौ० का०

अथ व्यक्तचेतोगतां युक्तिं भगवान् व्यक्तीकुर्वन्नाह—

तथा ह्यकुम्भव्यतिरिक्तकुम्भेऽन्योन्याश्रयाऽपेक्षणमस्ति यस्मात् ।
सिद्धिः स्वतो वस्तुन एव नास्ति, प्रतीयते तेनं तु शून्यतैव ॥४॥

तथा हि तामेव युक्तिं दर्शयति—कुम्भाद्घटाद् व्यतिरिक्ता अकुम्भाः स्तम्भादयः पदार्थास्तेभ्यो व्यतिरिक्तो भिन्नः कुम्भः तत्र, यस्मात्कारणादन्योन्याश्रयस्य इतरेतराश्रयस्य अपेक्षणमपेक्षाऽस्ति । न हि अकुम्भव्यतिरेकेण चाऽकुम्भ इति व्यपदेश इति स्पष्टमेवाऽनयोरन्योन्याश्रयत्वमित्यर्थः । तस्मात् स्वतोऽन्याऽनपेक्षया वस्तुनः कस्यापि पदार्थस्य सिद्धिर्निष्पत्तिर्नास्त्येव । तु इति विशेषे, तेन हेतुना शून्यतैव प्रतीयते ज्ञायते ॥ ४ ॥

यथा स्वतो न सिद्धिस्तथा परतोऽपि नेत्याह—

यः कश्चिदर्थः स च कार्य्यरूपः स्यात्कारणं वा व्यवहारतोऽत्र ।
परस्परापेक्षितयाऽनयोर्यत्स्वतो न सिद्धिः परतोऽपि नैवम् ॥५॥

अत्राऽस्मिन् लोके यः कश्चिदर्थः स च व्यवहारतः कार्यं रूपं स्वरूपं यस्य स कार्यरूपः स्यात् । कारणं वा कारणरूपो वा स्यात् । अनयोः कार्यकारणयोः परस्परापेक्षितयाऽन्योन्यापेक्षित्वेन यद्यस्मात्कारणात् स्वतो न सिद्धिः एवममुनैव प्रकारेण परतोऽपि न सिद्धिः, अस्तीति शेषः । अत्र विशेषावश्यकवृत्त्यनुसारेण काव्यद्वयस्य भावनेयम्—"हे व्यक्त ! भवतोऽयमभिप्रायो यथा किल न स्वतो न परतो न चोभयतो नाऽप्यन्यतो भावानां सिद्धिः सम्भाव्यते, कार्य-

१ 'तेन तु शून्यतैव' इति काशीमुद्रितपुस्तके पाठः, [illegible] च टीकाकृतो [illegible] सम्मत इति प्रतिभाति । २ 'स्वतोऽपि सिद्धिः परतोऽपि नैवम्' इति काशीमुद्रितपाठः ।

कारणादिभावस्याऽऽपेक्षिकत्वात्, ह्रस्वदीर्घव्यपदेशवत् । तथा हि—यत् किमपि भावजातमस्ति तेन सर्वेणापि कार्येणापि भवितव्यं, कारणेन वा, तत्र कार्यं कारणेन क्रियत इति कारणायत्त एव तस्य कार्यत्वव्यपदेशः, न तु (कार्यस्य) कार्यत्वं स्वतःसिद्धं किमप्यस्ति । एवं कारणमपि कार्यं करोतीति कार्यायत्त एव तस्य कारणत्वव्यपदेशः, न तु तस्य कारणत्वं स्वतःसिद्धं किंचिदस्ति । तदेवं कार्यादिभावः स्वतो न सिध्यति, यच्च स्वतो न सिद्धं तस्य परतोऽपि सिद्धिर्नास्ति, यथा खरविषाणस्य । ततश्च न स्वतःकार्यादिभावो नापि परतः, 'स्वपरोभयाभ्यां तत्सिद्धिरिति' चेत्;—तदयुक्तं, व्यस्तादुभयस्माच्चसिद्धेरभावात्तत्समुदायेऽपि तदऽयोगात् । न हि सिकताकणेषु प्रत्येकमसत्तैलं तत्समुदाये प्रादुर्भवति, अपि च उभयस्मात्सिद्धिपक्षे इतरेतराश्रयदोषः प्राप्नोति । यावद्धि कार्यं न सिध्यति न तावत्कारणसिद्धिरस्ति । यावच्च कारणं न सिध्यति न तावत्कार्यं सिद्धिमासादयति, अत इतरेतराश्रयदोषः, तस्मान्नोभयतोऽपि कार्यादिभावसिद्धिर्नाप्यन्यतोऽनुभयत इत्यर्थः । स्वपरोभयव्यतिरेकेणाऽन्यस्य वस्तुनोऽसत्त्वेन निर्हेतुकत्वमसद्भावात् । एवं ह्रस्व-दीर्घलक्षणे दृष्टान्तेऽप्यन्वयो भावनीयः । तथा हि—प्रदेशिन्या अङ्गुष्ठमपेक्ष्य दीर्घत्वं प्रतीयते । मध्यमां त्वपेक्ष्य ह्रस्वत्वं, परमार्थेन त्वियं स्वतो न ह्रस्वा, नापि दीर्घा; तदेवं न स्वतो ह्रस्वदीर्घत्वयोः सिद्धिः । ततः परतः, उभयतः, अनुभयतश्च तत्सिद्ध्यभावो यथोक्तवद्भावनीयः, तस्मात्कथमपि वस्तुसिद्धेरसम्भवात् शून्यतैव सिध्यतीति ॥ ५ ॥

पुनः प्रकारान्तरेणापि शून्यतासिद्ध्यर्थं यत्नेनाभिमेतं तद्भगवानाऽऽह—

सूक्ष्मत्वतो वस्तुनि नाभिगम्या-
वाद्यन्तभागौ परमाणुरूपौ ।
लभ्यं कथं वा तदधीनमध्यं ?
तस्मात्तवाऽऽस्था ननु शून्यतायाम् ॥ ६ ॥

अत्र परमाणुशब्देन परमाणुप्रतरो लक्ष्यते । ततश्चायमर्थः— परमाणुरूपौ परमाणु-प्रतरस्वरूपौ वस्तुनि स्तम्भादिपदार्थे आद्यन्तभागौ सर्वारातीयभागपरभागौ सूक्ष्मत्वतः सूक्ष्मत्वेन नाभिगम्यौ नोपलभ्यौ स्तः, वा पुनस्तयोराद्यन्तभागयोरधीनं तदधीनं तदन्तरितमित्यर्थः, ईदृशं यन्मध्यं वस्तुनो मध्यभागस्तत्कथं लभ्यम् ? अदर्शनादेव तन्नोपलभ्यते इत्यर्थः । तस्मात्कारणान्ननु निश्चितं तव शून्यताया-मास्थाऽपेक्षा आदरोऽस्तीत्यर्थः । अत्रायं भावः—ईह यद्यावददृश्यं तदसत् एव, अनुपलम्भात्, खरविषाणवत्, इति निवृत्ता तद्वार्ता । दृश्य-स्यापि च स्तम्भ-कुम्भ-कुड्यादेः पर-मध्यभागयोरसत्त्वमेव, अर्वाग्भागा-न्तरितत्वेन तयोरप्यदर्शनात्, अर्वाग्भागस्यापि च सावयवत्वात्पुनरन्यः स्वाराद्भागस्तस्याप्यन्य इत्येवं तावद्यावत्सर्वारातीयभागस्य परमाणु-प्रतरमात्रत्वेनाऽतिसौक्ष्म्यात्पूर्वेषां चाराद्भागानामन्यस्यान्येनान्तरितत्वेना-नुपलब्धिः । ततश्चोक्तन्यायेन परभाग-सर्वारातीयभागलक्षणोभय-भागानुपलम्भात् सर्वस्यापि वस्तुजातस्यानुपलब्धेः शून्यं जगदिति । तदेवमुक्तयुक्त्या सर्वस्यापि भूतादेरभावः प्राप्नोति । श्रूयते च श्रुतौ भूतादिसद्भावोऽपीति संशयः ॥ ६ ॥

---

१ 'नाभिगम्यौ वाऽऽद्यन्तभागौ' इति काशीमुद्रितपाठश्चिन्त्यः । २ आराद् भवम् आरातीयम्-समीपस्थम् इत्यर्थः । २ विशेषा० बृहद्वृत्तौ (पृ० ७३५ गा० १६६६) ।

अथेत्थं पूर्वपक्षमुक्त्वा भगवान् प्रतिविधानमाह—

व्यक्तोत्तरं तत्र गृहाण पक्षं स्वप्नेन्द्रजालोपमितं जगद्यत् ।
आख्यातमेतत्तु विरागतायै मोहस्य हान्यै तदनित्यतातः ॥ ७ ॥

हे व्यक्त ! तत्र तस्मिन्नुक्तेऽर्थे त्वमस्माभिरुच्यमानं उत्तरं पक्षं गृहाण उत्तरं शृणु इत्यर्थः । श्रुतौ यदेतत् स्वप्नेन्द्रजालोपमितं स्वप्नेन्द्रजालमायासदृशं जगत् आख्यातं उक्तं, तत्तु विरागतायै जन्तूनां वैराग्योत्पादनार्थमित्यर्थः । तथा मोहस्याऽज्ञानस्य हान्यै त्यागार्थमित्यर्थः । तथाऽनित्यतातो जगतोऽनित्यत्वादित्यर्थः ॥ ७ ॥

अथ भूतादिसद्भावं युक्त्या प्रतिपादयन्नाह—

यच्चिन्तितं दृष्टमथाऽनुभूतं श्रुतं च तत् स्वप्नगतं सदेव ।
प्रबोधिनश्चेत्तदसत्तथाऽपि स्थिता परत्रैव तदर्थसत्ता ॥ ८ ॥

यद्वस्तु चिन्तितं अन्यदा हृदि पर्यालोचितं विभव-वल्लभादि, तथा दृष्टं करि-तुरगादिकं, अथ-अथवाऽनुभूतं स्नान-भोजन-विलेपनादि, च पुनः श्रुतं स्वर्ग-नरकादिकं, तत्सर्वं वस्तु सदेव विद्यमानमेव स्वप्ने गतं प्राप्तं भवति, नाऽविद्यमानं किञ्चिदित्यर्थः । चेद्यदि प्रबोधो जागरणमस्त्यस्येति प्रबोधी तस्य जाग्रतः सतस्तत्सर्वं स्वप्नगतं वस्तु असत् प्रायोऽविद्यमानमेव तथापि अपरत्राऽन्यत्र प्रदेशे तेषां स्वप्न-दृष्टानामर्थानां वस्तूनां सत्ता विद्यमानता तदर्थसत्ता स्थितैव । अतः स्वप्नदृष्टार्थानामप्यभावाऽभावात् कथं शून्यं जगदिति भावः ॥ ८ ॥

एवं स्वप्नमाश्रित्य युक्तिमुक्त्वा इन्द्रजालमाश्रित्याह—

यद्यप्यसत्प्रस्तुतमिन्द्रजालं तथाऽप्यसन्तो न तदीयभावाः ।
तथा जगज्जालविशालगर्भे भूतानि सन्त्येव न काऽपि शङ्का ॥ ९ ॥

१ 'यच्चर्चितं' इति काशीमुद्रितपाठान्तरः ।

यद्यपि प्रस्तुतं प्रस्तावापन्नं इन्द्रजालं असत् अविद्यमानमेव, तथापि तस्येन्द्रजालस्येमे तदीया इन्द्रजाले दृश्यमाना भावाः पदार्था असन्तोऽसद्भूता, न सन्तीति शेषः, तेषामप्यन्यत्र विद्यमानत्वादिति भावः। तथा तेन प्रकारेण जगदेव जन्तूनां बन्धनहेतुत्वाज्जालं तस्य विशालो विस्तीर्णो यो गर्भो मध्यं, तस्मिन् भूतानि सन्त्येव। अत्रार्थे काऽपि शङ्का न कर्त्तव्येति शेषः ॥ ९ ॥

पुनः सर्वशून्यतायामिष्यमाणायां स्वमाऽस्वमादिव्यवहाराभावप्रसङ्ग एवेति दर्शयन्नाह—

स्वमेन्द्रजाले अपि भावरूपे कुतोऽन्यथा स्यात्तदभावयुक्तिः ?।
अस्वम इत्येवमनिन्द्रजालमिति प्रतीतिर्यत ऊहनीया ॥ १० ॥

स्वमश्च इन्द्रजालं च स्वमेन्द्रजाले ते अपि भावरूपे विद्येते, नाऽभावरूपे इत्यर्थः। अन्यथा स्वमादेर्भावत्वाऽभावे तयोः स्वमेन्द्रजालयोरभावयुक्तिर्भवदुक्ताऽभावोपपत्तिः कुतः स्यात् ?, कुतोऽपि न स्यादित्यर्थः। यतो यस्मात्कारणात्र स्वमोऽस्वम इत्येव तथा न इन्द्रजालमनिन्द्रजालमित्येवं या प्रतीतिः सा ऊहनीया विचार्य्या। इदमत्र तात्पर्यम्—सर्वशून्यत्वेऽभ्युपगम्यमाने स्वमोऽयमस्वमो वा ?, तथा इन्द्रजालमिदमनिन्द्रजालं वेत्यादिको विशेषः किं कृतः स्यात् ? स्वमादीनां विशेषनिबन्धनाभावात्समतैव कस्मान्न भवति ? यादृशः

योऽस्वप्नः स स्वप्नः इत्यादि ?। तस्मात्सन्ति एवं सर्वे भावा न पुनः शून्यतेति ॥ १० ॥

पुनर्भूतसद्भावं प्रकारान्तरेण समर्थयन्नाह—

सद्वस्तुनि स्यादथ संशयोऽपि यत्स्थाणुपुंसोः स्फुट एव दृश्यः ।
तद्भूतसन्देहविशेष एव प्रस्फोरयत्यत्र तदर्थसत्ताम् ॥ ११ ॥

अथ संशयोऽपि सद्वस्तुनि विद्यमाने एव वस्तुनि स्यात्, नाविद्यमाने इत्यर्थः । कथमित्याह—यद्यस्मात्कारणात् स्थाणु-पुंसोः शङ्कु-पुरुषयोरेव संशयः स्फुटः प्रकटो दृश्यो दर्शनीयोऽस्ति, तत्तस्मात्कारणात् भूतानां यः सन्देहविशेषः स एव अत्र लोके तदर्थसत्तां भूतपदार्थसद्भावं प्रस्फोटयति प्रकाशयति । प्रपूर्वात् 'स्फुर स्फुरणे' अस्माद्धेतुमण्णिजन्ताल्लट् । अत्रायं भावः—असति भूतकदम्बके संशयः खकुसुम-खरविषाणयोरिव न युक्तः, अपि स्वभावनिश्चय एव स्यात्, सत्स्वेवंभूतेषु स्थाणु-पुरुषादिष्विव संशयो युक्तः । यदि पुनरसत्यपि वस्तुनि सन्देहः स्यात् तदाऽविशेषेण खरविषाणादिष्वपि स्यात्, न च सोऽस्ति तस्मात्सन्त्येव भूतानीति ॥ ११ ॥

अथ यदुक्तं प्राग् न स्वतो भावानां सिद्धिरित्यादि तत्प्रतिनिधातुमाह—

अपेक्ष्य भावं परमर्थसत्तां त्वं मन्यसे तन्न सहेत युक्तिम् ।
ह्रस्वं च दीर्घं च समं च वस्तु स्वसत्तयाऽपि प्रतिभासमेति ॥१२॥

हे व्यक्त ! त्वं परमन्यं भावं पदार्थमपेक्ष्य अर्थसत्तां पदार्थसद्भावं मन्यसे न स्वतः, परं तत् त्वन्मतं युक्तिं न सहेत युक्तिक्षमं नास्तीत्यर्थः । कथमित्याह—ह्रस्वं चेत्यादि । चकारः समुच्चये, समशब्देनाऽत्र तदुभयं गृह्यते । ततश्चायमर्थः—ह्रस्वं दीर्घं तदुभयं च

ोऽसमः स समः इत्यादि ? । तस्मात्सन्ति एवं सर्वे भावा न पुनः शून्यतेति ॥ १० ॥

पुनर्भूतसद्भावं प्रकारान्तरेण समर्थयन्नाह—

सद्वस्तुनि स्यादिह संशयोऽपि यत्स्थाणुपुंसोः स्फुट एष दृष्टः ।
तद्भूतसन्देहविशेष एव प्रस्फोरयत्यत्र तदर्थसत्ताम् ॥ ११ ॥

अथ संशयोऽपि सद्वस्तुनि विद्यमाने एव वस्तुनि स्यात्, नाविद्यमाने इत्यर्थः । कथमित्याह—यद्यस्मात्कारणात् स्थाणु-पुंसोः शङ्कु-पुरुषयोरेष संशयः स्फुटः प्रकटो दृष्टो दर्शनीयोऽस्ति, तस्मात्कारणात् भूतानां यः सन्देहविशेषः स एव अत्र लोके तदर्थसत्तां भूतपदार्थसद्भावं प्रस्फोटयति प्रकाशयति । प्रपूर्वात् 'स्फुर स्फुरणे' इत्यस्माद्धेतुमण्णिजन्ताल्लट् । अत्रायं भावः—असति भूतकदम्बके संशयः शशकुसुम-खरविषाणयोरिव न युक्तः, असति त्वभावनिश्चय एव स्यात्, सत्स्वेवंभूतेषु स्थाणु-पुरुषादिष्विव संशयो युक्तः । यदि पुनरसत्यपि वस्तुनि सन्देहः स्यात् तदाऽविशेषेण खरविषाणादिष्वपि स्यात्, न च सोऽस्ति तस्मात्सन्त्येव भूतानीति ॥ ११ ॥

अथ यदुक्तं प्राक् न स्वतो भावानां सिद्धिरित्यादि तत्प्रतिविधातुमाह—

अपेक्ष्य भावं परमर्थसत्तां त्वं मन्यसे तन्न सहेत युक्तिम् ।
ह्रस्वं च दीर्घं च समं च वस्तु स्वसत्तयाऽपि प्रतिभासमेति ॥१२॥

हे व्यक्त ! त्वं परमन्यं भावं पदार्थमपेक्ष्य अर्थसत्तां पदार्थसद्भावं मन्यसे न स्वतः, परं तत् त्वन्मतं युक्तिं न सहेत युक्तिक्षमं नास्तीत्यर्थः । कथमित्याह—ह्रस्वं चेत्यादि । चकारः समुच्चये, समशब्देनात्र तदुभयं गृह्यते । तत्रायमर्थः—ह्रस्वं दीर्घं तदुभयं च

यद्यपि प्रस्तुतं प्रस्तावापन्नं इन्द्रजालं असत् अविद्यमानमेव, तथापि तस्येन्द्रजालस्येमे तदीया इन्द्रजाले दृश्यमाना भावाः पदार्था असन्तोऽसद्भूता, न सन्तीति शेषः, तेषामप्यन्यत्र विद्यमानत्वादिति भावः। तथा तेन प्रकारेण जगदेव जन्तूनां बन्धनहेतुत्वाज्जालं तस्य विशालो विस्तीर्णो यो गर्भो मध्यं, तस्मिन् भूतानि सन्त्येव। अत्रार्थे काऽपि शङ्का न कर्त्तव्येति शेषः ॥ ९ ॥

पुनः सर्वशून्यतायामिष्यमाणायां स्वप्नाऽस्वप्नादिव्यवहाराभावप्रसङ्ग एवेति दर्शयन्नाह—

स्वप्नेन्द्रजाले अपि भावरूपे कुतोऽन्यथा स्यात्तदभावयुक्तिः[1]।
अस्वप्न इत्येवमनिन्द्रजालमिति प्रतीतिर्यत ऊहनीया ॥ १० ॥

स्वप्नश्च इन्द्रजालं च स्वप्नेन्द्रजाले ते अपि भावरूपे विद्येते, नाऽभावरूपे इत्यर्थः। अन्यथा स्वप्नादेर्भावत्वाऽभावे तयोः स्वप्नेन्द्रजालयोरभावयुक्तिर्भवदुक्ताऽभावोपपत्तिः कुतः स्यात्?, कुतोऽपि न स्यादित्यर्थः। यतो यस्मात्कारणाच्च स्वप्नोऽस्वप्न इत्येव तथा न इन्द्रजालमनिन्द्रजालमित्येवं या प्रतीतिः सा ऊहनीया विचार्य्या। इदमत्र तात्पर्यम्—सर्वशून्यत्वेऽभ्युपगम्यमाने स्वप्नोऽयमस्वप्नो वा?, तथा इन्द्रजालमिदमनिन्द्रजालं वेत्यादिको विशेषः किं कृतः स्यात्? स्वप्नादीनां विशेषनियन्धनाभावात्समतैव कस्मान्न भवति? यादृशः स्वप्नोऽस्वप्नोऽपि तादृश एव यादृशश्चाऽस्वप्नः स्वप्नोऽपि तादृश एवेत्यादि। अथवा विपर्ययः कुतो न भवति? यः स्वप्नः सोऽस्वप्नः

1 'अन्यथाऽस्य तदभावयुक्तिः' इति प्राचीमुद्रितपाठोऽसारस्याच्छन्दोभङ्गदोषदुष्टत्वाच्चामनोरमः।

योऽसमः स समः इत्यादि ? । तस्मात्सन्ति एवं सर्वे भावा न पुनः शून्यतेति ॥ १० ॥

पुनर्भूतसद्भावं प्रकारान्तरेण समर्थयन्नाह—

सद्वस्तुनि स्यादथ संशयोऽपि यत्स्थाणुपुंसोः स्फुट एव दृश्यः ।
तद्भूतसन्देहविशेष एव प्रस्फोरयत्यत्र तदर्थसत्ताम् ॥ ११ ॥

अथ संशयोऽपि सद्वस्तुनि विद्यमाने एव वस्तुनि स्यात्, नाविद्यमाने इत्यर्थः । कथमित्याह—यद्यस्मात्कारणात् स्थाणु-पुंसोः शङ्कु-पुरुषयोरेष संशयः स्फुटः प्रकटो दृश्यो दर्शनीयोऽस्ति, तदस्मात्कारणात् भूतानां यः सन्देहविशेषः स एव अत्र लोके तदर्थसत्तां भूतपदार्थसद्भावं प्रस्फोटयति प्रकाशयति । प्रपूर्वात् 'स्फुर स्फुरणे' अस्माद्धेतुमण्णिजन्ताल्लट् । अत्रायं भावः—असति भूतकदम्बके संशयः खकुसुम-खरविषाणयोरिव न युक्तः, अपि त्वभावनिश्चय एव स्यात्, सत्स्वेवं भूतेषु स्थाणु-पुरुषादिष्विव संशयो युक्तः । यदि पुनरसत्यपि वस्तुनि सन्देहः स्यात् तदाऽविशेषेण खरविषाणादिष्वपि स्यात्, न च सोऽस्ति तस्मात्सन्त्येव भूतानीति ॥ ११ ॥

अथ यदुक्तं प्राग् न सतो भावानां सिद्धिरित्यादि तत्प्रतिविधानुमाह—

अपेक्ष्य भावं परमर्थसत्तां त्वं मन्यसे तन्न सहेत युक्तिम् ।
ह्रस्वं च दीर्घं च समं च वस्तु स्वसत्तयाऽपि प्रतिभासमेति ॥१२॥

हे व्यक्त ! त्वं परमन्यं भावं पदार्थमपेक्ष्य अर्थसत्तां पदार्थसद्भावं मन्यसे न स्वतः, परं तत् त्वन्मतं युक्तिं न सहेत युक्तिक्षमं नास्तीत्यर्थः । कथमित्याह—ह्रस्वं चेत्यादि । चकारः समुच्चये, समशब्देनाऽत्र तदुभयं गृह्यते । ततश्चायमर्थः—ह्रस्वं दीर्घं तदुभयं च

वस्तु स्वसत्तयाऽपि प्रतिभासं घृति प्राप्नोति स्वसत्तयाऽपि प्रतिभासते, न तु पराऽपेक्षयैवेत्यर्थः । अयमत्र भावार्थः—न खल्वापेक्षिकमेव वस्तूनां सत्त्वं किं तु स्वविषयज्ञानगमनाद्यर्थक्रियाकारित्वमपि । ततश्च ह्रस्व-दीर्घो-भयानि आत्मविषयं चेद् ज्ञानं जनयन्ति तदा सन्त्येव तानि, कथं तेषामसिद्धिः ? यदप्युक्तं—'मध्यमाङ्गुलिमपेक्ष्य प्रदेशिन्यां ह्रस्वत्वमसदेवोच्यते' इत्यादि तदप्ययुक्तं, यतो यदि मध्यमामपेक्ष्य प्रदेशिन्यां स्वतः सर्वथाऽसत्यामपि ह्रस्वत्वं भवेत्तदा विशेषाभावात्खरविषाणेऽपि तद्भवेत्, अतिदीर्घेषु इन्द्रयष्ट्यादिष्वपि च तत्स्यात् । तस्मात्स्वतः सत्यामेव प्रदेशिन्यां वस्तुनोऽनन्तधर्मात्मकत्वात्तत्तत्सहकार(रि)सन्निधौ तत्तद्रूपाभिव्यक्तेस्तत्तज्ज्ञानमुत्पद्यते न पुनरसत्यामेव, तस्यामपेक्षामात्रत एव ह्रस्वज्ञानमुपजायते । एवं दीर्घोभयादिष्वपि वाच्यं, तस्मात्स्वतः परत उभयतश्च भावानां सिद्धिरस्त्येव व्यवहारतः, निश्चयतस्तु स्वतः सिद्धा एव सर्वेऽपि भावाः । तथा हि—इह किञ्चित् स्वत एव सिध्यति, यथा कर्तृनिरपेक्षः तत्कारणद्रव्यसङ्घातविशिष्टपरिणामरूपो मेघः । किञ्चित्तु परतो यथा—कुलालकर्तृको घटः । किञ्चिदुभयतो यथा—मातापितृभ्यां स्वकृतकर्मतश्च पुरुषः । किञ्चिन्नित्यसिद्धमेव यथा—आकाशम्, एतच्च व्यवहारनयाऽपेक्षया द्रष्टव्यम् । निश्चयतस्तु बाह्यं निमित्तमात्रमेवाऽऽश्रित्य सर्वं वस्तु स्वत एव सिध्यति खरविषाणादिरूपोऽभावस्तु बाह्यनिमित्तसद्भावेऽपि कदाचिदपि न सिध्यतीति ॥ १२ ॥

उक्तमेवार्थं पुनर्द्रढयति—

ह्रस्वत्व-दीर्घत्व-समत्व-धर्मा यद्यप्यपेक्षावशगा भवन्ति ।
तथापि वस्त्वेतदिति स्वसत्तामालम्बमानं प्रति धर्ममानम् ॥१३॥

यद्यपि ह्रस्वत्व-दीर्घत्व-समत्वधर्मा अपेक्षाया वशं गच्छन्तीति अपेक्षावशगा अपेक्षाधीना भवन्ति, तथापि 'एतद्वस्तु ह्रस्वं, एतद्दीर्घं, एतत्तु तदुभयम्' इत्येवम्भूतां स्वसत्तात्मसद्भावं आलम्बमानमाश्रयं तं पदार्थं प्रति प्रतीत्य आश्रित्य वर्तमानं ह्रस्वादिधर्मज्ञानं भवतीति शेषः ॥ १३ ॥

पुत्रत्व-पौत्रत्व-पितृत्व-धर्मा
यद्यप्यपेक्षावशगास्तथापि ।
सन्तो हि सत्त्वेन भवन्ति पुंस-
स्तथा च भावाः सत एव सिद्धाः ॥ १४ ॥

एकस्मिन्पुरुषे स्वपित्रपेक्षया पुत्रत्वं, स्वपितामहापेक्षया पौत्रत्वं, स्वसुतापेक्षया तु पितृत्वं, इत्थं पौत्रत्व-पुत्रत्व-पितृत्वधर्मा अपि यद्यपि अपेक्षावशगाः सन्ति, तथापि हीति निश्चितं पुंसः पुरुषस्य सत्त्वेन सद्भावेन एते धर्माः सन्तो विद्यमाना भवन्ति । तदभावे तु कथं स्युरिति भावः । तथा च सति सर्वे भावाः पदार्थाः सत एव सिद्धा ज्ञेया इति शेषः ॥ १४ ॥

सम्बन्धमासाद्य कमप्यपेक्षां
प्रयान्ति काञ्चित्परभावतश्चेत् ।
तथापि कार्यादिसमस्तभावाः
स्वसत्त्व सत्तामधिकृत्य सन्तः ॥ १५ ॥

चेद्यदि कार्यादिसमस्तभावाः कार्यादयः सर्वे पदार्थाः कमपि सम्बन्धमासाद्य प्राप्य परभावतः परपदार्थतः कांचिदपेक्षां प्रयान्ति प्राप्नुवन्ति, तथापि ते स्वस्यैव सत्तां अधिकृत्य आश्रित्य सन्तो विद्यमाना ज्ञेयाः ॥ १५ ॥

अथ यदुक्तं प्राक् (अस्मिन्सर्गे ६ श्लोके) 'सूक्ष्मत्वतो वस्तुनि नाभिगम्यायाद्यन्तभागा' वित्यादि तत्र प्रतिविधानमाह—

तथाऽऽदि-मध्या-ऽन्तविभागयुक्तिः
पुंसो विवक्षावशगोपदिष्टा ।
तत्सौम्य ! मा गाः स्वपरप्रणाशं
यतः समृद्धं जगदस्ति सर्वम् ॥ १६ ॥

त्वया उपदिष्टा सर्ववस्त्वभावसाधकत्वेन कथिता या आदिमध्यान्तविभागयुक्तिः साऽपि तथा तेनैव प्रकारेण पुंसः पुरुषस्य वक्तुमिच्छा विवक्षा तस्या वशगा तदधीनैवाऽस्ति न पुनस्तात्त्विकी, घट-पटादिसर्ववस्तूनामर्वाक्तनभागस्य, स्फटिका-ऽभ्र(क)पटलादीनां परभागस्य अपि च साक्षाद्दृश्यमानत्वादिति भावः । किंच त्वया सर्वाभावे इष्यमाणे वस्तुन आदिमध्यान्तविभागभेद एव कुतः सङ्गच्छते ? सर्वाभावेऽपि चेत्स भवेत् तर्हि खरविषाणस्यापि कुतो न स्यात् ? इत्यलं विस्तरेणेति । तत्तस्मात्कारणात् हे सौम्य ! हे व्यक्त ! सर्वजगतः शून्यत्वस्वीकारेण स्वस्य परेषां च वस्तूनां प्रणाशमभावं मा गाः मा प्रापः, सर्वाभावं मा स्वीकुर्वित्यर्थः । यतो यस्मात्कारणात्प्रागुक्तयुक्त्या सर्वं जगत् समृद्धं जीवाऽजीवादिसर्वपदार्थरूपर्द्धिसंयुक्तमस्ति न तु केनापि प्रकारेण शून्यमिति भावः । मागा इति । माङ् उपपदादिणो लुङ् मध्यमपुरुषैकवचनं 'इणो गा लुङि' (२।४।४५) इति गादेशो 'गातिस्था–' (२।४।७७) इति सिचो लुक् ॥ १६ ॥

एवं भगवता भूतास्तित्वे प्रतिपादिते व्यपगतसन्देहोऽसौ व्यक्तः संवेगमापन्नः सन् किं कृतवानित्याह—

निशम्य[1] युक्तीरिति वीरवक्त्रा-
द्विहाय मोहं समशून्यतायाः ।
व्यक्तः समं पञ्चशतैः स्वशिष्यैः
पथि प्रवव्राज जिनाधिपोक्ते ॥ १७ ॥

इत्यमुना प्रकारेण वीरवक्त्रात् श्रीवीरस्वामिनो मुखात् युक्तीरुपपत्तीर्निशम्य श्रुत्वा तदालोचनेन समशून्यताया सर्वशून्यताया आविर्भावकं मोहमज्ञानं विहाय त्यक्त्वा व्यक्तो नाम उपाध्यायः, पञ्चशतैः स्वशिष्यैः समं सार्द्धं जिनाधिपोक्ते श्रीवीरप्रभुदर्शिते पथि मार्गे प्रवव्राज प्रव्रज्यां गृहीतवान् ॥ १७ ॥

→※ इति व्यक्ताचार्यदीक्षाग्रहणम् ॥ ४ ॥ ※←

अथ सुधर्मणस्तदाह—

यत्संशयच्छिज्जगदेकनाथः श्रीवर्द्धमानोऽवततार विश्वे ।
श्रुत्वेति मेधाविवरः सुधर्मा समुत्सुकोऽभूज्जिनदर्शनाय ॥ १८ ॥

यः कश्चित् संशयो यत्संशयस्तं छिनत्तीति यत्संशयच्छित् संशयमात्रच्छेदीत्यर्थः, अत एव जगतो विश्वस्य एकनाथो जगदेकनाथः एवंविधः श्रीवर्द्धमानो जिनो विश्वे लोकेऽवततार अवतरति स्म, इति श्रुत्वा मेधाविषु विद्वत्सु वरः श्रेष्ठः सुधर्मानामा द्विजः उपाध्यायो जिनदर्शनाय श्रीवीरप्रभुदर्शनार्थं समुत्सुकोऽभूत् । दर्शनायेति । अत्र 'प्रसितोत्सुकाभ्यामिति' तृतीयासप्तम्योः प्राप्तौ सत्यामपि तादर्थ्यविवक्षया चतुर्थी ॥ १८ ॥

---

१ अत्र 'निशम्य युक्तिमिति' काशीमुद्रितपाठः प्रामादिकः, छन्दोभङ्गदोषवत्त्वादसारश्च ।

छात्रैः समं पञ्चशतैः प्रणन्दन्नागत्य तस्थौ जिनसंमुखं सः ।
कृपालुरप्याह मुधा सुधर्मन् ! मोहं प्रयासीति समं सदृक्षम् ॥१९॥

स सुधर्मा पञ्चशतैश्छात्रैः समं सार्द्धं प्रणन्दन् समृद्धिमान् सन् आगत्य जिनसंमुखं तस्थौ अवतिष्ठते स्म । ततः कृपालुः सर्वजगज्जन्तुषु दयावान् भगवानपि तं प्रति आह उवाच । किमाहेत्याह—हे सुधर्मन् ! समं सर्वं मनुष्यादिकं सदृक्षं इहभवसदृशं परभवेऽपि स्यात् इति मुधा वृथा मोहं मौढ्यं प्रयासि प्राप्नोषि । अयं भावः—त्वमेवं मन्यसे यो मनुष्यादिः यादृश इह भवे स परभवेऽपि तादृश एव स्यात् । नन्वयुक्तोऽयं तव संशयः यतोऽसौ विरुद्धवेदपदश्रुतिनिबन्धनो वर्त्तते तानि चाऽमूनि वेदपदानि 'पुरुषो वै पुरुषत्वमश्नुते पशवः पशुत्वम्' इत्यादि । यथा 'शृगालो वै एष जायते यः सपुरीषो दह्यते' इत्यादि । एषां च वेदपदानाममुमर्थं मन्यसे त्वं, पुरुषो मृतः सन् परभवे पुरुषत्वमेवाऽश्नुते प्राप्नोति, तथा पशवो गवादयः पशुत्वमेवे-त्यादि, अमूनि किल भवान्तरगतजन्तुसादृश्यप्रतिपादकानि, तथा शृगालो वै इत्यादीनि तु वैसादृश्यस्यापनानीत्यतस्तव संशयः, अयं चायुक्त एव, यतोऽमीषां वेदपदानां नायमर्थः किन्तु वक्ष्यमाणलक्षण इति ॥ १९ ॥

अमुमेवार्थं सुधर्माऽभिमतयुक्त्युक्तिपूर्वं दर्शयन्नाह—

सदृक्षता कारण-कार्ययोर्य-
द्यवो विशीर्य्याऽपि यवं प्रसूते ।
तथा मनुष्यो हि भवेन्मनुष्यो
नारी तु नारीति पुमान् पुमांश्च ॥ २० ॥

अपि संभावने कारण-कार्ययोः सदृक्षता सादृश्यमस्ति कारणानु-

रूपमेव कार्यं भवतीत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तमाह—यद् यतो यवो धान्यविशेषो विशीर्य्य भूजलसंयोगे विदीर्य्य, अङ्कुररूपेण भूत्वेत्यर्थः, यवं प्रसूते उत्पादयति, यथा यवबीजानुरूपो यवाङ्कुर इत्यर्थः, तथा तेनैव प्रकारेण हीति निश्चितं, य इह भवे मनुष्यः स परभवेऽपि मनुष्यो भवेत् तत्रापि तु इति विशेषे नारी स्त्री नारी एव भवेत् च पुनः पुमान् पुरुषः पुमानेव भवेदिति त्वं संभावयसीत्यर्थः । अयं भावः—इहभवकारणं चान्यजन्म, ततस्तेनापि इहभवसदृशेन भवितव्यमित्येवं मन्यमानस्त्वं इहभवसदृशं सर्वं पुरुषादिकं परभवेऽप्यवेषीति ॥ २० ॥

गीयेत वेदे च शरीरभाजां
समस्तयोनिग्रहणं समेषाम् ।
सन्देहमुत्पादयतीति वाक्यं
शृण्वग्निवैशायन ! तत्समाधिम् ॥ २१ ॥

च पुनर्वेदे शृगालो वै इत्यादिके समेषां सर्वेषां शरीरभाजां जीवानां समस्तयोनिग्रहणं सर्वयोनिस्वीकारो गीयेत उच्येत, इतीत्थं उभयरूपं वेदवाक्यं सन्देहं संशयं उत्पादयति । हे अग्निवैशायनगोत्रीय ! सुधर्मन् ! तत्समाधिं तस्य समाधानं त्वं शृणु ॥ २१ ॥

यत् कारणेनाऽनुगुणं हि कार्यं
नैकान्तिकं तत्परिभावनीयम् ।
नो चेत्तदा किं तपनीयसिद्धिः
केनाऽपि योगेन भवेद्यस्तः ? ॥ २२ ॥

हीति निश्चितं यत्कारणेन अनुगुणमनुरूपं सदृशमित्यर्थः, कार्यं त्वयाऽभिमतमिति वाक्यशेषः । तत् एकान्तिकं नैश्चयिकं न परि-

भावनीयं विचार्य्यं, नो चेत् यद्येवं न स्यात्, कारणानुरूपमेव कार्यं चेत्स्यादित्यर्थः, तदा केनापि योगेन औषध्यादिप्रयोगेण अयस्तो लोहात् तपनीयस्य स्वर्णस्य सिद्धिर्निष्पत्तिः, किमिति प्रश्ने, भवेत्?, कार्यकारणवैषम्यात्साऽपि न स्यादित्यर्थः। भवति हि सा, तस्मान्न कारणानुरूपमेव कार्यमिति निश्चयः। एवं शृङ्गादपि शरो जायते गोलोमाविलोमभ्यश्च दूर्वा प्रभवति, इत्याद्यपि बोध्यम् ॥ २२ ॥

अथवा कारणानुरूपं कार्यमस्तु अत एव भवान्तरे विचित्ररूपता जन्तूनामिति दर्शयति—

> चेदाग्रहः कारण-कार्यसाम्ये
> तथाऽपि योनिभ्रमणं सुसिद्धम्।
> यत्कारणं कर्म विचित्ररूपं
> विचित्रयोनिरपि किं न कुर्यात्? ॥ २३ ॥

हे सुधर्मन्! तव कारण-कार्ययोः साम्ये सादृश्ये चेद्यदि, आग्रहोऽस्तीति शेषः, तथापि जन्तूनां नानाविधासु योनिषु भ्रमणं सुसिद्धं सुतरां सिद्धम्। कथमित्याह—यद्यस्मात्कारणात् योनिषु भ्रमणे कारणं विचित्रं रूपं स्वरूपं यस्य तद्विचित्ररूपं कर्म, तद्विचित्रयोनिरपि किं न कुर्यात्? कुर्यादेवेत्यर्थः। अयं भावः—मिथ्यात्वाऽविरत्यादिहेतुवैचित्र्याद्विचित्रं कर्म मयाऽभिहितं, ततश्च तज्जन्यस्य भवाङ्कुरस्यापि जात्यादिभेदेन विचित्रता युक्तैव। अत्र प्रयोगः—चित्रं संसारिजीवानां नारकादिरूपेण संसारित्वमिति प्रतिज्ञा, विचित्रस्य कर्मणः फलरूपत्वात् इति हेतुः, इह यद्विचित्रहेतुकं तद्विचित्रं दृष्टं, यथेह विचित्राणां कृषि-वाणिज्यादिकर्मणां फलं लोके इति ॥२३॥

अथाऽमुमेवार्थं स्पष्टतरमाह—

प्राक्कर्मसिद्धिः प्रतिपादितैव या च क्रिया सा फलशालिनीति ।
ततोऽर्जितं कर्म विचित्ररूपं विचित्रयोनिप्रतिपत्तयेऽस्तु ॥२४॥

'या च काचन क्रिया सा फलशालिनी फलवती दृष्टा' इति वचनेन प्राक् पूर्वं अग्निभूत्यधिकारे कर्मसिद्धिः प्रतिपादिता उक्ता एव । ततस्तस्मात् शुभाऽशुभक्रिययाऽर्जितं उपार्जितं विचित्ररूपं कर्म विचित्रयोनीनां प्रतिपत्तये कारणत्वज्ञानाय अस्तु ॥ २४ ॥

अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन दृढयन्नाह—

नाट्ये यथैको भरतो विचित्रान् गृह्णाति वेषानसुमांस्तथैव ।
ततः सुधर्मन् ! परिहृत्य मोहं मन्यस्व सर्वत्र विचित्रभावम् ॥२५॥

यथा नाट्ये नृत्ये एको भरतो नटो विचित्राननेकविधान् वेषान् नेपथ्यानि गृह्णाति रचयति, तथैव असुमान् जीवो नानायोनिषु नानारूपान् देहान् गृह्णातीत्यर्थः । ततस्तस्मात्कारणात् हे सुधर्मन् ! मोहमज्ञानं परिहृत्य त्यक्त्वा सर्वत्र सर्वस्मिन् जगति विचित्रभावं विचित्रत्वं मन्यस्व जानीष्व । भरत इति । 'शैलूषो भरतः सर्वकेशी' इत्यादि (हैमः) 'नटः कृशाश्वी शैलाली'ति हैमः । असुमानिति । असवः प्राणाः सन्त्यस्येति अस्त्यर्थे मतुप् । किं च 'पुरुषो वै पुरुषत्वमश्नुते' इत्यादीनां वेदपदानामयमर्थः—कोऽपि पुरुषः खल्विह जन्मनि प्रकृत्या भद्रको विनीतः सानुक्रोशोऽमत्सरश्च मनुष्यनाम-गोत्रे कर्मणी बद्ध्वा मृतः सन् पुरुषत्वमश्नुते, न तु नियमेन सर्व एव, अन्यस्याऽन्यकर्मवशगस्याऽन्यथाप्युत्पत्तेः । एवं पशवोऽपि केचिन्मायादिदोषवशात्पशुनामगोत्रे कर्मणी बद्ध्वा परभवे पशवो जायन्ते न तु सर्वेऽपि नियमेन, कर्मापेक्षित्वाज्जीवगतेरिति ॥ २५ ॥

इत्थं भगवता संशये छिन्ने सति सुधर्मा किं कृतवानित्याह—

ततः सुधर्माऽपि बुधः प्रबुद्धो
दीक्षां ललौ पञ्चशतैः स्वशिष्यैः ।
अथाऽऽगतो मण्डितसूरिराज-
स्सार्द्धैस्त्रिभिश्छात्रशतैः समेतः ॥ २६ ॥

ततस्तदनन्तरं बुधो विद्वान् सुधर्मापि प्रबुद्धो भगवद्वचनात्प्रबोधं प्राप्तः सन् पञ्चशतैः स्वशिष्यैः सह दीक्षां ललौ गृह्णाति स्म । 'ला आदाने' अस्मात्कर्त्तरि लिट् । इति सुधर्मस्वामिदीक्षाग्रहणमुक्त्वा मण्डितस्य तदाह—अथानन्तरं मण्डितो नाम सूरिराजः पण्डितमुख्यः अर्द्धेन शतेन सह वर्त्तमानैः सार्द्धैस्त्रिभिश्छात्राणां शिष्याणां शतैः समेतो युक्तः सन् आगतो भगवत्समीपमिति शेषः ॥ २६ ॥

आगच्छ भो पण्डित ! मण्डित ! त्वं
स्वामीति संभाष्य पुनस्तमाख्यत् ।
जीवस्य किं कर्मभिरस्ति बन्धो
मोक्षश्च वा नेति जहाहि मोहम् ॥ २७ ॥

'भो मण्डितपण्डित ! त्वं आगच्छ' इति संभाष्य इत्थं संभाषणं कृत्वा स्वामी वीरप्रभुः, पुनस्तं मण्डितं आख्यत् अवोचत् । आङ्‌पूर्वात्ख्याधातोर्लुङ् 'अस्यतिवक्ति–' (३।१।५२) इति च्लेरङ् । किमाख्यदित्याह—जीवस्य कर्मभिः सह बन्धो मोक्षश्च किं अस्ति न वा इति मोहं संशयात्मकमज्ञानं त्वं जहाहि परित्यज, 'ओहाङ् त्यागे' जौहोत्यादिकोऽस्माल्लोट् । अत्रायं भावः—हे मण्डित ! त्वमिदं मन्यसे—किं बन्धमोक्षौ स्तो न वा ? इति । अयं चानु-

चितंस्तव संशयो विरुद्धवेदपदश्रुतिनिबन्धनत्वात् । तथाहि—'स एष विगुणो विभुः न बध्यते संसरति वा न मुच्यते मोचयति वा, न वा एष बाह्यमभ्यन्तरं वा वेद' इत्यादीनि वेदपदानि, तथा 'न ह वै सशरीरस्य प्रियाऽप्रिययोरपहतिरस्ति अशरीरं वा वसन्तं प्रियाऽप्रिये न स्पृशतः' इत्यादीनि च । एतेषां चार्थं त्वं न जानासि, यतोऽयमेतदर्थस्तव चेतसि वर्तते, तद्यथा—स एषः अधिकृतो जन्तुर्विगुणः सत्त्व-रज-स्तमोगुणरहितो विभुः सर्वगतो न बध्यते, पुण्य-पापाभ्यां न युज्यते इत्यर्थः । संसरति वा नेत्यनुवर्तते । न मुच्यते न कर्मणाऽभियुज्यते, बन्धस्यैवाभावात् । 'मोचयति वा नान्य'-मित्यनेनाऽकर्तृकत्वमाह । न वा एष बाह्यमात्मभिन्नं महदहङ्कारादि अभ्यन्तरं निजस्वरूपमेव वा वेद विजानाति, प्रकृतिधर्मत्वाज्ज्ञानस्य, प्रकृतेश्चाऽचेतनत्वात् । ततश्चामूनि 'किल 'बन्ध-मोक्षाभावप्रतिपाद-कानि । तथा न ह वै नैवेत्यर्थः सशरीरस्य प्रियाऽप्रिययोरपहतिरस्तीति बाह्या-ध्यात्मिकाऽनादिशरीरसन्तानयुक्तत्वात् सुख-दुःखयोरपहतिः, संसारिणो नास्तीत्यर्थः । अशरीरं वा वसन्तममूर्तमित्यर्थः । प्रियाऽ-प्रिये न स्पृशतः तत्कारणभूतस्य कर्मणोऽभावादित्यर्थः । अमूनि च बन्धमोक्षावभिधाय कानीत्यतः संशयः, तत्र स एष विगुणो विभुरि-त्यादीनां नाऽयमर्थः किन्तु वक्ष्यमाणलक्षण इति ॥ २७ ॥

उक्तमेवार्थं सङ्क्षेपतः सूत्रकृदाह—

बद्धो हि जीवो विवशोऽत्र विश्वे
नानागतीर्याति पुनर्न मुक्तः ।
बद्धो न चाऽयं विगुणो न मुक्तो
वेदोक्तिभिर्वेति दधासि शङ्काम् ॥ २८ ॥

१ बाह्यः अनादिशरीरसन्तानः-औदारिकादिः, आध्यात्मिकश्च कार्मणः ।

वाऽथवा वेदोक्तिभिः प्रागुक्तवेदवचनैस्त्वमिति शङ्कां दधासि धारयसि, इतीति किमित्याह—हीति निश्चितं, अत्रास्मिन् विश्वे जगति कर्मभिर्बद्धो जीवो विवशः कर्मवशत्वादनात्मवशः सन् नानागतीर्याति अनेकविधासु गतिषु संसरतीत्यर्थः, न पुनर्मुक्तः कर्मविरहितो जीवः, कर्मविरहादेव तस्य* तदसंभवात्। अयं च जन्तुर्विगुणः सत्त्वादिगुणरहितो न बद्धः कर्मभिर्न (च) मुक्त इति कथं नानागतिगमनमेतस्य सङ्घटीति ? ॥ २८ ॥

इत्थं मण्डितस्य संशयमाविष्कृत्य तद्वितर्कितयुक्तिं प्रादुष्कुर्वन्नाह—

स्यात् सादिबन्धे सति चेतनादे-
निर्हेतुकत्वान्न हि संभवोऽपि।
अनादिबन्धे तु भवेन्न मोक्षो
युक्तीरिति स्फोरयसे वृथा त्वम् ॥ २९ ॥

आत्मना सह कर्मणः सादिबन्धे सति हीति निश्चितं, निर्हेतुकत्वाद्धेत्वभावात् चेतन आदिर्यस्य स चेतनादिस्तस्य, आत्मकर्मणोरित्यर्थः, संभवोऽपि न स्यात् उत्पत्तिरपि न भवेत्, आस्तां संयुक्ततयाऽवस्थानमिति अपिशब्दार्थः। अनादिबन्धे तु सति मोक्षो न भवेत्, अनादेः संयोगस्य जीवाकाशयोरिवाऽनन्तत्वदर्शनात्, तथाचानिष्टापत्तिः, इतीत्थं त्वं वृथा युक्तीः स्फोरयसे। अयमत्र भावार्थः—हे मण्डित! त्वमेवं मन्यसे जीवस्य यः कर्मणा सम्बन्धः स आदिमान् आदिरहितो वा, यद्यादिमांस्ततः किं पूर्वं जीव उत्पद्येत, पश्चात्कर्म ?, पूर्वं

---

* तस्याऽऽत्मनः तदसंभवात्—संसारस्यासंभवात्।

वा कर्म पश्चाज्जीव उत्पद्येत ?, युगपद्वा तौ द्वावपि उत्पद्येयाताम् ?, इति पक्षत्रयम् । तत्र पूर्वं जीवः पश्चात्कर्मेत्याद्यपक्षस्तु अयुक्तः । यतो न कर्मणः पूर्वं खरशृङ्गस्येवात्मनः संभवो युक्तोऽहेतुकत्वात् । इह यदहेतुकं तन्न जायते, यथा खरशृङ्गं, यच्च जायते तन्निर्हेतुकमपि न भवति, यथा घटः, निष्कारणस्य च जातस्य निष्कारण एव विनाशः स्यादिति । अथ कर्मणः पूर्वमात्माऽनादिकालसिद्ध एवेति किं तस्य सहेतुक-निर्हेतुकत्वचिन्तयेति चेत्तर्हि जीवस्य कर्मबन्धो न प्राप्नोति, अकारणत्वादाकाशस्येव । अथ निष्कारणोऽप्यसौ भवति तर्हि मुक्तस्याऽपि पुनः स भविष्यति निष्कारणत्वाविशेषात्ततश्च मुक्तावप्यनाश्वासोऽथवा कर्मयोगाभावान्नित्यमुक्त एवाऽसौ भवेत्, यदि वा बन्धाभावे कस्यास्य मोक्षव्यपदेशः ? न ह्यस्य नभसो मुक्तव्यपदेशः कस्यापि संमतः, बन्धपूर्वकत्वान्मोक्षस्य, तस्मान्न पूर्वं जीवः पश्चात्कर्मेत्याद्यविकल्पः । अथ पूर्वं कर्म पश्चाज्जीवो युगपद्वा द्वावपीति ? पक्षद्वयमपि न संभवति, तथा हि—न च जीवात्प्राक्कर्मणोऽपि समुद्भवो युक्तः । कर्तुर्जीवस्य तदानीमभावादक्रियमाणस्य च कर्मत्वायोगान्निष्कारणश्चेत्कर्मसमुद्भवः स्यात्तर्हि अकारणजातस्याऽकारणत एव विनाशोऽपि स्यादिति । तथा युगपदुत्पत्तिभावे च प्रत्येकपक्षोक्ता दोषा वाच्याः, निर्हेतुकत्वात्प्रत्येकवदुभयस्यापि समुदितस्यानुत्पत्तिरित्यादि । न च युगपदुत्पन्नयोर्जीवकर्मणोरयं जीवः कर्ता इदं च ज्ञानावरणादिपुद्गलवृन्दं कर्मेति कर्तृ-कर्मभावो युज्यते, यथा लोके सव्येतरगोविषाणयोरिति । अथ द्वितीयो मूलविकल्पो न संभवति, तथा हि—यदि अनादिरेव जीव-कर्मणोः सम्बन्धः स्यात्तर्हि मोक्षो न घटते, यस्मायोऽनादिः संयोगः सोऽनन्तो दृष्टो यथा जीवाऽऽका-

शयोः। नहि आकाशेन सह जीवस्य कदाचिदपि संयोगो निवर्त्तते। एवं कर्मणाऽपि सहाऽसौ न निवर्त्तते, तथा च सति मुक्त्यभावप्रसङ्गः, इत्युक्तयुक्त्या बन्ध-मोक्षौ जीवस्य न घटेते, श्रूयेते च वेदवाक्येष्वेतौ ततस्तव संशयोऽयमिति ॥ २९ ॥

इत्थं पूर्वपक्षमुक्त्वा प्रतिविधानमाह—

गृहाण सौम्योत्तरमेतदत्र
परस्परं कारण-कार्यभावात्।
अनादिसन्तानमवेहि कर्मा-
ङ्गयोस्तु बीजाङ्कुरवन्मनीषिन्! ॥ ३० ॥

हे सौम्य! अत्राऽस्मिन् सन्दिग्धेऽर्थे एतदनन्तरमुच्यमानमुत्तरं गृहाण अङ्गीकुरु। किमेतदित्याह—मनीषा बुद्धिरस्याऽस्तीति मनीषी तत्सम्बुद्धौ हे मनीषिन्! हे प्राज्ञ! कर्म च अङ्गं च कर्माङ्गं तयोः कर्म-शरीरयोः तु इति विशेषे, बीजाङ्कुरवत् बीजाङ्कुरयोरिव परस्परमन्योन्यं कारण-कार्यभावादऽनादिसन्तानमऽनादिसन्ततिमवेहि जानीहि। इदमत्र तात्पर्यम्—"यत्तावदुक्तं किं पूर्वं जीवः पश्चात्कर्म उत व्यत्यय इत्यादि?"—तत्सर्वमयुक्तं, 'कुत इति चेदु'च्यते—शरीरकर्मणोरनादिः सन्तान इति प्रतिज्ञा, परस्परं कारणकार्यभावात्, बीजाङ्कुरवदिति। ततश्च प्रागुक्तं सर्वमघटमानम् एवाऽनादित्वात् तत्सन्तानस्येति। देहकर्मसन्तानस्याऽनादित्वं त्वित्थं अस्ति—स कश्चिद्देहो योऽग्रेतनस्य कर्मणः कारणं यश्चान्यस्यातीतस्य कर्मणः कार्यं, तथा कर्माऽपि तत् समस्ति यदग्रेतनस्य देहस्य कारणं, यश्चान्यस्यातीतस्य देहस्य कार्यमित्येवमनादौ संसारे न क्वचिद्विश्राम इत्यतोऽनादिर्देहकर्मसन्तान इति। आह—'ननु बन्धमोक्षाविह साधयितुं प्रस्तुतौ ततः

सकर्मसंन्तानस्यानादित्वसाधनमसम्बद्धमिव लक्ष्यते'—तदयुक्तमभिप्रायापरिज्ञानात् । नहि अकृतं कर्म सम्भवति, क्रियते इति कर्म इति व्युत्पत्तेः, यच्च तस्य करणं तदेव बन्ध इति कथं न तत्सिद्धिः ? तथा देहकर्मणोः कर्ता[1] कर्मदेहस्वरूपकरणयुक्तो जीवोऽवगन्तव्यो घटस्य दण्डादिकरणयुक्तकुलालवदिति ॥ २० ॥

यच्चोक्तं 'योऽनादिः संयोगः सोऽनन्तो दृष्ट इत्यादि' तत्राह—

अनादितो मृन्मिलितं सुवर्णं यथा वियुज्येत कृताऽभ्युपायात् ।
अनादिबद्धो घनकर्मजालैर्ज्ञानक्रियाभ्यां हि तथाऽयमात्मा २१

यथाऽनादितोऽनादिकालात मृदा मृत्तिकया मिलितं सुवर्णं कृतो विहितो योऽभ्युपायोऽग्नितापादिरुपायः तस्माद्वियुज्यते, मृत्तिकातः पृथग्भवतीत्यर्थः । तथा तेनैव प्रकारेण घनैर्निबिडैः कर्मजालैरनादिबद्धोऽयमात्मा जीवो हीति निश्चितं, ज्ञानक्रियाभ्यां सदागमाभ्यासतपःसंयमाद्युपायाभ्यां कर्मभ्यो वियुज्यते । एतावता यथा काञ्चनोपलयोरनादिकालप्रवृत्तसन्तानमागतयोऽपि संयोगोऽग्नितापाद्युपायाद्व्यवच्छिद्यते तथा जीवकर्मणोरपि संयोगोऽनादिसन्तानगतोऽपि तपःसंयमाद्युपायाद्व्यवच्छिद्यते इति न मोक्षाभाव, इति निर्गलितार्थः । एवं बीजाङ्कुरयोः कुक्कुटा-ण्डकयोः पिता-पुत्रयोरपि च अन्यतरद् यदाऽनिष्पादितकार्यमेव विनश्यति, तदा तयोरपि अनादिः सन्तानो व्यवच्छिद्यते इति योऽनादिसन्तानः सोऽनन्तोऽपीति नाऽयमेकान्त इति ॥ २१ ॥

पुनर्जीवकर्मणोः सन्तानस्याऽनादित्वमेव स्पष्टयन्नाह—

1 क्रमेण ।

अनादिमिथ्यात्वकषाययोगाऽव्रतप्रमादाभिधहेतुसङ्गात् ।
अज्ञानभावेन यतः प्रवृत्तिं जीवस्य विद्धात्त्वमनादितोऽपि ॥३२॥

हे मण्डित ! यतो यस्मात्कारणात् मिथ्यात्वानि आभिगृहिकादीनि कषायाः क्रोधादयः योगा मनोयोगादयः अव्रतानि प्राणातिपाताऽविरत्यादीनि तान्येव प्रमादा अनवधानतास्वरूपास्तेऽभिधा नाम येषां ते तथोक्ता एवंविधा ये हेतवः कर्मबन्धकारणानि ते तथोक्ता, अनादिः आदिरहितो यो मिथ्यात्वकषाययोगाव्रतप्रमादाभिधहेतूनां सङ्गस्तस्मात्, पुनरज्ञानस्य यो भावः सद्भावस्तेन त्वं अनादितोऽपि अनादिकालादपि जीवस्य प्रवृत्तिं विविधकर्मबन्ध-नानायोनिपरिभ्रमणादिरूपां विद्धात् जानीहि, अनादिमिथ्यात्वादिहेतुसम्बन्धादनादिरेव जीवकर्मसन्तान इति भावः ॥ ३२ ॥

अनादिकर्माणि तदाश्रयाणि तत्सन्ततोत्पत्तिरनादिरेवम् ।
अज्ञानयोगात्सगुणोऽयमात्मा स्वकर्मबद्धव्यपदेशमेति ॥ ३३ ॥

स जीव आश्रयो येषां तानि तदाश्रयाणि, अनादीनि कर्माणि, सन्तीति शेषः । एवममुना प्रकारेण तेषां जीवाश्रितकर्मणां सन्ततं निरन्तरमुत्पत्तिरप्यनादिरस्ति । ततश्च अज्ञानयोगादज्ञानसम्बन्धात् सगुणस्तमोगुणादियुक्तोऽयमात्मा स्वकर्मभिर्बद्ध इत्येवंरूपो यो व्यपदेशः कथनं तम् एति प्राप्नोति ॥ ३३ ॥

पिता स पुत्रश्च पिता स पुत्रः सम्बन्ध एष क्व विराममेति ? ।
तथा निमित्तं हि तदेव कर्मान्वयोऽप्ययं शृङ्खलयाऽस्त्यनादिः ३४

कश्चिद्विवक्षितः पुमान् स्वपुत्रस्य पिता वर्तते, स एव स पितुः पुत्रश्च तथा यस्मादयं समुत्पन्नः सोऽस्य पिता वर्तते, स एव स्वपितुः

पुत्रश्च एवमेष पितापुत्रसम्बन्धः क विराममवसानमेति प्राप्नोति?, अनादित्वान्न क्वापीत्यर्थः। तथा तेनैव प्रकारेण हीति निश्चितं, यदतीतस्य देहादेः कार्यतापन्नं कर्म तदेव निमित्तं अमेतनदेहादेः कारणमस्ति। अयमन्वयो जीव-कर्मणोरनुगमोऽपि शृङ्खलयाऽनादिरस्ति ॥ ३४ ॥

'अथाऽरूपिणि जीवे कथं रूपिणः कर्मणो बन्ध?–' इत्याशङ्कामपाकर्तुमाह—

अरूपिणि व्योमनि चेन्निबन्धं घटादिकानामुत मन्यसे त्वम्?।
तत्कर्मणः पौद्गलिकस्य बन्धं किं शङ्कसेऽनादिविमूढजीवे ३५

'उत प्रश्नवितर्कयो'रिति हेमचन्द्रोक्तेः। उतेति प्रश्ने, हे मण्डित! चेद्यदि त्वं अरूपिणि व्योमनि आकाशे घटादिकानां घटपटादिपदार्थानां नितरां बन्धो निबन्धस्तमात्यन्तिकसम्बन्धं मन्यसे, तर्हि अनादिविमूढो मोहाद्याकुलो यो जीवस्तस्मिन् पौद्गलिकस्य पुद्गलैर्निष्पन्नस्य कर्मणो बन्धं प्रति किं शङ्कसे कथं शङ्काविषयं करोषि? उभयत्र न्यायस्य समानत्वान्न कोऽप्यत्र शङ्काऽवकाश इति भावः ॥ ३५ ॥

इत्थमनादिबन्धं प्रतिपाद्य मुक्तस्वरूपं दर्शयन्नाह—

ज्ञात्वा पुनः स्वं च परं परेभ्यो निवर्तमानो विलसन् स्वभावे।
निःशेषशुद्धोऽक्रियतां प्रपन्नो मुक्तो निगद्येत सदा चिदात्मा ३६

स्वमात्मानं परं सकलपदार्थेभ्यो भिन्नं ज्ञात्वा परेभ्योऽन्येभ्यः पुद्गलादिभ्यो निवर्तमानः पृथग् भवन् पुनः स्वभावे ज्ञानादिस्वरूपे विलसन् विलासं कुर्वन्, लीनो भवन्निति यावत्। निःशेषेण कर्म-

मलापगमात् सामस्त्येन शुद्धो निर्मलीभूतो अत एव अक्रियतां सूक्ष्मबादरमनोवाक्काययोगविवर्जितत्वं प्रपन्नः प्राप्तः सन् चिदात्मा शुद्धज्ञानमय आत्मा सदा सर्वकाले मुक्तो निगदेत कर्मनिर्मुक्तः सिद्धात्मा उच्येतेत्यर्थः । चः पादपूरणे ॥ ३६ ॥

तदेवं युक्तिभिः बन्ध-मोक्षौ व्यवस्थाप्य वेदवाक्यद्वारेणाऽपि तद्व्यवस्थामाह—

यन्निर्गुणो नैव कदापि बद्धो
व्याख्यायि वृद्धैरिह चिन्मयोऽयम् ।
तन्निश्चयाऽध्यानमपेक्ष्य लक्ष्यं
चैतन्य-जाड्योभयभावभेदात् ॥ ३७ ॥

चिन्मयस्तत्त्वतो ज्ञानमयोऽयमात्मा वृद्धैः प्राक्तनपुरुषैः इहाऽस्मिन् 'स एष विगुणो विभुर्न बध्यते' इत्यादौ वेदवाक्ये यन्निर्गुणस्तमोगुणादिशून्यस्तथा कदापि कर्मभिर्नैव बद्ध एवंरूपो व्याख्यायि व्याख्यातस्तन्निश्चयाध्वानं निश्चयमार्गं मोक्षमपेक्ष्य आश्रित्य लक्ष्यं ज्ञातव्यम् । कुत इत्याह—चैतन्येत्यादि । चैतन्यं च चेतनत्वं च जाड्यं च जडत्वं च ते च यौ उभौ भावौ तयोर्भेदो भिन्नत्वं तस्मात् । अयमर्थः—चैतन्यमात्मस्वभावो जाड्यं तु कर्मादिपुद्गलस्वभावः, आत्मकर्मणोश्च क्षीरनीरन्यायेन सम्बन्धस्ततश्च व्यवहारनयमपेक्ष्य न प्रायेण चैतन्य-जाड्यभावयोर्भेदः, निश्चयापेक्षया तु सर्वथा भेदोऽस्त्येव, ततो मुक्तौ सर्वथा जाड्यापगमात् शुद्धचैतन्यस्यैव च सद्भावात्, 'स एष विगुण' इत्यादि वेदवाक्यानां मुक्तजीवविषयत्वं बोध्यम् । मुक्तस्य च बन्धाभावेऽविप्रतिपत्तिरेवेति 'न ह वै

सशरीरस्य' इत्यादिवेदवाक्याभ्यां तु स्फुट एव बन्धो मोक्षश्च प्रतिपादितोऽस्तीति नात्र शङ्का कार्या ॥ ३७ ॥

तदेवं भगवता छिन्नसंशयोऽसौ किं कृतवानित्याह—

निशम्य युक्तीरिति वीतशङ्कः श्रीवीतरागोक्तगभीरवाचाम् ।
स मण्डितोऽपि स्वपरिच्छदेन सावद्यकृत्याद्विरतो बभूव ॥३८॥

इत्युक्तप्रकारेण श्रीवीतरागेण वीरस्वामिना उक्ता या गभीरवाचो गम्भीरवाण्यस्तासां सम्बन्धिनीर्युक्तीरुपपत्तीः निशम्य श्रुत्वा स मण्डितोऽपि द्विजोपाध्यायो वीता गता शङ्का यस्य स वीतशङ्कः सन् स्वपरिच्छदेन निजशिष्यपरिकरेण सह सावद्यकृत्यात् सपापकार्यात् प्राणातिपातादेः विरतो निवृत्तिमान् बभूव पारमेश्वरीं प्रव्रज्यां जग्राहेत्यर्थः ॥ ३८ ॥

—※ इति मण्डितस्वामिदीक्षाग्रहणम् ॥ ६ ॥ ※—

अथ मौर्यपुत्रस्य तदाह—

सार्वज्ञ्यमाकर्ण्य जिनेश्वरस्य
श्रीमण्डितं प्रव्रजितं च बुद्ध्वा ।
समाययौ मौर्यबुधः सतन्त्रः
शिवाध्वचारोत्सुकचित्तवृत्तिः ॥ ३९ ॥

जिनेश्वरस्य श्रीवीरप्रभोः सर्वज्ञस्य भावः सार्वज्ञ्यं सर्वज्ञत्वं आकर्ण्य जनमुखात् श्रुत्वा च पुनः श्रीमण्डितं प्रव्रजितं प्रभुपार्श्वे गृहीतप्रव्रज्यं बुद्ध्वा ज्ञात्वा सतन्त्रः सपरिवारः पुनः शिवाध्वनि मोक्षमार्गे यश्चारः चरणं गमनं तत्रोत्सुका चित्तवृत्तिर्यस्य स तथोक्त एवंविधो मौर्यो मौर्यपुत्रो बुधो विद्वान् समाययौ प्रभुपार्श्वे समायातः ॥ ३९ ॥

ततो भगवता यदुक्तं तदाह—

भो मौर्यपुत्राऽमरलोकवार्ता
सती न वा संशयवानिति त्वम् ।
'मायोपमान् पश्यति निर्जरान् को'
व्यामोहयेदित्यपि वेदवाक्यम् ॥ ४० ॥

भो मौर्यपुत्र! अमरलोकवार्ता देवलोकप्रवृत्तिः सती विद्यमाना न वा इति संशयोऽस्त्यस्येति संशयवान् त्वमसि । किं देवाः सन्ति न वा? इति संशयः तव चेतसि वर्तते इत्यर्थः । अत्र संशये हेतुमाह—'मायोपमान् मायासदृशान् निर्जरान् देवान् कः पश्यति?' इति वेदवाक्यमपि त्वं व्यामोहयेत् व्यामोहं भ्रान्तिमुत्पादयेत् । अयं भावः—उभयथाऽपि वेदपदश्रवणात्तवायं संशयः । तथा हि—'स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गलोकं गच्छति' इत्यादि तथा 'को जानाति मायोपमान् गीर्वाणान् इन्द्र-यम-वरुण-कुबेरादीनि'त्यादि । एषां च वेदपदानामयमर्थस्तव बुद्धौ प्रतिभासते—यथा स एष यज्ञ एव दुरितदारणक्षमत्वादायुधं यस्याऽसौ यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा प्रगुणेन न्यायेन स्वर्गलोकं गच्छतीति देवसत्ताप्रतिपत्तिः, को जानातीत्यादीनि [illegible] देवाभावप्रतिपादकानि, अतस्तव संशयो, अयुक्तश्चायम्, यतोऽमीषां वेदपदानां नायमर्थः, किं त्वयं वक्ष्यमाणलक्षण इति ॥ ४० ॥

इत्थं मौर्यपुत्रस्य सन्देहं प्रादुष्कृत्य भगवांस्तद्वितर्कितयुक्तिं प्रकटयन्नाह—

त्वमूहसे नैरयिका यदार्ता आश्रुतिमृच्छन्ति न दुःखदिग्धाः ।
स्वायत्ततापामपि यत्सुराणां नाश्रुतिरीर्ष्येव ततो वितर्कः ॥४१॥

यद्बलात्कारणाद् नैरयिका नरकवर्तिनो जीवा आर्ता क्षेत्रजादिवि-

विषवेदनया पीडिताः अत एव दुःखेन मानसिकाऽसुखेन पारवश्यादिना दिग्धा उपचिताः सन्ति, अतो न आवृत्तिं इहागमनं ऋच्छन्ति प्राप्नुवन्ति । परं सुराणां देवानां स्वायत्ततायां स्वाधीनतायां सत्यामपि यत् आवृत्तिरागमनं न ईक्ष्येत न दृश्येत, ततो वितर्कः किं सुराः सन्ति न वा ? इत्येवंरूपो विमर्शः, समुत्पद्येत इति शेषः, इति त्वमूहसे चिन्तयसि ॥ ४१ ॥

स्युर्यज्ञकर्माणि सुराश्रयाणि प्रतीयते तेन तु देवसत्ता ।
विरुद्धवाचस्तव चित्तमेवं विधूनयन्त्यस्तिकिनास्तिभावात् ॥४२॥

सुरा देवा एव आश्रयो येषां तानि सुराश्रयाणि यज्ञकर्माणि हविर्दानादीनि सर्वाण्यपि यज्ञकार्याणि स्युर्भवेयुः, देवानुद्दिश्यैव हविर्दानादिप्रवृत्तेरिति भावः । तु इति विशेषे, तेन हेतुना देवसत्ता देवानां सद्भावः प्रतीयते ज्ञायते, 'को जानाति' इत्यादिवाक्येन च देवाऽभावो ज्ञायते इत्युक्तमेव प्राक्, एवमित्थं विरुद्धा विरुद्धार्थसूचिकाः वाचो वेदवाण्योऽस्तिकिनास्तिभावात् सुराणामस्ति-नास्तित्वमाश्रित्य तव चित्तं विधूनयन्ति भ्रामयन्ति । चुरादिण्यन्तस्य धूञो 'धूञ्प्रीञोः' (वा०) इति नुक् । अस्तिकीत्यादि । अस्तीति तिङन्तप्रतिरूपकमव्ययं 'अव्ययसर्वनाम्नाम्' (५।३।७१) इति टेः प्रागकच् । अस्त्येवास्तिकि अस्तिकि च नास्तिकि च अस्तिकिनास्ति, तयोर्भावस्तस्मात् स्यब्लोपे पञ्चमी ॥ ४२ ॥

अत्रोत्तरमाह—

प्रत्यक्षतः पश्य मनोज्ञवेषा-
न्देवानिमानत्र चतुर्निकायान् ।

जानीहि मा केचिदिमे मनुष्याः
सन्तीति पश्याऽनिमिषत्वमेषु ॥ ४३ ॥

मनोज्ञो वेषो येषां ते मनोज्ञवेषास्तान् तथा चत्वारो निकाया निवासा येषां ते चतुर्निकायास्तान् भवनपत्यादिचतुर्विधान् इमान् देवान् अत्र प्रदेशे प्रत्यक्षतः प्रत्यक्षप्रमाणेन पश्य विलोकय, इमे केचिन्मनुष्याः सन्तीति मा जानीहि । कथमित्याह—एषु पुरःस्थितेषु अनिमिषत्वं निर्निमेषत्वं पश्य, मनुजा हि चक्षुर्निमेषोन्मेषक्रियावन्तो भवेयुः न चामी तथा, इति सिद्धं स्पष्टमेवैतेषु देवत्वमिति तात्पर्यम् ॥ ४३ ॥

अथैतद्दर्शनात्पूर्वं यः सन्देह आसीत् स तु युक्तो भवेदित्यपि न वाच्यं कुत इत्याह—

ज्योतिष्कचक्रं विचरन्तमभ्रे
प्रत्यक्षतः पश्यसि किं न सूरे ! ।
जानीहि मा किञ्चिदिदं प्रमेयं
तेजोमयं वाऽप्मयमेव वाऽस्ति ॥ ४४ ॥

हे सूरे ! हे विद्वन् ! अभ्रे आकाशे विचरन्तं ज्योतिष्कचक्रं ज्योतिर्देवमण्डलं प्रत्यक्षतः किं न पश्यसि ? एतावता पश्यस्येवेत्यर्थः । एतेन प्रागपि सन्देहो न युक्त इत्यावेदितं, किं च इदं नभसि प्रत्यक्षतो दृश्यमानं प्रमातुं योग्यं प्रमेयं ज्ञेयं सूर्यबिम्बादिवस्तु तेजोमयं वह्निमयं वाऽथवा अपः स्वरूपमस्येति अप्मयं जलमयमेव वाऽस्तीति मा जानीहि । अयमर्थो यदुत को जानाति किमेतद्भवेत् ? किं सूर्योऽग्निमयो गोलश्चन्द्रस्तु अम्बुमयः स्वभावतः स्वच्छ इति सूर्यादीनां कथ-

मेतेषां देवत्वसिद्धिरिति माऽनवुध्यस्वेति ॥ ॥ ४४ ॥

अत्र प्रतिविधानमाह—

तत्त्वे जडत्वाद्गतिरीक्ष्यते किं सचेतनत्वे खलु युज्यते सा ।
तवाऽत्र चेदालयमात्रबुद्धिस्तथाऽपि ये वासभृतः सुरास्ते ॥४५॥

तत्त्वे सूर्यादेरग्निमयत्वेऽम्बुमयत्वे च सति जडत्वादचेतनत्वाद् गतिर्नियतप्रदेशे गमनं किमीक्ष्यते ? कथं दृश्यते इत्यर्थः । खलु निश्चितं सा विशिष्टा गतिः सचेतनत्वे सति युज्यते उपपद्यते, ततो नियतगतिमत्त्वादेव तेषां देवत्वसिद्धिरिति भावः । पुनरपि तदाशङ्कामाविष्कृत्य भगवानाह—तवेत्यादि । चेद्यदि अत्र ज्योतिश्चक्रे आलया एव आलयमात्रं चन्द्रादिविमानानि न तु देवा इति बुद्धिस्तव भवेत् । अयमर्थः—'यथा शून्यं पुरं लोकानामालयमात्रं स्थानमात्रं न तत्र लोकाः सन्ति' एवं चन्द्रादिविमानान्यपि आलया एव न तत्र देवाः केचित्तिष्ठन्तीति, अतः कथं तेषां प्रत्यक्षत्वम् ? इति चेत्तव बुद्धिः, तथापि वासं तद्विमाननिवासं बिभ्रतीति वासभृतः तदालयवासिनो ये केऽपि सन्ति ते सुरा देवा, ज्ञेया इति शेषः । यो हि आलयः स सर्वोऽपि तन्निवासिनाऽधिष्ठितो दृष्टः, यथा प्रत्यक्षोपलभ्यमाना देवदत्ताद्यधिष्ठिता वसन्तपुराद्यालयाः, आलयाश्च ज्योतिष्कविमानान्यत आलयत्वान्यथाऽनुपपत्तेर्ये तन्निवासिनस्ते देवा ज्ञेया इति भावः । इह पुनराक्षेपपरिहारविस्तरस्तु इहत्यविशेषावश्यकवृत्तेर्ज्ञेयः ॥ ४५ ॥

अथ प्रसङ्गादेतेषां मेरुं प्रदक्षिणीकृत्य परिभ्रमणे हेतुमाह—

---

१ सूर्यादीनाम् ।

रतिर्गतावेव सहाऽप्यमीषां चिरन्तनी वा स्थितिरस्ति लोके ।
यल्लोकपालानुमताः सुराद्रिं प्रदक्षिणीकृत्य परिभ्रमन्ति ॥४६॥

अमीषां ज्योतिष्कदेवानां सदाऽपि सर्वस्मिन्नपि काले गतौ गमने एव रती रागो विद्यते यत आगमेऽमी गतिरतिका उच्यन्ते । वाऽथवा लोके चिरन्तनी चिरकालोद्भवा स्थितिर्मर्यादाऽस्ति । कासावित्याह— यत् लोकपालैः सोमादिभिरनुमता अनुज्ञाता अमी ज्योतिष्काः सुराद्रिं मेरुगिरिं प्रदक्षिणीकृत्य परिभ्रमन्ति पर्यटन्ति । ज्योतिष्का हि प्रायेण लोकपालानामपत्यस्थानीयाः श्रीभगवत्यां प्रोक्ताः सन्ति अत एतद्विशेषणम् ॥ ४६ ॥

पुनर्देवास्तित्वे युक्त्यन्तरमाह—

तथा सुरा व्यन्तरका मनुष्यान्
सुखानि दुःखानि च लम्भयन्तः ।
सन्ति प्रसिद्धास्तददृश्यता तु
प्रतीयतां वैक्रियकाययोगात् ॥ ४७ ॥

यथा ज्योतिष्काः प्रत्यक्षतः परिभ्रमन्तो दृश्यन्ते, तथा तेनैव प्रकारेण व्यन्तरा एव व्यन्तरकाः, उपलक्षणादन्येऽपि केचित् सुरा देवा मनुष्यान् विभवप्रदानादिना सुखानि, च पुनस्तदपहरणादिना दुःखानि लम्भयन्तः प्रापयन्तः प्रसिद्धाः सन्ति । ततो राजादिवत्कथमेते न सन्ति? इति भावः । यद्येवं तर्हि कथं ते सर्वदा मनुष्यादिवन्न दृश्यन्ते इत्याशङ्क्याह—तदित्यादि । तेषामदृश्यता तददृश्यता तु वैक्रियकायस्य वैक्रियशरीरस्य यो योगो व्यापारः

---

१ लोकपालानुमता इति ।

सम्बन्धो वा तस्मात्प्रतीयतां ज्ञायताम्। वैक्रियकायो हि विविधक्रियामुद्भवति, ततो दृश्यो वाऽदृश्योऽपि वा भवेन्नात्र किञ्चिद्बाधकमिति भावः । लम्भयन्त इति । लभेर्हेतुमण्ण्यन्तात् शतृ, 'लभेश्च', (७।१।६४) इति नुम् । एतद्योगे 'गतिबुद्धि–' (१।४।५२) इत्यादिना मनुष्यानिति अणौ कर्तुर्णौ कर्मत्वम् ॥ ४७ ॥

वैक्रियशरीरमाश्रित्योक्तमेवार्थं स्पष्टयन्नाह—

स्थूलं च सूक्ष्मं लघु च प्रलम्बं दृश्यं तथाऽदृश्यमपि प्रकाशम् ।
देहं यदृच्छानुगतं सुराणां यद्वैक्रियं स्याद्विविधक्रियातः ॥४८॥

सुराणां देवानां यदृच्छानुगतं स्वेच्छानुसारिदेहं शरीरं भवेत् । कथमित्याह—कदाचित् स्थूलं पुष्टं भवेत्, च पुनः कदाचित् सूक्ष्ममतिकृशं भवेत् । एवं कदाचित् लघु ह्रस्वं कदाचिच्च प्रलम्बं दीर्घम्, एवमेव कदाचित् प्रकाशं प्रकटं दृश्यं दर्शनार्हं तथा कदाचिददृश्यमपि भवेत्, यथस्मात्कारणादुक्तनीत्या विविधक्रियातोऽनेकविधरूपकरणादिक्रियामाश्रित्य वैक्रियं शरीरं स्यात् । ततश्च कदाचिददृश्यत्वेऽपि न नास्तित्वशङ्का कार्येति भावः ॥ ४८ ॥

प्रकारान्तरेणाऽपि देवास्तित्वं साधयन्नाह—

अत्युग्रपापद्रुफलोपभोगः
स्यातो यथा नैरयिकेषु सद्भिः ।
तथा महापुण्यफलोपभुक्त्यै[1]
देवा निरुक्ताः खलु तारतम्यात् ॥ ४९ ॥

यथा सद्भिर्विद्वद्भिर्नैरयिकेषु नारकजीवेषु अत्युग्रं प्रबलतरं पाप-

1 अत्र 'महापुण्यफलोपभुक्तौ' इति काशीमुद्रितपाठः, स च टीकाकृतां न सम्मत इति प्रतिभाति ।

मेव हुः वृक्षस्तस्य फलानां विविधदुःखरूपाणामुपभोगो विपाकानुभवः ख्यातः प्रोक्तस्तथा खलु निश्चितं तारतम्यात् तरतमयोगेन, स्वस्वपुण्यानुसारेणेत्यर्थः। महापुण्यफलानां परमैश्वर्यादिसुखस्वरूपाणामुपभुक्त्यै उपभोगाय देवा निरुक्ता निर्निश्चयेनोक्ताः, सन्तीति शेषः। एतावता यथा स्वकृतोत्कृष्टपापफलभोगिनो नारकास्त्वया प्रतिपन्नास्तथा स्वोपार्जितसुबहुपुण्यफलभुजो देवा अपि प्रतिपत्तव्या इति भावः ॥ ४९ ॥

अथ 'को जानाति मायोपमानि'त्यादिवेदवाक्यस्य तात्पर्यमाह—

मायोपमत्वं यदवादि वेदे ह्यनित्यतायाः प्रतिपादकं तत्।
न चेदिदं यज्ञविधिस्तु सत्यो भवेत्कमुद्दिश्य मनोरथाप्त्यै ॥५०॥

अत्र देवानामिति शेषः, ततश्चाऽयमर्थः—वेदे देवानां यन्मायोपमत्वं इन्द्रजालमायातुल्यत्वमवादि कथितं तत् हीति निश्चितं, अनित्यतायाः प्रतिपादकमभिधायकं ज्ञेयम्। अयं भावः—को जानाति मायोपमान् गीर्वाणान् इन्द्र-यम-वरुण-कुबेरादीनित्यादिवाक्यं यद्वेदे उक्तं तदपि न देवनास्तित्वाभिधायकं किंतु सुराणामपि मायोपमत्वाभिधानेन शेषर्द्धिसमुदायानां सुतरामनित्यताप्रतिपादकं बोधव्यमिति। 'विचित्ररूपाश्रयणात्तदेतत्' इति पाठान्तरम्, तत्राऽयमर्थः—यद्वेदे देवानां मायोपमत्वमुक्तं तदेतद्विचित्ररूपाणामनेकविधरूपाणामाश्रयणाद्विधानात् ज्ञेयमिति। चेयदि इदं मागुक्तं देवास्तित्वं न भवेत् तर्हि तु इति विशेषे, मनोरथाप्त्यै स्ववाञ्छितप्राप्तये क्रियमाणो यज्ञविधिरग्निहोत्रादियज्ञानुष्ठानं कं पदार्थमुद्दिश्य सत्यो भवेत्, यतो 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम' इत्यादिना वेदवाक्येन स्वर्गरूपं यज्ञफलमुक्तं, स्वर्गिणां चाभावे कुतः स्वर्ग इति यज्ञविधे-

वैफल्यमेव प्रसज्यते, उपलक्षणात् समस्तलोकप्रसिद्धं दानादिफलमप्ययुक्तं स्यात् । तथा देवाऽभावे वेदमन्त्रपदैर्देवाह्वानमपि वृथैव भवेत् । तस्माद्युक्तितो वेदवाक्येभ्यश्च सन्ति देवा इति स्थितम् ॥ ५० ॥

अथैवं भगवता छिन्नसंशयो मौर्यपुत्रः किं कृतवानित्याह—

इति श्रुत्वा युक्तीर्जिनपतिसुधासोदरगिरां
पुनस्तत्रोपेतं प्रकटमवधार्य्याऽमरगणम् ।
त्रिभिः सार्द्धैः[1] सार्द्धं विनयवनतैः खण्डिकशतैः
स मौर्यः प्राव्राजीत्परमपदलिप्सुर्द्विजवरः ॥ ५१ ॥

इति इत्थं जिनपतेः श्रीवीरस्वामिनः सुधासोदरा अमृततुल्या या गिरो वाचस्तासां युक्तीः श्रुत्वा पुनस्तत्र समवसरणे उपेतं प्राप्तममरगणं देवसमूहं प्रकटमवधार्य्य निश्चित्य स मौर्यो मौर्यपुत्रो नाम द्विजवरो ब्राह्मणमुख्यः परमपदं मोक्षं लिप्सुर्लब्धुमिच्छुः सन् विनयेन अवनतैर्नम्रैः सार्द्धैः अर्द्धशतैर्सहितैस्त्रिभिः खण्डिकानां छात्राणां शतैः सार्द्धं सह प्राव्राजीत् प्रभोः पार्श्वे प्रव्रज्यां जग्राह । विनयवनतैरिति । 'वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः' इति वचनादल्लोपः । इदं शिखरिणी वृत्तम्, तल्लक्षणं च 'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी' इति ॥ ५१ ॥

इति श्रीव्यक्त-सुधर्म-मण्डित-मौर्यपुत्राणां दीक्षाग्रहणवर्णनो नाम नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

इति स्पष्टम् ।

इति गौतमीयमहाकाव्यव्याख्यायां गौतमीयप्रकाशाख्यायां नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

---

[1] इह 'सार्धं सार्धं' इति काशीमुद्रितपाठश्चिन्त्यः ।

दशमः सर्गः ।

अथ श्रुत्वेन्द्रभूत्यादीन् श्रेयःश्रामण्यसंश्रितान् ।
अकम्पितोऽप्युपाध्यायो वीरं वन्दितुमाययौ ॥ १ ॥

विशुद्धविज्ञानकरं प्रसार्य ह्यकम्पिताद्यो भवसिन्धुमध्यात् ।
समुद्धृतो येन जिनेश्वराय नमोऽस्तु तस्मै त्रिशलाऽऽत्मजाय ॥१॥

अथानन्तरं श्रेयोऽतिप्रशस्यं श्रामण्यं श्रमणत्वं संश्रितमङ्गीकृतं यैस्ते, तान् तथाभूतान् इन्द्रभूत्यादीन् द्विजान् श्रुत्वाऽकम्पितो नाम उपाध्यायोऽपि वीरं श्रीवीरप्रभुं वन्दितुं नमस्कर्तुं आययौ समाजगाम ॥ १ ॥

अभाषत जगन्नाथोऽप्यकम्पित ! किमूहसे ? ।
तिर्यङ्-नरा-ऽमराः सन्तु नारकाः सन्ति वा न वा ॥ २ ॥

जगतां नाथो जगन्नाथः श्रीवीरप्रभुरपि अभाषत तं भाषते स्म । किमित्याह—हे अकम्पित ! तिर्यञ्चश्च नराश्च अमराश्च देवास्तिर्यङ्-नराऽमराः सन्तु परं नारका जीवाः सन्ति वा न वा इति त्वं किं ऊहसे कथं वितर्कयसे ?, इमां शङ्कां मा कृथा इत्यर्थः । इदमत्र तात्पर्यम्—किं नारकाः सन्ति न वेति त्वं मन्यसे, अयं च तव संशयो विरुद्धवेदपदश्रवणनिबन्धनः । तथा हि—'नारको वै एष जायते यः शूद्रान्नमश्नाति' इत्यादि। एष ब्राह्मणो नारको जायते यः शूद्रान्नमत्तीत्यर्थः, इत्यादिवाक्यानि नारकसत्ताप्रतिपादकानि । 'न ह वै प्रेत्य नारकाः सन्ति' इत्यादीनि तु नारकाभावप्रतिपादकानि । एतेषामर्थं युक्तिं च त्वं न जानासि तेन संशयं दधासि, परमऽयुक्तोऽयं संशयो यत एषामयं वक्ष्यमाणोऽर्थ इति ॥ २ ॥

इत्थं संशयं प्रादुष्कृत्य भगवांस्तद्वितर्कितयुक्तिं प्रकटयन्नाह—

प्रकटं वीक्ष्य ज्योतिष्कान् प्रतीतिस्ते सुरेष्वपि ।
तिर्यङ्नरास्तु प्रकटाः प्रेक्ष्यन्ते नात्र संशयः ॥ ३ ॥
तुरीयगतिरुच्येत जीवानां निरयाह्वया ।
नेक्षितास्तद्गता जीवा गृहीता न च लिङ्गतः ॥ ४ ॥
अंत[1] आरेकसे तत्राऽस्तित्व-नास्तित्व-चिन्तया ।
परं यच्च त्वदध्यक्षं तदप्रत्यक्षमेव न ॥ ५ ॥

त्रिभिः सम्बन्धः ।

हे अकम्पित ! ज्योतिष्कान् देवान् प्रकटं यथा स्यात्तथा वीक्ष्य दृष्ट्वा, अपिशब्दादऽन्यान् अप्रत्यक्षानपि सुरान् विद्यामन्त्रोपयाचितकादिफलसिद्ध्याऽनुमानतो ज्ञात्वा सुरेषु देवेषु ते तव प्रतीतिरस्ति, तिर्यङ्नरास्तु प्रकटा एव प्रेक्ष्यन्ते दृश्यन्ते अतोऽत्रापि संशयो नास्ति ॥ ३ ॥ परं निरयो नरक आह्वयो नाम यस्याः सा निरयाह्वया या जीवानां तुरीयगतिश्चतुर्थी गतिरुच्येत शास्त्रे कथ्येत, तद्गतास्तां गतिं प्राप्ता जीवा नारका न ईक्षिताः न साक्षाद्दृष्टाः, न च लिङ्गतः केनचिल्लिङ्गेनाऽनुमानेन गृहीताः ॥ ४ ॥ अतोऽस्मात्कारणात्तत्र नारकेषु अस्तित्व-नास्तित्वयोश्चिन्तया विचारेण त्वं आरेकसे संदेहं दधासि 'रेकृ शङ्कायां' कर्त्तरि लट् । परं हे अकंपित ! यद्वस्तु त्वदध्यक्षं तव प्रत्यक्षं नास्ति तत् सर्वेषामपि अप्रत्यक्षमेवेति न ज्ञेयम् ॥ ५ ॥

अत्र भगवान् युक्तिमाह—

सन्ति यद्यपि सिंहाद्याः केषांचिन्नाक्षिगोचराः ।
तथापि ते च केषाञ्चित्प्रत्यक्षा वनवासिनाम् ॥ ६ ॥

---

१ 'तत आरेकसे' इति काशीमुद्रितः पाठः टीकाकृदसम्मतः ।

सिंहाद्याः सिंह-शरभ-हंसादयो जन्तुविशेषा यद्यपि केषाञ्चिन्मनुष्याणामक्षिगोचरा दृष्टिविषया न सन्ति, तथापि च ते सिंहाद्याः केषाञ्चिद्वनवासिनां वनेचराणां भिल्लादीनां प्रत्यक्षाः सन्त्येव ॥ ६ ॥

त्वदप्रत्यक्षेऽपि तथा प्रत्यक्षा मम नारकाः ।
तान् प्रतीहि मदुक्त्यैव, प्रमाणं यत आप्तवाक् ॥ ७ ॥

तथा तेनोक्तेनैव प्रकारेण नारकास्त्वदप्रत्यक्षेऽपि एतन्निर्देशस्य भावप्रधानत्वात्तवाऽप्रत्यक्षत्वेऽपि, मम प्रत्यक्षा एव सन्तीति शेषः, तान् नारकान्मदुक्त्या मद्वचनेनैव प्रतीहि सन्तीति जानीहि । यतो यस्मात् आप्तस्य यथार्थवक्तुर्वाक् प्रमाणं यथार्थज्ञानजनने हेतुरस्ति । अतो मदुक्त्यैव नारका अपि सन्तीति प्रतिपद्यस्वेति तात्पर्यम् ॥ ७ ॥

अथाभिप्रायान्तरमाशङ्क्य परिहरन्नाह—

प्रत्यक्षं मन्यसे यत्त्वं प्रत्यक्षं तन्न तत्त्वतः ।
इन्द्रियोद्भवविज्ञानं परोक्षं तत्तु तात्त्विकम् ॥ ८ ॥

हे अकम्पित ! यत् इन्द्रियोद्भवविज्ञानं चक्षुरादीन्द्रियजन्यज्ञानं त्वं प्रत्यक्षं मन्यसे तत्तत्त्वतः परमार्थतः प्रत्यक्षं नास्ति । तु इति विशेषे, तत् ज्ञानं तात्त्विकं पारमार्थिकं परोक्षं वर्त्तते । अयं भावः— यदिन्द्रियाणां प्रत्यक्षं तदेव प्रत्यक्षमिष्यते भवता, मदीयं तु प्रत्यक्षं नाभ्युपगम्यतेऽतीन्द्रियत्वात् । स तु महानयं विपर्यासो यत उपचारमात्रत एव तदिन्द्रियप्रत्यक्षतया व्यवह्रियते । यथा चाऽनुमाने बाह्यधूमादिलिङ्गद्वारेण बाह्यमग्न्यादि वस्तु ज्ञायते । नैवमत्र, तत्र उपचारादप्रत्यक्षमिव प्रत्यक्षमुच्यते । परमार्थतस्तु इदमपि परोक्षमेव, यतोऽसौ जीवः स चानुमानवदत्रापि वस्तु साक्षान्न पश्यति किं त्विन्द्रिय-

द्वारेणैव । ततोऽतीन्द्रियमेव सत्यं प्रत्यक्षं ज्ञातव्यम्, तत्र जीवेन साक्षादेव वस्तुन उपलम्भादिति ॥ ८ ॥

अथामुमेवार्थं स्पष्टयन्नाह—

उणादिकोऽक्षशब्दो यः स्याद्व्याप्त्यर्थाशिधातुजः ।
तद्वाच्य आत्मा प्रति तं गतं प्रत्यक्षमुच्यते ॥ ९ ॥

व्याप्तिरर्थो यस्य स व्याप्त्यर्थ एवंविधो योऽशिधातुः, 'अशूङ् व्याप्तौ' इत्याकारको धातुः, तस्माज्जातो व्याप्त्यर्थाऽशिधातुजः, उणादौ भव उणादिक, उणादिकप्रत्ययान्त इत्यर्थः । एवंविधो योऽक्षशब्दः स्यात्, उपलक्षणात् 'अक्षू व्याप्तौ' इति धातोः पचाद्यजन्तान्निष्पन्नोऽक्षशब्दोऽपि बोध्यः, तस्याऽक्षशब्दस्य वाच्योऽभिधेय आत्मा तं प्रति गतं प्राप्तं प्रत्यक्षमुच्यते । 'अक्षो रथस्यावयवे व्यवहारे बिभीतके । पाशके शकटे कर्षे ज्ञाने चात्मनि रावणे' इति हैमः (अनेकार्थः) ॥ ९ ॥

शाब्दिकैरक्षिशब्देन प्रत्यक्षं यत्प्रसाधितम् ।
तत्तु चाक्षुषमेव स्यान्न[1] स्याद्वा रासनादिकम् ॥ १० ॥

शब्दं शब्दशास्त्रं विदन्ति अधीयते वा शाब्दिका वैयाकरणास्तैः 'अक्ष्णोराभिमुख्यमित्यादिव्युत्पत्त्याऽक्षिशब्देन यत् प्रत्यक्षं पदं प्रसाधितं निष्पादितं तत्तु अर्थमाश्रित्य चक्षुषोर्भवं चाक्षुषं चक्षुरिन्द्रियजन्यज्ञानविषयमेव प्रत्यक्षं स्यात् । वाशब्दः पुनरर्थः, रसनायां जिह्वायां भवं रासनं तदादिर्यस्य तत् रासनादिकं पुनः प्रत्यक्षं न

---

1 इह 'न स्याद् रासनादिकम्' इति काशीमुद्रितः पाठश्छन्दोनुरोधेन स्मारसकैकल्पाच्च त्याज्यः ।

स्यात्, अक्षिशब्दस्य चक्षुःपर्यायत्वादिति भावः । प्रत्यक्षमित्यत्र 'लक्षणेनाभिप्रती-' (२।१।१४) इत्यादिना समासः, 'प्रतिपरसमनुभ्योऽक्ष्णः' (गणसूत्रम्) इति टच् । 'यस्येति च' (६।४।१४८) इति लोपः ॥ १० ॥

प्रत्यक्षतानिवेशार्थमत्र या काऽपि कल्पना ।
सा गौरवात्कथं ग्राह्या पूर्वोक्तौ लाघवं यदि ॥ ११ ॥

अत्र रासनादिप्रत्यक्षे प्रत्यक्षताया निवेशः स्थापनं तदर्थं या काऽपि कल्पनाऽन्या संभावना सा गौरवात्कथं ग्राह्या? यदि पूर्वोक्तौ पूर्वस्मिन् कथने लाघवं स्यात् । एतावता लाघवं परित्यज्य गौरवं न ग्राह्यमित्यर्थः ॥ ११ ॥

इन्द्रियाणि पराण्येवाऽऽत्मनस्तेन परोक्षता ।
इन्द्रियोद्भवविज्ञाने गौणत्वं यत आत्मनः ॥ १२ ॥

इन्द्रियाणि आत्मनः सकाशात्पराणि अन्यान्येव सन्ति, तेन हेतुना इन्द्रियोद्भवविज्ञाने इन्द्रियजन्यज्ञाने परोक्षता वर्तते, नतु प्रत्यक्षत्वमित्यर्थः, यतो यस्मात् इन्द्रियजन्यज्ञाने आत्मनो गौणत्वमप्रधानत्वमस्ति, अत एव तस्य परोक्षत्वमिति भावः ॥ १२ ॥

द्वारोपचारतश्चैतदपि प्रत्यक्षमस्तु ते ।
घृतमायुरिति ख्यातिर्यतः सत्या प्रवर्त्तते ॥ १३ ॥

च पुनर्द्वाराणि आत्माधिष्ठितदेहस्य द्वारभूतानि इन्द्रियाणि तेषामुपचार आत्मतयाऽऽरोपणं तस्माद्द्वारोपचारतश्चेत् तव मतेन एतदिन्द्रियजन्यज्ञानमपि प्रत्यक्षमस्तु, यतो यस्मादुपचारादेव 'घृतमायुः'

---

१ अत्र 'आत्मोपचारतः' इति पाठीमुद्रितश्चिन्त्यः ।

इति ख्यातिः प्रसिद्धिः सत्या प्रवर्त्तते । अयमर्थः—यथा कारणे कार्योपचारात् आयुषः कारणमपि घृतमायुरित्युच्यते तथा एतज्ज्ञानमप्यस्त्विति ॥ १३ ॥

तव प्रत्यक्षविज्ञाने सत्या चैवं परोक्षता ।
प्रत्यक्षं सकलं यन्मे तेन पश्यामि नारकान् ॥ १४ ॥

एवं च तव मते प्रत्यक्षं यद्विज्ञानं तत्रोपचारात् प्रत्यक्षत्वे सत्यपि सत्या परोक्षतैव विद्यते । इत्थं नारकाऽदर्शने हेतुभूतं तज्ज्ञानपारोक्ष्यमुपदर्श्य स्वस्य तद्वैपरीत्यमाह—यद्यस्मान्मे मम सकलं सर्वं वस्तु प्रत्यक्षं प्रत्यक्षज्ञानविषयकं वर्त्तते तेनाहं नारकान् पश्यामि ॥ १४ ॥

अथोक्तेऽर्थे भगवानुपपत्तिमाह—

अनन्यदृष्टं भावं ते निरीक्षे चेन्मनोगतम् ।
तदा प्रतीहि सकलं प्रत्यक्षं[1] मयि वर्त्तते ॥ १५ ॥

हे अकम्पित ! ते तव न अन्यैरनतिशयज्ञानिभिर्दृष्टं अनन्यदृष्टं मनोगतं भावमभिप्रायं पदार्थं वा चेद्यदि अहं निरीक्षे साक्षात्पश्यामि तदा तर्हि मयि सकलं वस्तु प्रत्यक्षं वर्त्तते इति त्वं प्रतीहि जानीहि ॥ १५ ॥

अतश्चेन्न परीतोषोऽर्थापत्तिं मानमाश्रय ।
बहुधा साधितं वस्तु दृढतामश्नुते यतः ॥ १६ ॥

अतो अस्मत्कथनात् चेद्यदि न परीतोषस्तव परितुष्टता नास्ति तर्हि अर्थापत्तिं मानं प्रमाणमाश्रय अङ्गीकुरु । यतो यस्माद्बहुधा बहुभिः प्रकारैः साधितं वस्तु दृढतां अश्नुते प्राप्नोति ॥ १६ ॥

---

१ इह 'प्रत्यक्षमपि वर्तते' इति काशीमुद्रितपाठोऽस्वारस्यान्न मनोरमः ।

अथाऽर्थापत्तिमेव दर्शयति—

अन्यथाऽनुपपत्त्यैकलक्षणात्किल हेतुतः ।
अर्थापत्तिः प्रमाणं स्यात्पीनोऽयं रात्रिभुग्यथा ॥ १७ ॥

किलेति संभावनायाम्, अन्यथाऽनुपपत्तिरेव एकं लक्षणं यस्य स तस्मात् हेतुतोऽर्थापत्तिः प्रमाणं स्यात् । तत्र दृष्टान्तमाह—पीनोऽयमित्यादि । 'दिवा न भुङ्क्ते' इति वाक्यशेषोऽत्र द्रष्टव्यः । यथा पीनः पुष्टोऽयं देवदत्तादिः पुमान् दिवा न भुङ्क्ते अत्र पीनत्वाऽन्यथानुपपत्त्या रात्रौ भुङ्क्ते इति रात्रिभुक् अर्थापत्त्या ज्ञायते ॥ १७ ॥

एवमशापि भावयति—

उत्कृष्टसुखभोगाय यथा देवाः प्रतिष्ठिताः ।
तथैवैकान्तदुःखाय विना नैरयिकांस्तु के ? ॥ १८ ॥

यथा उत्कृष्टसुखस्य भोगाय भुक्त्यर्थं देवाः प्रतिष्ठिताः प्रतिष्ठां प्राप्ताः सन्ति, तथैव एकान्तदुःखाय अत्यर्थदुःखानुभवनाय नैरयिकान् विना नारकजीवव्यतिरेकेण तु पुनः केऽन्ये ? न केऽपीत्यर्थः । ततश्चार्थापत्त्याऽपि नारकाः सन्तीत्यागतम् ॥ १८ ॥

ननु अतिदुःखिता ये तिर्यग्मनुष्यास्त एवोत्कृष्टपापफलभोगित्वात् नारकव्यपदेशभाजो भविष्यन्ति, किमदृष्टनारककल्पनयेत्याशङ्क्याह—

नैकान्तदुःखभोक्तारस्तिर्यञ्चोऽपि नरा अपि ।
दुःखाद्विश्रान्तिरेतेषां काले काले विलोक्यते ॥ १९ ॥

तिर्यञ्चोऽपि नरा मनुष्या अपि अतिदुःखिता अपि सन्तो, न एकान्तदुःखभोक्तारः सन्ति । यतः काले काले कस्मिंश्चित् अवसरे

अवसरे एतेषामतिदुःखिततिर्यग्नराणामपि दुःखाद्विश्रान्तिर्विश्रामो विलोक्यते दृश्यते । अयमर्थः—येषामुत्कृष्टपापफलभोगस्तेषां संभवद्भिः सर्वैरपि प्रकारैर्दुःखेन भवितव्यं, नचैवमतिदुःखितानामपि तिर्यगादीनां दृश्यते, आलोक-तरुच्छाया-शीतपवन-सरःकूपजलादिषु-सुखस्यातिदुःखितेष्वपि तेषु दर्शनात् नरकप्रसिद्धेश्छेदनभेदनादिप्रकारैर्निरन्तरं च दुःखस्यादर्शनात् । ततश्च न ते उत्कृष्टदुःखभोक्तारः किंतु एतद्व्यतिरिक्ता एव नारकास्तादृशा ज्ञेयाः ॥ १९ ॥

पुनर्नारकास्तित्वे युक्तिमाह—

नारकैरुपमेयाः स्युर्ये चाप्यत्यन्तदुःखिताः ।
तिर्यञ्चो वा मनुष्या वा तस्मात्सन्तः कथं न ते ? ॥ २० ॥

येऽपि च अत्यन्तदुःखितास्तिर्यञ्चो वा मनुष्या वा ते नारकैः उपमेया उपमार्हं योग्याः स्युः, तस्माद्धेतोस्ते नारकाः कथं सन्तो विद्यमाना न वर्तन्ते ?, सन्त एवेति भावः ॥ २० ॥

अमुमेवार्थं द्रढयति—

भावे भावोपमैव स्यान्न खभावेन ह्युचिता ।
वाच्याः शुद्धपदेनैते नाभावा नारकास्ततः ॥ २१ ॥

भावे सद्भूते पदार्थे भावेन सद्भूतपदार्थेन उपमा एव उचिता योग्या स्यात् न खभावेन असद्भूतपदार्थेन खपुष्पादिना उपमा उचिता । तथा एते नरकस्था जीवाः शुद्धं घटपटादिवत्केवलं यन्नारक इत्याकारकं पदं तेन वाच्या अभिधेयाः सन्ति, ततः कारणात् नारका अभावा अभावस्वरूपा, न किंतु भावरूपा एवेति भावः । पदद्वयाभिधेयस्य कस्यचिदर्थस्य वन्ध्यापुत्रादिवदभावत्वेऽपि शुद्धपदाभिधेयस्य

सर्वस्यापि भावत्वमेवेति तात्पर्यम् । यदपि 'न ह वै प्रेत्य नारकाः सन्ति' इत्यादौ वेदवाक्ये नारकाऽभावः शङ्क्यते भवता, तदप्ययुक्तं, यतोऽयमत्राभिप्रायो बोध्यः—न खलु प्रेत्य परलोके मेर्वादिवच्छाश्वताः केचनाप्यवस्थिता नारकाः सन्ति किंतु य इहोत्कृष्टं पापमर्जयति स इतो गत्वा प्रेत्य नारको भवति । अतः केनापि तत्पापं न विधेयं, येन प्रेत्य नारकैर्भूयते इति ॥ २१ ॥

तदेवं भगवता छिन्नसंशयोऽसौ किं कृतवानित्याह—

इत्यादियुक्तिभिर्बुद्धः सह च्छात्रैस्त्रिभिः शतैः ।
अकम्पितोऽपि चारित्रं सामायिकमुपाददे ॥ २२ ॥

इत्यादय एवंप्रकारा या युक्तयो भगवदुक्तोपपत्तयः ताभिर्बुद्धो बोधं प्राप्तोऽकम्पितोऽपि द्विजोपाध्यायः त्रिभिः शतैश्छात्रैः सह सामायिकं चारित्रं उपाददे गृहीतवान् । 'आङो दोऽनास्यविहरणे' (१।३।२०) इत्यात्मनेपदम् ॥ २२ ॥

॥ इत्यकम्पितस्वामिदीक्षाग्रहणम् ॥ ८ ॥

अथाऽचलभ्रातुरुदाह—

आत्मनो मोक्षकार्याय निशम्य प्रस्थितान् मुनीन् ।
अभ्यागतोऽचलभ्रातोपाध्यायश्छात्रसम्पदा ॥ २३ ॥

आत्मनः स्वस्य मोक्षकार्याय मोक्षरूपं कार्यं कर्तुं प्रस्थितान् प्रचलितान् मुनीन् गौतमादिकऋषीन् निशम्य श्रुत्वाऽचलभ्राता नाम उपाध्यायश्छात्राणां स्वशिष्याणां संपत् समृद्धिस्तया सह अभ्यागतः प्रभुसम्मुखमागच्छति स्म ॥ २३ ॥

जगाद जगतां नाथः प्रेक्ष्याऽऽसन्नशिवं च तम् ।
भ्रान्तस्त्वमचलभ्रातर्विकल्पैः पुण्यपापयोः ॥ २४ ॥

चः समुच्चये, यदासावभ्यागतस्तदा जगतां त्रिलोकानां नाथः ईश्वरो भगवान् श्रीवीरस्तमचलभ्रातरं आसन्नं निकटं शिवं कल्याणं मुक्तिर्वा यस्य स तं, तथोक्तं प्रेक्ष्य ज्ञानदृशा विलोक्य जगाद उवाच । किं जगादेत्याह—हे अचलभ्रातः ! त्वं पुण्यपापयोर्विकल्पैः किं पुण्यपापे स्तो न वेति विमर्शैः भ्रान्तः, भ्रमं प्राप्तोऽसीति शेषः । अयं भावः—हे आयुष्मन् ! त्वमेवं मन्यसे 'वा किं पुण्यपापे स्तो न इति' ?, अनुचितश्चायं तव संशयो विरुद्धवेदपदादिश्रुतिनिबन्धनत्वात् । तत्र वेदपदानि तावत् 'पुरुष एवेदं सर्वम्' इत्यादीनि, यथा द्वितीयगणधरे तथा वाच्यानि तेषां चार्थं त्वं न जानासीत्याद्यपि तथा व्याख्येयमिति ॥ २४ ॥

अथ पञ्चभिर्विकल्पैः पुण्य-पापविषयं तत्संशयं प्रादुष्कुर्वन्नाह—

पुण्यमेवाऽस्ति दुःखं तु स्यात्किं तदपकर्षतः ।
पापमेवाऽस्ति किं वाऽत्र सुखं तदपकर्षतः ॥ २५ ॥
स्यातां विविक्ते वा ते द्वे स्वर्णदी-यमुने इव ।
पुण्यपापमयं वस्तु किं वैकं वर्णभेदवत् ? ॥ २६ ॥
अथवा सुख-दुःखानि स्वभावादुद्भवन्ति चेत् ।
किमु तेषां निमित्तत्वे पुण्यपापप्रकल्पनम् ? ॥ २७ ॥
एतेषु च विकल्पेषु तुर्योऽस्माकमपीहितः ।
पुण्यपापमयं वस्तु कर्म पौद्गलिकं यतः ॥ २८ ॥

चतुर्भिः सम्बन्धः ।

किमिति वितर्के, पुण्यमेव एकमस्ति न तु पापं, तर्हि कथं कस्याऽपि दुःखोत्पत्तिरित्याशङ्क्याह—दुःखं तु तस्य पुण्यस्य अपकर्षस्तरतमयोगाद्धानिस्तस्मात् स्याद्भवेत्, न तु पापादित्यर्थः । इत्येको विकल्पः । किं वा अत्रास्मिन् लोके पापमेवैकमस्ति न तु पुण्यं, केवलपापाभ्युपगमे सुखोत्पत्तिः कथमित्याशङ्क्याह—सुखं तु तस्य पापस्याऽपकर्षः क्रमेण हानिस्तस्मात् स्यात्, नतु पुण्यादित्यर्थः । इति द्वितीयो[२] विकल्पः । इहाऽऽद्ये पथ्याहारवत्, द्वितीयेऽपथ्याहारवदिति दृष्टान्तद्वयमभ्यूह्यम्, तद्भावना स्वभे दर्शयिष्यामः ॥ २५ ॥ वाऽथवा ते पुण्यपापे स्वर्णदी च यमुना च स्वर्णदी-यमुने गङ्गा-यमुने इव विविक्ते विभिन्ने स्यातां भवेतां, भिन्नस्वभावयोः सुखदुःखयोः कारणत्वादिति भावः । इति तृतीयो[३] विकल्पः । स्वर्णदीत्यत्र 'गिरिनद्यादीनाम्' (वा०) इति वैकल्पिकं णत्वं, किं वा वर्णभेदो हरितालगुलिकादीनामन्यतरन्मीलितं वर्णकद्वयं उपलक्षणान्मेचकमणिर्नरसिंहादिर्वा तद्वत् पुण्यपापमयं पुण्यपापस्वरूपमेकमेव सङ्कीर्णं वस्तु विद्यते तद्गतेन एकेन पुण्यांशेन सुखं अपरेण पापांशेन च दुःखमुत्पद्यते इत्यर्थः । इति चतुर्थो विकल्पः ॥ २६ ॥ अथवा चेद्यदि सुखदुःखानि स्वभावादेव, पुण्यपापाभ्यां विनैवेत्यर्थः, उद्भवन्ति उत्पद्यन्ते तर्हि तेषां सुखदुःखानां निमित्तत्वे कारणत्वे पुण्यपापयोः प्रकल्पनं किमु ?, किमर्थमित्यर्थः । इति पञ्चमो विकल्पः ॥ २७ ॥ एतेषु तु पञ्चसु विकल्पेषु तुर्यश्चतुर्थो विकल्पोऽस्माकमपि ईहित इष्टः । कथमित्याह—पुण्येत्यादि । यतो यस्मात् पुण्यपापमयं वस्तु पदार्थः पुद्गलैर्निष्पन्नं पौद्गलिकं कर्म वर्तते इति शेषः ।

तच्च शुभाऽशुभपुद्गलात्मकं सामान्येन एकमेवेति भावः । तुर्यं इत्युपलक्षणम्, तेन तृतीयोऽपि विकल्पः कथंचिदस्माकं संमत एव, यतः पुण्यपापरूपतया विशेषविवक्षायां भिन्ने एव पुण्यपापे स्तः ॥ इति उक्तश्लोकचतुष्टयार्थः। एतद्भावना त्वेवम्—इह केषांचित्तीर्थिकानामयं प्रवादः पुण्यमेवैकमस्ति न पापम् ॥ १ ॥ अन्ये त्वाहुः–पापमेवैकमस्ति न तु पुण्यं ॥ २ ॥ अपरे तु वदन्ति उभयमप्यन्योन्यानुविद्धस्वरूपं मेचकमणिकल्पं संमिश्रसुखदुःखफलहेतु साधारणं पुण्यपापाख्यमेकं वस्त्विति ॥ ३ ॥ अन्ये तु प्रतिपादयन्ति स्वतन्त्रमुभयं विविक्तसुखदुःखकारणमिति ॥ ४ ॥ अपरे पुनराहुः—मूलतः कर्मैव नास्ति, स्वभावसिद्धः सर्वोऽप्ययं जगत्प्रपञ्चः ॥ ५ ॥ अतस्त्वमप्येतान् पञ्चविकल्पान्मन्यसे, एतेषां च परस्परविरुद्धत्वात्संशयदोलामारूढोऽसि त्वं, येषां मते पुण्यमेवैकमस्ति तन्मते पुण्यस्य लेशतो लेशतो वृद्धौ सत्यां सुखस्यापि क्रमशो वृद्धिर्भवति तावद्यावदुत्कृष्टं स्वर्गसुखमिति, तदेव च पुण्यं यथा यथा हानिमुपयाति तथा तथा जीवानां क्रमेण दुःखमुत्पद्यते यावत्सर्वप्रकर्षप्राप्तं नरकदुःखं तस्यैव च पुण्यस्य सर्वथा क्षये मोक्षः । एतच्च सर्वं पथ्याहारदृष्टान्ताद्भावनीयम् । तथा हि—यथा पथ्याहारस्य क्रमेण वृद्धौ आरोग्यवृद्धिस्तथा पुण्यवृद्धौ सुखवृद्धिर्यथा च पथ्याहारस्य क्रमेण परिहारे सरोगता भवति एवं पुण्यापचये दुःखोत्पत्तिः सर्वथा पथ्याहारपरिहारे च मरणवत्पुण्यक्षये मोक्ष इति केवलपापमभ्युपगच्छतां मते तु अपथ्याहारदृष्टान्ताद्वैपरीत्येन भावना कार्या । तथा हि—यथा क्रमेणाऽपथ्यवृद्धौ रोगवृद्धिस्तथा पापवृद्धौ दुःखवृद्धिस्तावद्यावदुत्कृष्टं नरकदुःखं यथा चाऽपथ्यत्यागात् क्रमेणारोग्यवृद्धिः, तथा क्रमेण पापस्यापकर्षा-

सुखस्य वृद्धिर्यावदुत्कृष्टं सुरसौख्यं यथा चापथ्याहारस्य सर्वथा परित्यागात् परमारोग्यमुपजायते । एवं सर्वपापक्षये मोक्षः इति शेषविकल्पत्रयभावना तु सङ्क्षेपतः प्रागेव कृता ॥ २८ ॥

इत्थं संशयं प्रादुष्कृत्य मत्यासत्तिन्यायेन पञ्चमविकल्पं तावद्दर्शयितुमाह—

उपेक्ष्य भङ्गकानाद्यान् पञ्चमश्चेह चर्च्यते ।
कोऽयं वस्तुविशेषः स्याद्यः स्वभावोऽभिधीयते ? ॥२९॥

चः पादपूरणे, इह विकल्पपञ्चके आद्यान् भङ्गकान् विकल्पान् उपेक्ष्य अनादृत्य पञ्चमो विकल्पश्चर्च्यते विचार्यते । कथमित्याह—यः स्वभावोऽभिधीयते कथ्यते भवता सोऽयं को वस्तुविशेषः पदार्थभेदः स्यात् विद्यते ? ॥ २९ ॥

स वा मूर्तोऽस्त्यमूर्तो वा ब्रूहि यत्तेऽभिरोचते ।
मूर्त्तत्वे कर्मणः सिद्धावस्माकं सिद्धसाध्यता ॥ ३० ॥

वा पुनः स स्वभावपदार्थो मूर्तो मूर्तिमान् अस्ति किं वाऽमूर्तोऽस्ति यत्ते तुभ्यमभिरोचते तद् ब्रूहि कथय स्वभावस्य मूर्तत्वे सति कर्मणः सिद्धौ निष्पत्तौ सत्यां अस्माकं सिद्धसाध्यतैव । अयमर्थः—यदि त्वं स्वभावस्य मूर्तत्वं स्वीकरोषि तर्हि स्वभावशब्देन कर्मणः सिद्धिर्जाता, तत्सिद्धौ चास्माकं सिद्धसाध्यता कर्मजन्यत्वात् सुखदुःखानामिति । ते इत्यत्र 'रुच्यर्थानां प्रीयमाण' (१।४।३३) इति चतुर्थी ॥ ३० ॥

आकाशवदमूर्त्तत्वे कार्यऽस्य स्यादकर्तृता ।
प्रतिज्ञाते विरोधस्ते भवेदेवं महामते ! ॥ ३१ ॥

१ 'उपेक्ष्य भगवान् नाद्यान्' इति काशीमुद्रितपाठोऽस्माकमुपेक्ष्य एव ।

स्वभावस्य अमूर्त्तत्वे सति अमूर्त्तत्वं स्वीकरोषि चेदित्यर्थः, तर्हि अस्य स्वभावस्य कार्ये उत्पाद्यवस्तुविषये आकाशवत् अकर्तृताऽकर्तृत्वं स्याद् भवेत्, यथा आकाशममूर्त्तत्वात् कस्यापि कार्यस्य न कारकं तथाऽयमपि स्यादित्यर्थः । एवं सति हे महामते! हे महाबुद्धिभृत्! ते तव प्रतिज्ञाते प्रतिज्ञाविषयीकृते स्वभावजन्योऽयं भवप्रपञ्च इत्येवंरूपे अर्थे विरोधो भवेत् । स्वभावस्याऽकर्तृत्वेन भवप्रपञ्चाऽजनकत्वादिति भावः ॥ ३१ ॥

अथ स्वभावमाश्रित्य विकल्पान्तरमाह—

स्वभावो वस्तुधर्मश्चेत्तदाऽसौ यस्य वस्तुनः ।
तस्य मूर्त्तममूर्त्तं वेत्यत्राप्येषैव कल्पना ॥ ३२ ॥

चेद्यदि स्वभावो न वस्तुविशेषः किं तु वस्तुनः कस्यचित्पदार्थस्य धर्मः परिणामोऽस्तीति, त्वं मन्यसे इति वाक्यविशेषः, तदा असौ स्वभावो यस्य वस्तुनो धर्मः तद्वस्तु मूर्त्तं वाऽथवाऽमूर्त्तमस्ति इत्यत्रापि पक्षे एषा अनन्तरोक्तैव कल्पना विचारणा ज्ञेयेति शेषः । चः पादपूरणे ॥ ३२ ॥

तां कल्पनामेव दर्शयति—

अमूर्त्तत्वे ह्यकर्तृत्वं मूर्त्तत्वे सिद्धसाध्यता ।
पुण्यपापस्वभावं यद्वस्तु कर्मप्रतिष्ठितम् ॥ ३३ ॥

हीति निश्चितं, स्वभावो यस्य वस्तुनो धर्मः तस्य वस्तुनोऽमूर्त्तत्वे सति स्वभावस्याऽकर्तृत्वं स्यात्, तस्य मूर्त्तत्वे सति सिद्धसाध्यता एव ।

१ अत्र 'वस्तु कर्म प्रतिष्ठितम्' इति विश्लिष्टः काशीमुद्रितपाठो ह्युपेक्षणीय एव ।

कथमित्याह—यद्यस्मात्कारणात् पुण्यं च पापं च पुण्यपापे ते स्वभावौ यस्य तत्तयोक्तं वस्तु कर्मप्रतिष्ठितं कर्मशब्देन प्रतिष्ठां प्राप्तमित्यर्थः। इदमत्र तात्पर्य्यम्—कर्मणो मूर्त्तत्वेन तत्स्वभावयोः पुण्यपापयोरपि मूर्त्तत्वात्सिद्धं तयोः सुखदुःखादिकर्तृत्वम्, तच्चाऽस्माकं सम्मतमेवेत्यतः सिद्धसाध्यत्वमिति ॥ ३३ ॥

अथ स्वभावमाश्रित्य तृतीयं विकल्पमाह—

स्वभावशब्दवाच्योऽर्थश्चेदकारणता भवेत् ।
तदा समस्तभावानामेकदैव समुद्भवः ॥ ३४ ॥

चेद्यदि स्वभावशब्दस्य वाच्योऽभिधेयः अर्थोऽकारणता निर्हेतुकत्वं भवेत् तदा सर्वभावानां सर्वेषां घट-पटादिपदार्थानां एकदा एव एकस्मिन्नेव काले समुद्भवः समुत्पत्तिः स्यात् ॥ ३४ ॥

अस्तु तर्हि को दोष इत्याशङ्क्याह—

पदार्थाकस्मिकोत्पत्तौ नियताकारता च न ।
दृष्टाऽभ्राणां विकारे न नियताकारता यतः ॥ ३५ ॥

पदार्थानामकस्मादुद्भवा आकस्मिकी, सा चाऽसौ उत्पत्तिश्च तस्यां पदार्थाकस्मिकोत्पत्तौ सत्यां नियताकारता निश्चिताकारत्वं न स्यात्। चः पादपूरणे, यतोऽभ्राणां मेघानां विकारे विविधपरिणतौ नियताकारता न दृष्टा अकस्मादुत्पन्नत्वादिति भावः। तस्मान्नाकारणतास्वभावशब्दार्थः ॥ ३५ ॥

अन्यच्च,—

सम्भवः सुखदुःखानां स्वभावाच्चेद्भवेत्तदा ।
स्रक्-चन्दन-विषादीनां हेतूनां स्यादहेतुता ॥ ३६ ॥

चेद्यदि सुख-दुःखानां सम्भव उत्पत्तिः स्वभावाद्भवेत् तदा स्रक्-चन्दन-विषादीनां सुखादेर्हेतूनां कारणानां प्रत्यक्षतो दृश्यमानानामहेतुता स्यात् । अतोऽपि न पुण्य-पापकर्मव्यतिरिक्तः स्वभावपदार्थः ॥ ३६ ॥

अथ तात्पर्यमाह—

अत्यन्ताऽनुपलब्धेऽपि स्वभावे कर्तृता यदि ।
तदा कर्मणि संसिद्धे कर्तृता किं निषिध्यते ? ॥ ३७ ॥

खपुष्पवत् अत्यन्तमनुपलब्धेऽपि स्वभावे यदि कर्तृता, भवता (स्वी)क्रियते इति शेषः, तदा संसिद्धे युक्त्यादिना सम्यग्[१] निष्पन्ने कर्मणि कर्तृता किं निषिध्यते ?, कथं नाङ्गीक्रियते इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

ननु कथं कर्मसिद्धिरित्याशङ्क्याह—

कर्मसिद्धिस्त्वग्निभूतेर्वादे चैव प्रपञ्चिता ।
पुण्य-पापस्वभावाभ्यां वैशिष्ट्यमिह सम्मतम् ॥ ३८ ॥

च पुनः कर्मणः सिद्धिर्निष्पत्तिस्तु अग्निभूतेर्द्वितीयगणधरस्य वादे एव प्रपञ्चिता विस्तरेणोक्ताऽस्ति, अतोऽत्र पुनर्नोच्यते इति भावः । परं इहाऽस्मिन् प्रस्तावे पुण्य-पापस्वभावाभ्यां वैशिष्ट्यं विशिष्टत्वं युक्तत्वमित्यर्थः, सम्मतं सम्यग्ज्ञानविषयीकृतमस्ति । अयं भावः—प्राक् सामान्यतः कर्मसिद्धिरुक्ता, इह तु पुण्य-पापस्वभावयुक्तं कर्म कथितमिति विशेषः ॥ ३८ ॥

---

१ अत्र 'अत्यन्तानुपलब्धेष्वपि' इति काशीमुद्रितपाठश्छन्दोऽनुरोधादस्वारस्याच्च प्रामादिकः ।

अथ कर्मणः पुण्य-पापस्वभावविवेकं कुर्वन्नाह—

विंशत्युत्तरमानद्धाः कर्मप्रकृतयः शतम् ।
आत्मन्यत्र शुभाः पुण्या अपराः पापसंज्ञिकाः ॥ ३९ ॥

आत्मनि जीवे विंशत्युत्तरं शतं विंशत्यधिकशत(१२०)संख्याः कर्मप्रकृतयः कर्मभेदा आनद्धा बद्धाः सन्ति, अत्राऽस्मिन् विंशत्यधिकशते सुरनरत्रिकादयो द्वाचत्वारिंशत् शुभाः प्रकृतयः पुण्याः, पुण्यप्रकृतय उच्यन्ते इति शेषः । अपरा अन्याः अशुभाः द्व्यशीतिसंख्याकाः पापसंज्ञिकाः पापप्रकृतय उच्यन्ते इत्यर्थः । नन्वेतदुभयमीलने चतुर्विंशत्युत्तरं शतं प्रकृतयो जायन्ते, ततः कथमत्र विंशत्युत्तरं शतमित्युक्तम् ? उच्यते—वर्णादिचतुष्कस्य शुभाऽशुभभेदेन वारद्वयं गणनाच्चतुर्णामाधिक्यं परं बन्धे सामान्यत एव वर्णादिचतुष्कस्योपादानान्नोक्तसङ्ख्याविघात इति ॥ ३९ ॥

अथ सुख-दुःखहेतुकर्मोपदर्शनायाऽऽह—

सातकर्मोदयादाशु प्रजायेत सुखं फलम् ।
असातकर्मप्रभवं फलं दुःखाय जायते ॥ ४० ॥

सातकर्मणः सातवेदनीयकर्मण उदयात् आशु शीघ्रं सुखं सुखस्वरूपं फलं प्रजायेत उत्पद्येत, तथाऽसातकर्मप्रभवं असातवेदनीयकर्मोदयजन्यं फलं दुःखाय जायते, दुःखस्वरूपं भवतीत्यर्थः ॥४०॥

अत्र प्रेरकः आह—

यथाऽऽत्मपरिणामत्वात्सुख-दुःखे अरूपिणी ।
तथैव कारणे किं न पुण्य-पापे उभे अपि ? ॥ ४१ ॥

यथा येन प्रकारेण आत्मनो जीवस्य परिणामत्वात् सुख-दुःखे अरूपिणी स्तः, तथैव तेनैव प्रकारेण सुख-दुःखयोः कारणे उभे द्वे

पुण्यपापे अपि किं न अरूपिणी ? कथं नेत्यर्थः, कार्यानुरूपं हि कारणमिष्यते, कार्यं च सुखादिकमात्मपरिणामत्वादरूपि, ततश्च तत्कारणं पुण्यपापात्मकं कर्माऽपि अरूप्येव प्राप्नोति न रूपवत्, इष्यते च भवद्भिः कर्मणो रूपत्वम्, ततः कथमनयोः कार्यकारणत्वमिति भावः ॥ ४१ ॥

अत्रोत्तरमाह—

विकल्पोऽयमपि त्याज्यः सर्वे भावा यतः स्थिताः ।
तुल्याऽतुल्यत्वरूपेण दोषः कोऽपि ततोऽत्र न ॥४२॥

हे अचलभ्रातः ! त्वयाऽयमपि विकल्पो वितर्कस्त्याज्यः । कथमित्याह—यतो न केवलं कार्यकारणे एव तुल्याऽतुल्यरूपे किं तु सर्वे त्रिभुवनान्तर्गता भावाः पदार्थाः परस्परं तुल्याऽतुल्यत्वरूपेण स्थिताः सन्ति, न पुनः किञ्चित्कस्याप्येकान्तेन तुल्यमतुल्यं चेति भावः । ततस्तस्मात् कारणादत्र सुखादिकारणभूतकर्मणो रूपवत्त्वे न कोऽपि दोषः ॥ ४२ ॥

अमुमेवार्थं श्लोकद्वयेन द्रढयन्नाह—

सुखस्य हेतवो मूर्त्ताः स्रक्-चन्दना-ऽङ्गनादयः ।[1]
एवमेवाऽसुखस्यापि विषा-ऽहि-कण्टकादयः ॥ ४३ ॥
तुल्याऽतुल्यत्वरूपेण कार्य-कारणताऽत्र चेत् ।
तदा पुण्यं च पापं च मूर्त्तत्वेन कथं न हि ? ॥ ४४ ॥

१ यद्यपि 'सुखस्य हेतवो मूर्त्ताः प्रायः स्रक्चन्दनादयः' इत्ययं पाठो वर्वर्ति पठितः काशीमुद्रितपुस्तके ह्यत्र, तथाऽपि 'स्रक्चन्दनाङ्गनादयः' इति पाठः स्वारस्यवैशिष्ट्यात् टीकाकृद्भिरादृत इति प्रतीयते ।

मूर्त्ता मूर्तिमन्तः स्रक्-चन्दना-ऽञ्जनादयः प्रायः सुखस्य हेतवः सन्ति, एवमेव अनेनैव प्रकारेण विषा-ऽहि-कण्टकादयः प्रायोऽसुखस्य दुःखस्य हेतवो विद्यन्ते । अपिः सम्भावनायां, सम्भावय त्वमित्यर्थः ॥ ४३ ॥ चेद्यदि अत्र स्रगादिजन्ये सुखादौ तुल्याऽतुल्यत्वरूपेण कार्य-कारणता[1] वर्त्तते, तदा सुखादिकारणं पुण्यं च पापं च मूर्त्तत्वेन कथं न हि ? उक्तनीत्या इहाऽपि सा न विघटते इत्यर्थः । इह सामान्यतः संभवमात्रमाश्रित्येयं दृष्टान्तयोजना कृताऽस्ति, विशेषावश्यकवृत्तौ तु नैवमिति ॥ ॥ ४४ ॥

तदेवं पुण्य-पापे व्यवस्थाप्येदानीं तयोरेव लक्षणमाह—

सुवर्णादिगुणं सम्यग्विपाकं पुद्गलव्रजम् ।
जीवस्थं सत्क्रियोद्भूतं सर्वं पुण्यमिति स्मृतम् ॥ ४५ ॥
यदेतद्विपरीतं तत्सर्वं पापमिति स्मृतम् ।
एतद्द्वयमपि ज्ञेयं नाऽतिसूक्ष्मं न बादरम् ॥ ४६ ॥

सु शोभना वर्णादयो वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-लक्षणा गुणा यस्य तत्तथोक्तं, तथा सम्यक् समीचीनो विपाकोऽनुभावो यस्य तत्, तथा सत्यं शोभना याः क्रिया दानादिकास्ताभिरुद्भूतं प्रादुर्भूतं एवंविधं जीवस्थं जीवप्रदेशेषु क्षीरनीरन्यायेन स्थितं सर्वं पुद्गलव्रजं पुद्गलसमूहः पुण्यमिति स्मृतं कथितम् ॥ ४५ ॥ यत् पुनरेतस्मात्पुण्याद्विपरीतं विपरीतलक्षणं अशुभवर्णादिगुणमशुभविपाकं जीवघाताद्यसत्क्रियोद्भूतं तत् सर्वं जीवस्थं पुद्गलव्रजं पापमिति स्मृतं, एतत्पुण्यपापरूपं द्वयमुभयमपि यस्तु सूक्ष्मेण कर्मवर्गणाद्रव्येण निष्पन्नत्वेऽपि न परमाण्वादि

---

[1] कार्यकारणता ।

वदतिसूक्ष्मं, न पुनर्मेर्वादिमात्रेन परिणतस्कन्धवद्बादरं स्थूलं ज्ञेयम् ॥ ४६ ॥

प्राक् तुल्याऽतुल्यस्वरूपेण कार्य-कारणता दर्शिता, इदानीं तुल्यत्वरूपेण तामाह—

साम्यं वास्तवबोधे तु कार्य-कारणयोरपि ।
तथा च सत्यं कार्यानुरूपं कारणमुच्यते ॥ ४७ ॥

वास्तवबोधे तात्त्विकज्ञाने तु कार्य-कारणयोः साम्यं साहश्यमप्यस्ति । तथा च सति यत्कार्यानुरूपं कार्यसदृशं कारणमुच्यते तत्सत्यमिति ॥ ४७ ॥

कथमित्याह—

जीवस्यापि परीणामः सुख-दुःखाभिधानकः ।
तद्योगात्तेन कार्यानुरूपं कारणमुच्यते ॥ ४८ ॥

सुख-दुःखाभिधानकः सुख दुःखनामको जीवस्यापि परिणामो विद्यते । न केवलं कर्मण एवेति अपिशब्दार्थः, तेन कारणेन तयोर्जीवसुखाद्योर्यो योगः सम्बन्धस्तस्मात्कार्यानुरूपं कारणमुच्यते । अयं भावः—सुखादीनां कर्मैव केवलं कारणं न भवति, किं तु जीवोऽपि तेषां समवायिकारणं भवति, कर्म तु असमवायिकारणमस्ति, ततश्च सुखादेरमूर्तत्वे तत्समवायिकारणस्य जीवस्याऽप्यमूर्तत्वमस्त्येवेति युक्तमेवोक्तं कार्यानुरूपं कारणमिति ॥ ४८ ॥

अथोपसंहारमाह—

ततः पुण्यं च पापं च सिद्धं पूर्वोक्तयुक्तिभिः ।
पुद्गलस्कन्धमेवैकं विद्धि चित्रितपत्रवत् ॥ ४९ ॥

ततस्तस्मात्कारणात् पूर्वोक्तयुक्तिभिः सिद्धं निष्पन्नं पुण्यं च पापं

च चित्रितपत्रवत् शुभाऽशुभविविधचित्रयुक्तं पत्रमिव एकमेव पुद्गलस्कन्धं विद्धि जानीहि। भिन्नकार्यदर्शनेन तत्कारणभूतयोः पुण्यपापयोः भिन्नत्वविवक्षया तु पुण्य-पापे भिन्ने अपि स्यातामित्यप्युपलक्षणाद्बोध्यम् ॥ ४९ ॥

नन्वत्र पञ्चसु विकल्पेषु अन्तिमपक्षत्रयस्य तु निर्णयोऽकारि, परमाद्यपक्षद्वयस्य का गतिरित्याशङ्क्याह—

पुण्यपापद्वये सिद्धे पक्षौ केवलयोस्तयोः ।
अयुक्तावेव मन्तव्यौ सुयुक्तेरक्षमत्वतः ॥ ५० ॥

उक्तयुक्त्या पुण्यपापद्वये सिद्धे सति केवलयोस्तयोः पुण्यपापयोः पक्षौ अयुक्तौ एव मन्तव्यौ ज्ञातव्यौ । कुत इत्याह—सुयुक्तेः शोभनयुक्तेः अक्षमत्वतोऽसमर्थत्वात् सुयुक्तिं सोढुमशक्तत्वादित्यर्थः । तथा हि—केवलपुण्यपक्षे पुण्याऽपकर्षमात्रेण यद् दुःखबहुलत्वमुक्तं तदयुक्तं, यतस्तद्दुःखबहुलत्वं पुण्यापकर्षजनितं न भवति, किं तु स्वानुरूपकर्मप्रकर्षजनितं वेदनाप्रकर्षानुभवरूपत्वात्, यथा सौख्यप्रकर्षानुभूतिः स्वानुरूपकर्मप्रकर्षप्रभवा इति दृष्टान्तः, एवमत्रोपपत्त्यन्तरमपि विशेषावश्यकवृत्तेर्ज्ञेयम्[1] । तथा केवलपापपक्षेऽपि पापाऽपकर्षमात्रजनितं सुखं न भवति–पापस्याल्पीयसोऽपि दुःखजनकत्वात् । नह्यणीयानपि हि[2] विषलवः स्वास्थ्यहेतुर्भवति, तस्मात्पुण्यजनितमेवाल्पमपि सुखमित्यादि स्वबुद्ध्याऽभ्यूह्य वाच्यमिति ॥ ५० ॥

तदेवं छिन्नसंशयोऽसौ किं कृतवानित्याह—

इत्यादियुक्तिप्रतिबन्धशुद्धचित्तोऽचलभ्रातृबुधः प्रबुद्धः ।
समन्वितश्छात्रशतत्रयेण दीक्षां ललौ वीरजिनेन्द्रशिष्टाम्॥५१॥

---

१ पृ० २५१ श्लो० २५–२६–२७ । २ अत्र 'शुद्धचित्तः' इति पाठे मुद्रितपाठः टीकाकृतो न सम्मतः ।

इत्यादियुक्तीनां प्रतिबन्धः सत्यतया स्वीकारस्तेन शुद्धन्निर्मलीभवच्चित्तं यस्य स तथोक्तोऽथवा इत्यादियुक्तिभिर्यैः प्रतिबन्धः स्वशङ्कानिरोधस्तेनेत्यादि प्राग्वत् । अत एव प्रबुद्धः प्रबोधं प्राप्तोऽचलभ्रातृबुधोऽचलभ्राता नाम पण्डितस्तच्छात्राणां शतत्रयेण समन्वितो युक्तः सन् वीरजिनेन्द्रेण श्रीवर्द्धमानस्वामिना शिष्टां शिक्षारूपेणोक्तां दीक्षां ललौ गृह्णाति स्म । इदमुपजातिच्छन्दः, तल्लक्षणं तु प्रागुक्तमेवेति ॥ ५१ ॥

इति अकम्पिताचलभ्रातृदीक्षाग्रहणवर्णनो नाम दशमः सर्गः ॥ १० ॥

इति स्पष्टम् ।

इति श्रीगौतमीयप्रकाशाख्यायां गौतमीयमहाकाव्यव्याख्यायां दशमः सर्गः ॥ १० ॥

एकादशः सर्गः ।

श्रीवीरपादाम्बुजचञ्चरीकान्निशम्य सूरीनपरान् प्रबुद्धान् ।
मेतार्यनामाऽपि सुधीः सुधीभिः समं समेयाय जिनोपकण्ठे ॥१॥

विशुद्धविज्ञानकरं प्रसार्य मेतार्यमुख्यौ भवसिन्धुमध्यात् ।
समुद्धृतौ येन जिनेश्वराय नमोऽस्तु तस्मै त्रिशलात्मजाय ॥ १ ॥

प्रबुद्धान् प्रबोधं प्राप्तान् अत एव श्रीवीरस्य भगवतः पादाम्बुजयोश्चरणकमलयोश्चञ्चरीका भ्रमरा इव श्रीवीरपादाम्बुजचञ्चरीकास्तान् तथाभूतान् अपरानन्यान् गौतमादीन् सूरीन् पण्डितान्निशम्य श्रुत्वा मेतार्यनामाऽपि सुधीर्विद्वान् सुधीभिः सुबुद्धिभिः स्वशिष्यैः समं सह जिनस्य श्रीवीरस्य उपकण्ठे समीपे समेयाय समाजगाम ।

समाङ्पूर्वाद्दिणः कर्त्तरि लिट् । अस्मिन् सर्गे उपजातिच्छन्दः, तल्लक्षणं तु प्रागुक्तमेव ॥ १ ॥

आभाष्य तं वीरजिनेश्वरोऽपि जगाद वत्सेह जहाहि मोहम् ।
चिरन्तनं किं परलोकवस्तु स्याद्वा न वेति स्वमनःप्रसक्तम् ॥२॥

वीरजिनेश्वरोऽपि तं मेतार्यं आभाष्य हे मेतार्य ! एहीत्यादिवाचा सम्भाष्य जगाद उवाच । किं जगादेत्याह—हे वत्स ! परलोको भवान्तरगमनलक्षणः स एव वस्तु-पदार्थः, किमिति-वितर्के, स्याद्वा विद्यते वा न वा, न विद्यते वा ? इत्येवंरूपं स्वमनसि निजचित्ते प्रसक्तं सम्बद्धं चिरंभवं चिरन्तनं बहुकालोद्भवं मोहं मिथ्याज्ञानं इहाऽस्मिन् प्रस्तावे जहाहि परित्यज । अयं भावः—हे मेतार्य ! त्वमेवं मन्यसे—किं परलोकोऽस्ति नास्ति वेति, अयं च संशयस्तव विरुद्धवेदपदश्रवणनिबन्धनो वर्त्तते, तानि च 'विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य' इत्यादीनि प्रथमगणधरवादोक्तानि द्रष्टव्यानि, तेषां चार्थं त्वं न जानासीत्यादि तथैव । अतोऽनुचितोऽयं संशयो न कर्त्तव्य इति ॥ २ ॥

अथ यया युक्तया मेतार्यः परलोकनास्तित्वं मन्यते तां भगवान् व्यक्तीकुर्वन्नाह—

यच्चेतना भौतिकदेहधर्मस्तदत्यये जन्म कुतोऽन्यलोके ।
यद्वाऽरणेर्वह्निरिवेयमस्मादुत्पद्यते नापि ततोऽन्यलोकः ॥ ३ ॥

यच्छब्दोपादानात् तच्छब्दस्याऽनुक्तस्याऽप्यत्र ग्रहणम् , ततश्चैवमन्वयः—यद्यस्मात्कारणात् चेतना चैतन्यं भौतिकस्य भूतैः पृथिव्यादिभिरुत्पन्नस्य देहस्य शरीरस्य धर्मो विद्यते इति शेषः, ततस्तस्य देहस्या-

ऽत्यये विनाशे सति तद्धर्मस्य चैतन्यस्यापि विनाशादन्यलोके परभवे जन्म उत्पत्तिः कुतो भवेत् ?, न कुतोऽपीत्यर्थः । इदमत्र तात्पर्यम्— चैतन्यं तावद्भूतेभ्यो नार्थान्तरं तद्धर्मत्वात्, यथा गुडधातक्या(दि)-मद्याङ्गेभ्यो मदधर्मः, ततश्च यो यदनर्थान्तरभूतो धर्मः स तद्विनाशे नश्यत्येव, यथा पटादिधर्मः शुक्लत्वादिः, अतो भूतैरेव सह प्रागेव नष्टस्य चैतन्यस्य कुतो भवान्तरगमनम् ? इति । अथ भूतेभ्योऽर्थान्तरं मन्यते तथापि न परलोक इत्याह—यद्वेत्यादि । यद्वाऽथवाऽरणे-रराणिकाष्ठाद्वह्निरिव इयं चेतनाऽस्माद्भूतसमुदायादुत्पद्यते, ततोऽपि हेतोर्न अन्यलोकोऽस्ति । अत्राऽयं भावः—भूतेभ्योऽर्थान्तरत्वेऽपि अनित्यं चैतन्यं उत्पत्तिधर्मकत्वात्, अरणिकाष्ठोत्पन्नतद्भिन्नवह्निवदिति । यच्चानित्यं तत्किंयन्तमपि कालं स्थित्वाऽग्निवदत्रापि ध्वंसते इति न तस्य भवान्तरयायित्वम्, अत इत्थमपि न परलोकसिद्धिरिति ॥३॥

अथवा प्रतिपिण्डं भिन्नानि भूतधर्मरूपाणि बहूनि चैतन्यानि नेष्यन्ते, किंत्वेक एव समस्तचेतन्याश्रयः सर्वत्रिभुवनगतो निःसङ्ग-तोऽक्रियश्चात्माऽभ्युपगम्यते । यत उक्तं—'एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः । एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥' ननु तथापि न परलोकसिद्धिरिति दर्शयन्नाह—

पानीयचन्द्रप्रतिबिम्बवद्वा
तनौ तनौ ब्रह्म पृथक्प्रभासः[1] ।
तथापि देहापगमेऽन्यलोकं
प्रयाति कश्चेति विकल्पसे किम् ? ॥ ४ ॥

वाऽथवा पानीयेषु यचन्द्रप्रतिबिम्बं तद्वत् तनौ तनौ देहे देहे

[1] 'पृथक्प्रकाशः' इति काशीमुद्रितपाठः ।

ब्रह्मण उक्तस्वरूपस्य एकस्यैवात्मनः पृथक् भिन्नः प्रभासः प्रकाशः, वर्त्तते इति शेषः । यद्येवमभ्युपगम्यते तथापि देहस्याऽपगमे विनाशे सति अन्यलोकं परभवं कः प्रयाति न कोऽपीत्यर्थः । तस्मात्मनः सर्वेषु गोमहिष्यादिपिण्डेषु सर्वगतत्वेन निःक्रियत्वेन चाकाशवत् संसरणाभावादिति भावः । चः समुच्चये, हे मेतार्य ! त्वं किमिति प्रश्ने इत्येवं विकल्पसे विचिंतयसि ? ॥ ४ ॥

पुनर्भगवानाह—

शृणोषि शास्त्रेषु शरीरभाजां देहच्युतौ चापि भवान्तराप्तिम् ।
विरुद्धवादेन मुहुस्तवैवं दोलाचलं चित्तमभूद्वृथैव ॥ ५ ॥

च पुनर्देहस्य च्युतिर्नाशस्तस्यां सत्यां शरीरभाजां जीवानां भवान्तराप्तिं अन्यभवप्राप्तिमपि शास्त्रेषु त्वं शृणोषि । एतेन परलोकसिद्धिरप्याऽऽवेदिता । हे मेतार्य ! एवममुना प्रकारेण विरुद्धवादेन शास्त्रेषु परस्परविरुद्धकथनेन मुहुर्वारंवारं तव चित्तं वृथैव दोलावत् चलं चपलं अभूत् ॥ ५ ॥

इति दर्शितः पूर्वपक्षः; अथाऽत्र प्रतिविधीयते—

अत्रास्ति चेदुत्तरपक्षकाङ्क्षा
त्वं पृच्छ तद्गौतमवायुभूतिम् ।
भूतातिरिक्तः प्रकटोऽयमात्मा
त्वयाऽवबुद्धोऽत्र कयोपपत्त्या ? ॥ ६ ॥

अत्रास्मिन्सन्दिग्धेऽर्थे चेद्यदि तवोत्तरपक्षस्य काङ्क्षा वाञ्छाऽस्ति, तर्हि त्वं गौतमो गौतमगोत्रीयो यो वायुभूतिस्तं पृच्छ । कथमित्याह—हे वायुभूते ! अत्रास्मिन् शरीरे भूतेभ्योऽतिरिक्तो भिन्नः

प्रकटः अयमात्मा जीवस्त्वया कया उपपत्त्या युक्त्याऽवबुद्धो ज्ञातः, इत्थं प्रश्नं कुर्वित्यर्थः ॥ ६ ॥

तमेव दध्याः प्रतिवादितायां
पूर्वे विकल्पे स समाधिकारी ।
तथाऽऽत्मसिद्धौ पुनरिन्द्रभूतिं
पृच्छ त्वमेवात्र सृतं बहूक्त्या ॥ ७ ॥

हे मेतार्य, पूर्वे पूर्वस्मिन् विकल्पे किं यच्छरीरं स एव जीव एवंरूपे वितर्के प्रतिवादितायां प्रतिवादित्वे तं वायुभूतिमेव दध्यास्त्वं धारयेः, यतस्तत्र स वायुभूतिरेव समाधिं समाधानं करोति तच्छीलः समाधिकारी, अस्तीति शेषः, तथा तद्वत् आत्मसिद्धौ आत्मनः सिद्ध्यर्थं पुनस्त्वमेवेन्द्रभूतिं प्रथमगौतमं पृच्छ । अत्र प्रस्तावेऽस्माकं बहूक्त्या बहुकथनेन सृतं पर्याप्तं आत्मनः सद्भावे भौतिकदेहातिरिक्तत्वे च सिद्धे सिद्ध एव परलोक इति भावः ॥ ७ ॥

अन्यच्च—

प्रतीहि देवानपि नारकान्वा तथाऽन्यलोकाधिगमाय धीमन् ! ।
तं मौर्यपुत्रं तमकम्पितं वा समाधये पर्यनुयुङ्क्ष्व भद्र ! ॥ ८ ॥

तथा तद्वत् हे धीमन् हे भद्र ! अन्यलोकस्य परलोकस्य अधिगमो ज्ञानं तस्मै देवान् वा पुनर्नारकानपि प्रतीहि जानीहि, देवा नारका अपि न सन्तीति प्रतिपद्यस्वेत्यर्थः, समाधये देवनारकास्तित्वसमाधानार्थं तं प्रागुक्तं मौर्यपुत्रं वा पुनस्तं अकम्पितं पर्यनुयुङ्क्ष्व पृच्छ, ताभ्यां तदखिलस्य प्रागेव निर्णीतत्वादिति भावः । पर्यनुपूर्वात् 'युजिर् योगे' अस्माद्रौधादिकात्कर्तरि लोट् । इह यद्यपि मग-

यता तु नैवमुक्तं, किं तु साक्षात्स्वमुखेनैव तत्संशयापनोदः कृतोऽस्ति, तथापि कविना ग्रन्थविस्तरभयादेवमुक्तमिति बोध्यम् ॥ ८ ॥

अथ यदुक्तं प्राक् 'एकः सर्वगतो निष्क्रियश्चात्मे'त्यादि तदाश्रित्याह—

यन्मन्यसे ब्रह्मकृतः प्रकाशस्तनौ तनावस्ति मृषेति वाणी ।
यल्लक्षणैर्भेदि तदेव भिन्नं विशेषतश्चापि यथा घटादि ॥ ९ ॥

हे मेतार्य ! तनौ तनौ देहे देहे ब्रह्मणा एकेनात्मना कृतः प्रकाशोऽस्तीति यत्त्वं मन्यसे जानासि तन्मननकारणभूता वाणी मृषा मिथ्या वर्त्तते । आत्मनामानन्त्यादिति भावः । कथमित्याह—यद्वस्तुलक्षणैर्भेदो विशेषोऽस्त्यस्येति भेदि भेदयुक्तमित्यर्थः, तद्भिन्नमेव भवेत् । चापीति समुच्चये, यथा विशेषतो लक्षणविशेषात् घटादि घटपटादि वस्तु भिन्नमेवास्ति तथेत्यर्थः । अयं भावः—न चास्माभिरेक आत्मा इष्यते किं तु लक्षणभेदादनन्ताः यत उपयोगलक्षणो जीवः । स चोपयोगो राग-द्वेष-कषाय-विषयाध्यवसायादिभिर्भिद्यमान उपाधिभेदादानन्त्यं प्रतिपद्यते इत्यनन्ता जीवा लक्षणभेदाद् घटादिवदिति । तथा न सर्वगत आत्मा किं तु शरीरमात्रव्यापकस्तत्रैव तद्गुणोपलब्धेः, स्पर्शनवदिति । एवं न निष्क्रिय आत्मा भोक्तृत्वाद्देहवदित्याद्युपलक्षणाद् ज्ञेयम् ॥ ९ ॥

अन्यच्च—

सुखित्वदुःखित्वमुखा विभेदाः
सर्वत्र सन्तीह पृथक् पृथग् यत् ।
तदात्मभेदात्परलोकयानं
संभाव्यते किं न सदुक्तयुक्त्या ? ॥ १० ॥

'मुखमुपाये प्रारम्भे श्रेष्ठे निःसरणास्ययोः' इति हैम(अनेकार्थ)-वचनान्मुखशब्दोऽत्र प्रारम्भार्थः, सुखित्व-दुःखित्वे मुखे प्रारम्भे येषां ते तथोक्ताः, सुखित्व-दुःखित्वप्रभृतय इत्यर्थः; विभेदा विशिष्टभेदा ३
इहास्मिन् लोके सर्वत्र सर्वेषु जीवेषु यत् पृथक् पृथक् सन्ति भिन्ना भिन्ना विद्यन्ते तत् आत्मभेदात् आत्मनां भिन्नत्वात् । आत्मैक्ये तु
तदसम्भवादिति भावः । ततश्च सती शोभना या उक्तयुक्तिस्तया पर-६
लोकयानं परभवगमनं किं न संभाव्यते ? संभाव्यत एवेत्यर्थः । आत्मैक्ये तु तद्घटं, तन्निरासेन तत्सिद्धिः स्फुटैवेति तात्पर्यम् । यद्वा सदिति
पृथक् पदं, परलोकयानपदस्य विशेषणं विद्यमानमित्येतदर्थः ॥ १० ॥ ९

उक्तमेवार्थं स्पष्टयति—

ब्रह्मैक्यवादे परकर्मभोगः परस्य युज्येत न चैतदिष्टम् ।
सुखस्य दुःखस्य च सङ्करत्वे विलुप्यते तद्व्यवहारभावः ॥११॥ १२

ब्रह्मण आत्मन ऐक्यं एकत्वं तस्य यो वादः कथनं तस्मिन् सति परस्य यज्ञदत्ताद्यपेक्षयाऽन्यस्य देवदत्तादेः अपरो यज्ञदत्तादिस्तस्य
यानि कर्माणि तत्कृतशुभाऽशुभकर्माणीत्यर्थः । तेषां भोगो भुक्तिर्युज्येत १५
ब्रह्मैक्ये देवदत्तादेर्यज्ञदत्तादिकृतकर्मानुभवो युज्येतेत्यर्थः । न चैतत् इष्टं वाञ्छितं असम्भवादेवेति भावः । तथा ब्रह्मैक्ये सुखस्य च पुन-
र्दुःखस्य सङ्करत्वे मिश्रितत्वे सति तयोः सुख-दुःखयोर्यो व्यवहार-१८
स्तस्य भावः सत्ता विलुप्यते विच्छिद्यते, 'अयं सुखी, अयं दुःखी'-त्यादिव्यवहारस्य सर्वैव व्यवच्छिद्यते इत्यर्थः ॥ ११ ॥

ततः किं स्थितमित्याह— २१

तेनायमात्मा प्रतिदेहभिन्नः
स्वकर्मभिर्भूरिभवानुसारी । २३

स्थाने स जातिस्मरणेन कश्चित्
पश्येत्तु पूर्वाणि भवान्तराणि ॥ १२ ॥

तेन कारणेन अयं आत्मा प्रतिदेहं प्रतिशरीरं भिन्नो वर्त्ततेऽत एव स्वकर्मभिर्भूरिभवान् बहुजन्मानि अनुसरति अनुगच्छतीति तच्छीलः परभवयायीत्यर्थः । स्थाने युक्त एव । कश्चित्तु पुनः स आत्मा जातिस्मरणेन प्राग्जन्मस्मरणरूपमतिज्ञानविशेषेण पूर्वाणि स्वयं प्राक्कृतानि भवान्तराणि अन्यजन्मानि पश्येत् विलोकयेत् । ततः सिद्धः परलोक इति भावः । स्थाने इत्यव्ययं युक्तेऽर्थे 'स्थाने तु कारणे युक्ते' इत्यव्ययकाण्डे हैमोक्तेः ॥ १२ ॥

तदेवं छिन्नसंशयोऽसौ किं कृतवानित्याह—

तदेन्द्रभूत्यादिभिरप्यमीष्टैः प्रसाधितोत्साहभरः समाधौ ।
मेतार्यविप्रोऽपि बभूव भव्यो महाव्रती छात्रशतत्रयेण ॥ १३ ॥

तदा तस्मिन्नवसरेऽमीष्टैः प्राक्तनातिपरिचयाद्वल्लभैरिन्द्रभूत्यादिभिरपि समाधौ सन्दिग्धार्थसमाधाने प्रसाधितः प्रकर्षेण निष्पादित उत्साहस्य भरोऽतिशयो यस्य स तथोक्तः एवंविधो मेतार्यविप्रोऽपि छात्राणां शिष्याणां यत् शतत्रयं तेन सह भव्यो योग्यो महाव्रती पञ्चमहाव्रतधरः साधुर्बभूव अभूत् ॥ १३ ॥

→ इति मेतार्यस्वामिदीक्षाग्रहणम् ॥ १० ॥

अथ प्रभासस्य तदाह—

ततः प्रभासाह्वयपाठकोऽपि श्रुत्वाऽपरान् शान्तिसुखं प्रयातान् ।
श्रीमज्जगन्नाथसदस्तडागं समाययौ तृष्णगिवाऽमृतस्य ॥ १४ ॥

ततो मेतार्यदीक्षाग्रहणानन्तरं प्रभास इत्याह्वयः स चासौ पाठ-

कश्चेति कर्मधारयः । सोऽपि अपरान् अन्यान् इन्द्रभूत्यादीन् दृष्ट्वाऽपि द्विजवरान् शान्तिसुखं प्रशमसुखं प्रयातान् प्राप्तान् श्रुत्वाऽमृतस्य पानीयस्य तृष्णक् पिपासुरिव श्रीमतो जगन्नाथस्य वीरप्रभोः सदः सभा एव तडागः सरोवरस्तं समाययौ समाजगाम । 'पयः कीलालममृतम्' इत्यमरः । 'पिपासुस्तृषितस्तृष्णक्' इति हैमः ॥ १४ ॥

देवाधिदेवोऽप्यवदत्प्रभास ! प्रकम्पयेत्त्वामिति वेदवाणी ।
यष्टव्यमाजीवनमेव यत्तु स्वर्गाप्तये तन्न च मोक्षहेतोः ॥ १५ ॥

यागो हि सावद्यविधिस्वरूपो
मोक्षः कुतोऽस्मादिति मुक्तिलोपः ।
गुहा हि लोकस्य सुदुर्विगाहे-
ति वेदवाक्येन च मोक्षसिद्धिः ॥ १६ ॥

द्वाभ्यां सम्बन्धः ।

देवाधिदेवः श्रीवीरप्रभुरपि अवदत् उवाच तमिति शेषः । किमित्याह—हे प्रभास ! वेदवाणी 'जरामर्यं वा एतत्सर्वं यदग्निहोत्र'-मित्यादिवेदोक्तवाक् इतीत्थं त्वां प्रकम्पयेत् स्वचेतसि भ्रममुत्पादये-दित्यर्थः । कथमित्याह—तु इति विशेषे, जीवनं जीवितव्यं आऽभि-व्याप्येति आजीवनं एव यावज्जीवमेवेत्यर्थः । यष्टव्यं अग्निहोत्रं कर्त्तव्यं, यद्वेदे उक्तमिति वाक्यशेषः, तत्स्वर्गाप्तये स्वर्गप्राप्तये न च मोक्षहेतोः, न पुनर्मुक्तिनिमित्तमित्यर्थः ॥ १५ ॥ किं कारणमित्यत्र आह—याग इत्यादि । हि यतः कारणात् यागो यज्ञः प्राणिवध-हेतुत्वात् सावद्यः सपापो विधिरनुष्ठानं स्वरूपं यस्य स तथोक्तो वर्तते, ततोऽस्माद्यागात् कुतो मोक्षः ?, न कुतोऽपीत्यर्थः । इत्येवमुक्त-

1 'योगो हि' इति मुद्रितपाठान्तरः ।

स्वरूपवेदवाक्येन मुक्तिलोपो मोक्षाभावो, ज्ञायते इति शेषः। तथा हीति निश्चितं, 'मुक्तिरूपा गुहा लोकस्य सुतरां दुर्विगाहा दुःप्रवेशा प्रवर्त्तते' इति वेदवाक्येन च मोक्षसिद्धिर्ज्ञायते, अत्र किं सत्यमिति संशयः, इह काव्यद्वयस्य भावार्थस्त्वयम्—हे प्रभास! त्वमेवं मन्यसे निर्वाणमस्ति न वेति। अयं च संशयस्तव विरुद्धवेदपदश्रवणनिबन्धनः। तानि चामूनि वेदपदानि 'जरामर्यं वा एतत्सर्वं यदग्निहोत्रं' तथा 'सैषा गुहा दुरवगाहा' तथा 'द्वे ब्रह्मणी परमपरं च तत्र परं सत्यं ज्ञानमनन्तरं ब्रह्मे'ति। एतेषां चायमर्थः तव चेतसि वर्त्तते यदेतदग्निहोत्रं तज्जरामर्यमेव यावज्जीवं कर्त्तव्यमिति। अग्निहोत्रक्रिया च भूतवधहेतुत्वाच्छबलरूपा, सा च स्वर्गफलैव स्यान्नाऽपवर्गफला, यावज्जीवमिति चोक्ते कालान्तरं नास्ति। यत्रापवर्गहेतुभूतक्रियान्तरारम्भः स्यात्। तस्मात्साधनाभावान्मोक्षाभावस्ततश्चेत्यादिकानि केवलमोक्षाभावप्रतिपादकानि। शेषाणि तु तदस्तित्वसूचकानि। तथा हि—गुहाऽत्र मुक्तिरूपा, सा च संसाराभिनन्दिनां दुरवगाहा दुःप्रवेशा, तथा परं ब्रह्म सत्यं मोक्षः, अनन्तरं तु ब्रह्मज्ञानमिति, ततो मोक्षस्यास्तित्वं नास्तित्वं च वेदप्रतिपादितमवगम्य तव संशयस्तत्रैषां वेदपदानामर्थं त्वं न जानासि यतस्तेषामयमर्थो वक्ष्यमाणलक्षण इति॥ १६॥

अथ मोक्षाभावप्रतिपादने प्रभासाध्यवसितां युक्तिमपि दूषयितुं भगवान् प्रकटयन्नाह[1]—

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो[2]
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।

---

१ सौगतमतप्रकल्पितमोक्षाभावप्रतिपादनपरां युक्तिं प्रकटयति भगवान्, तत्खण्डनार्थम् इत्यर्थः। २ अत्र 'द्वीपो यथा' इति काशीमुद्रितपाठोऽधिन्त्यः।

दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चि-
त्स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥ १७ ॥

जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतो
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्[1] ।
दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्
क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥ १८ ॥

यथा दीपः प्रदीपो निर्वृतिं निर्वाणं विध्यातिमित्यर्थः अभ्युपेतः प्राप्तः सन् नैव अवनिं पृथ्वीं गच्छति, न अन्तरिक्षमाकाशं गच्छति, न काञ्चिद्दिशं पूर्वादिकां गच्छति, न काञ्चिद्विदिश-माग्नेय्यादिकां गच्छति, किं तु स्नेहक्षयात् तैलनाशात्केवलं शान्तिं नाशं एति प्राप्नोति ॥ १७ ॥ इत्थं दृष्टान्तमुपदर्श्य दार्ष्टान्तिक-माह—जीव इत्यादि । तथा तेन प्रकारेण जीव आत्मा निर्वृतिं मुक्तिमभ्युपेतः सन् नैवावनिं गच्छति, न अन्तरिक्षं गच्छति, न काञ्चिद्दिशं न काञ्चिद्विदिशं गच्छति, किंतु क्लेशक्षयात् रागद्वेषादि-जन्यसंसारिकदुःखनाशात्केवलं शान्तिं नाशं एति, दीपस्येवास्य जीवस्य नाश एव निर्वाणमिति भावः ॥ १८ ॥

यत्सौगतानामिति युक्तितोऽपि यद्येत ते चेतसि मुक्तिलोपः ।
कर्मक्षयान्निर्जर-नारकादिपर्यायनाशे तु न चातिरिक्तम् ॥१९॥

हे प्रभास ! इतीत्थं पूर्वोक्तप्रकारेण सौगतानां बौद्धविशेषाणां युक्तितोऽपि ते तव चेतसि मुक्तिलोपो मोक्षाभावो यद्यस्माद्भवेत, ततोऽपि संशयस्तवेति वाक्यशेषः । पुनः प्रकारान्तरेणापि मोक्षभावसाधने

[1] अत्र 'चान्तरिक्षम्' इति वादीमुद्रिते पाठश्चिन्त्यः ।

प्रभासाभिप्रेतां युक्तिमाह—कर्मेत्यादि । कर्मणां क्षयात् निर्जर-नारकादिपर्यायाणां देव-नारक-तिर्यग्नरभावानां नाशो भवति, तन्नाशे तु अतिरिक्तं देव-नारकादिपर्यायेभ्यो भिन्नमन्यत् जीववस्तु न चास्तीति शेषः । चः समुच्चये । अयमर्थः—'देव-नारकादित्वमेव संसार उच्यते, तद्भिन्नश्चान्यः कोऽपि जीवो नास्ति, कदाचिदप्यनुपलम्भात् । देवनारकादिपर्यायरूपसंसारनाशे तु जीवस्य स्वस्वरूपनाशात्सर्वथा नाश एव भवति, ततः कस्याऽसौ मोक्ष' इति त्वं मन्यसे ? इति ॥ १९ ॥

एवं विकल्पैर्बहुसंशयान-
स्तिष्ठेरिहादत्स्व मदुक्तयुक्तीः ।
याभिर्मनस्ते स्थिरतामुपेयात्
सत्याग्रतो वा कियती मृषोक्तिः ? ॥ २० ॥

हे प्रभास ! एवममुनोक्तप्रकारेण विकल्पैर्वितर्कैर्बहु प्रचुरं यथा स्यात्तथा संशयानः सन्देहं कुर्वाणस्त्वं तिष्ठेरवतिष्ठसे, परं इहास्मिन् सन्दिग्धेऽर्थे मदुक्तयुक्तीः आदत्स्व गृहाण, याभिर्युक्तिभिस्ते तव मनः स्थिरतां उपेयात् प्राप्नुयात् । वाऽथवा सत्यस्य सद्भूतार्थवचनस्य अग्रतः पुरतो मृषोक्तिर्मिथ्यावचनं कियती ? किंप्रमाणा ? स्थास्यतीति शेषः, कियत्कालं स्थास्यतीत्यर्थः । एतावता मदुच्यमानसत्ययुक्तीनां पुरस्त्वद्विकल्पिता मिथ्यायुक्तयो न स्थास्यन्तीति भावः ॥ २० ॥

अथादौ जरामर्यमित्यादि यद्वेदवाक्यं मोक्षाभावप्रतिपादकतया प्रभासेनाध्यवसितं तत्प्रतिविधातुमाह—

प्रवृत्तिमार्गाश्रयिमूढलोकान्
यष्टव्यमाजीवनमेतदुक्तम् ।
निवृत्तिमार्गाश्रयिणां तु मुक्ति-
र्निषिध्यते क्वापि न वेदवाक्यैः ॥ २१ ॥

प्रवृत्तिमार्गोऽविवेकिजनप्रवर्त्तनमार्गस्तदाश्रयिणो ये मूढलोका अनात्मतत्त्वज्ञजनाः, तानाश्रित्येति शेषः, 'आजीवनं यष्टव्यम्' इत्येतद्वेदे उक्तमस्ति, परं निवृत्तिमार्गो मुक्तिमार्गस्तदाश्रयिणस्तत्त्वज्ञानिन इत्यर्थः, तेषां तु क्वापि प्रदेशे वेदवाक्यैर्मुक्तिर्न निषेध्यते । अयं भावः—'जरामर्यं वा एतत्सर्वं यदग्निहोत्र'मिति वेदवाक्याद् मोक्षहेतुक्रियारम्भकालाभावात् यत्त्वं मोक्षाभावं शङ्कसे तदयुक्तं, तदर्थापरिज्ञानात्, तस्य अयमर्थो—यदेतदग्निहोत्रं तद्यावज्जीवं सर्वमपि कालं कर्त्तव्यम् । वाशब्दात् मुमुक्षुभिर्मोक्षहेतुभूतमप्यनुष्ठानं विधेयमिति । ततश्च मूर्ख-तत्त्वज्ञभेदेन मार्गद्वयाधिकारिणोर्भिन्नत्वान्न कश्चिद्विरोधः ॥ २१ ॥

अथ प्रमासाध्यवसिताभावां युक्तिमतिक्रम्याल्पवक्तव्यत्वादव-द्वितीययुक्तिं निराकर्त्तुमाह—

यथाहि मुद्राङ्गद-कङ्कणादिपर्यायनाशेऽपि न हेमनाशः ।
तथैव मर्त्यामरनारकादिपर्यायनाशेऽपि न जीवनाशः ॥ २२ ॥

हीति निश्चितं मुद्रा च स्वर्णमयी प्रसिद्धा अङ्गदं च बाहुभूषणं कङ्कणं च करभूषणं तानि आदयो येषां ते मुद्राङ्गदकङ्कणादयः एवंविधा ये पर्याया विविधाकारभृद्वस्तुविशेषास्तेषां नाशेऽपि यथा हेम्नः सुवर्णस्य नाशो न भवति तथैव तेनैव प्रकारेण मर्त्याश्च मनुष्या अमराश्च देवा नारकाश्च नरकगतिनामकर्मोदयवर्तिनो जीवास्ते

आदयो येषां ते मर्त्याऽमरनारकादय एवंविधा ये पर्यायास्तेषां नाशेऽपि जीवस्यात्मनो नाशो न भवति । अयं भावः—नरतिर्यगादिरूपेण यो भावः स जीवस्य पर्याय एव, न च पर्यायमात्रनाशे पर्यायिणो जीवद्रव्यस्यापि सर्वथा नाशो मतः, कथंचित्तु भवत्यपि, न हि मुद्रादिपर्यायमात्रनाशे हेम्नः सर्वथा नाशो दृष्टः, ततो नर-नारकादिसंसारपर्यायनिवृत्तौ मुक्तिपर्यायान्तरोत्पत्तिः जीवस्य स्याद्यथा मुद्रापर्यायनिवृत्तौ कर्णपूरपर्यायान्तरोत्पत्तिः सुवर्णस्य, इति न किञ्चिद्विरुध्यते, अत्र पुनर्विशेषार्थिना विशेषावश्यकवृत्तिर्विलोक्या ॥ २२ ॥

अथ प्रदीपदृष्टान्तभावितां प्रथमयुक्तिं निराकर्तुमाह—

दृष्टान्तभूतेऽपि तव प्रदीपे न सर्वथैवाभिहितो विनाशः ।
यतः प्रदीपाह्वयवस्तुनाशेऽप्यनश्वरत्वं स्फुटमस्त्यणूनाम् ॥२३॥

हे प्रभास ! तवापि त्वन्मतेऽपीत्यर्थः, दृष्टान्तभूते प्रदीपेऽभिहित उक्तो यो विनाशः स सर्वथैव सर्वैरेव प्रकारैर्न विद्यते, कथञ्चिदेवास्तीति भावः । कथमेतदेवमित्याह—यतो यस्मात् प्रदीपाह्वयस्य प्रदीपनामकस्य वस्तुनः पदार्थस्य नाशे सत्यपि अणूनां तत्परमाणुपुद्गलानां स्फुटं प्रकटं अनश्वरत्वमविनाशित्वमस्ति । प्रदीपानलस्वरूपविनाशेऽपि तत्पुद्गलानां रूपान्तरतया परिणमनान्न सर्वथा विनाश इति भावः ॥ २३ ॥

यदि सर्वथा प्रदीपवह्नेर्न नाशस्तर्हि विध्यातानन्तरं किमित्यसौ साक्षान्न दृश्यते ? अत्रोत्तरमाह—

आर्द्रेन्धनोपाधिवशाद् यथाऽग्निः
कृष्णं परीणाममियर्त्ति धूमे ।
स्नेहक्षयादुद्दयणवस्तथैव
विशीर्य कार्ष्ण्येन तमो मिलन्ति ॥ २४ ॥

उप समीपे आधीयते स्थाप्यते यः स उपाधिः, आर्द्रं अशुष्कं यदिन्धनं समित् स एवोपाधिस्तस्य वशोऽधीनोऽग्निर्यथा धूमे धूमरूपे सविकारे कृष्णं श्यामं परीणामं परिणमनं इयर्त्ति प्राप्नोति । स्वभावात्स्वयं रक्तवर्णोऽपि पश्चादुपाधिवशात् कृष्णवर्णो भवतीत्यर्थः । तथैव तद्वदेव यद्दणवः प्रदीपाग्निपरमाणवः स्नेहक्षयाद्वर्त्तिनिर्णाशात् विदीर्य खण्डशो भूत्वा कृष्णस्य भावः कार्ष्ण्यं तेन तत्क्षणोत्पन्नकृष्णत्वपरिणामेन तमोऽन्धकारं प्रति मिलन्ति । अध्याहारलभ्यमतेर्योगे तम इति द्वितीया । अयं भावः—विध्याते प्रदीपेऽनन्तरमेव तामसपुद्गलरूपो विकारः समुपलभ्यते एव, चि(प)रं चासौ पुरस्तान्नोपलभ्यते तत् सूक्ष्मसूक्ष्मतरपरिणामभावात्, यथाऽञ्जनस्य पवनेनापह्रियमाणस्य यत् कृष्णरज उड्डीयते तदपि परिणामसौक्ष्म्यान्नोपलभ्यते, न पुनरसत्त्वादिति ॥ २४ ॥

चित्ररूपश्च पुद्गलपरिणाम इति दर्शयन्नाह—

तथाहि निर्वाणदशेन्धनाणून्
गृह्णाति तद्गन्धगुणेन नासा ।
द्रव्यत्वतस्तेन समस्तभावा
विनाशिनो नैव कदापि वाच्याः ॥ २५ ॥

तथाहि । तदेव पुद्गलपरिणामवैचित्र्यं दर्शयति—दशा वर्त्तिरेव इन्धनं यस्य स दशेन्धनः प्रदीप इत्यर्थः । निर्वाणो विध्यातो यो दशेन्धनस्तस्य अणवः परमाणुपुद्गलास्तान् नासा नासिका गृह्णाति । केनेत्याह—तद्गन्धगुणेन तेषां विध्यातप्रदीपाणूनां यो गन्धगुणस्तेन,

१ अध्याहारेण लभ्यस्य 'प्रति'इत्युपसर्गस्य योगेनात्र 'तमस्' इति शब्दस्य द्वितीया इत्यर्थः । २ अयो विकारः ।

तत्कालमेव तादृग्गन्धगुणपरिणतेरिति भावः । तेन कारणेन द्रव्यत्वतो द्रव्यत्वमङ्गीकृत्य समस्तभावाः सर्वपदार्थाः कदापि कस्मिन्नपि काले विनाशिनो विनश्वरा नैव वाच्याः कथनीयाः । सर्वेषां भावानां पर्यायरूपतयाऽनित्यत्वेऽपि द्रव्यरूपतया नित्यत्वमेवेत्यर्थः । इदमत्र तात्पर्यम्—वायुः स्पर्शनेन्द्रियस्यैव ग्राह्यः, रसो रसनस्यैव, गन्धो घ्राणस्यैव, रूपं चक्षुष एव, शब्दस्तु श्रोत्रस्यैव ग्राह्यः, तदेवं यथा वाय्वादयः पुद्गला एकैकस्य प्रतिनियतस्यैवेन्द्रियस्य ग्राह्या भूत्वा पश्चात्परिणामान्तरं किमप्यापन्ना इन्द्रियान्तरग्राह्या अपि भवन्तीति स्वयमेवावगम्यते । तथा प्रस्तुता अपि प्रदीपगता आग्नेयाः पुद्गलाश्चक्षुर्ग्राह्या भूत्वा पश्चाद्विध्याते तस्मिन् प्रदीपे त एव तामसीभूताः सन्तो घ्राणेन्द्रियग्राह्यतामुपयान्ति । ततश्च यथा अनन्तरोक्तस्वरूपपरिणामान्तरं प्राप्तः प्रदीपो निर्वाण इत्युच्यते तथा जीवोऽपि कर्मविरहितः केवलाऽमूर्तजीवस्वरूपलाभलक्षणमबाधं परिणामान्तरं प्राप्तो निर्वाण उच्यते, तस्माद्दुःखादिक्षयरूपा विद्यमानस्य जीवस्य काचिद्विशिष्टाऽवस्था निर्वाणमिति स्थितम् ॥ २५ ॥

अथ निर्वाणस्यैव स्वरूपं स्पष्टयन्नाह—

सोऽनादिबन्धच्युतिरेव मुक्तिर्यत्रोल्लसेद्द्रव्यतयैव जीवः ।
यश्चिदानन्दमयः परात्मा दृषत्पृथग्भूतसुवर्णतुल्यः ॥ २६ ॥

अनादिः प्रवाहरूपेण आदिरहितो यो बन्धो जीवस्य कर्मणा सम्बन्धस्तस्य च्युतिर्ध्वंस एव सा मुक्तिरुच्यते इति शेषः । सा केत्याह—यत्र यस्यां मुक्तौ सत्यां जीवश्चेतनो द्रव्यतया द्रव्यत्वेनैव स्वस्वरूपेणैवेत्यर्थः, उल्लसेत् उल्लसितो भवेत्, तदानीं पुद्गलजन्योल्ल-

१ अत्र 'सानादिबन्धच्युतिः' इति धारामुद्रितपाठः ।

सामायादिति भावः । तदानीं कीदृशोऽसौ जीव इत्याह—चञ्चदित्यादि । चिच्च ज्ञानं आनन्दश्च निरुपाधिकप्रमोदश्चिदानन्दौ, चञ्चन्तौ स्फुरन्तौ यौ चिदानन्दौ तौ स्वरूपं यस्य स चञ्चचिदानन्दमयः "चञ्चु गतौ" भौवादिकोऽस्मात् शतृ, अत एव परः प्रकृष्टश्चासौ आत्मा च परात्मा, तया दृषदः पाषाणात् पृथग्भूतं यत्सुवर्णं काञ्चनं तत्तुल्यः कर्मोपाध्यपगमादिति भावः ॥ २६ ॥

ननु जीव-कर्मणोः योऽनादिः सम्बन्धस्तस्य कथं च्युतिरित्याशङ्कायामाह—

> अनादिसंयोगवतोर्यथेष्टः
> पाषाणधात्वोरनलेन भेदः ।
> तथाऽऽत्म-कर्मव्यतिभेदसिद्धिं
> ज्ञान-क्रियाभ्यामवगच्छ विद्वन् ! ॥ २७ ॥

अनादिश्चासौ संयोगश्चाऽनादिसंयोगः तद्वतोः पाषाणधात्वोर्दृषत्स्वर्णयोर्भेदो भिन्नत्वं यथाऽनलेन वह्निना कारणभूतेन इष्टोऽभिमतस्तथा तेन प्रकारेण हे विद्वन् ! हे प्राज्ञ ! आत्म-कर्मणोर्व्यतिभेदस्य परस्परभिन्नत्वस्य सिद्धिं निष्पत्तिं ज्ञान-क्रियाभ्यां करणभूताभ्यां अवगच्छ जानीहि ॥ २७ ॥

मोक्षस्य सद्भावादिकं स्पष्टयति—

> मोक्षस्तु सच्छुद्धपदत्वशक्त्या खपुष्पवन्नैव कदाऽप्यसन् सः ।
> मुक्तस्य भूयोऽथ न कर्मबन्धो मोक्षस्थितिस्तेन हि सादिनन्ता २८

शुद्धं केवलं यत्पदं मोक्ष इत्यादिरूपं तस्य भावस्तत्त्वं तच्छक्त्या मोक्षो मुक्तिस्तु सन् विद्यमान एवास्ति, परं खपुष्पं आकाशपुष्पं,

तद्वत् स मोक्षोऽसन् अविद्यमानः कदापि कस्मिन्नपि काले नैवास्ति । खपुष्पस्य शुद्धपदत्वाभावादसत्त्वं, नैव मोक्षस्येति भावः । अथ कर्मक्षयानन्तरं मुक्तस्य मोक्षं प्राप्तस्याऽऽत्मनो भूयः पुनरपि कर्मबन्धो न भवति, तद्धेतो रागादेः समूलकार्यंकषितत्वात्, तेन कारणेन हीति निश्चितं मोक्षे मुक्तावस्थायां स्थितिरात्मनोऽवस्थानं साधनन्ता वर्तते, यस्या आदिरस्ति अन्तश्च नास्तीत्यर्थः ॥ २८ ॥

ननु यदि मोक्षस्थितिः साधनन्ता तर्हि मोक्षस्यानादित्वं न भविष्यतीत्याशङ्कायामाह—

उत्पद्यमानोऽपि यथेह कालः प्रवाहरूपेण भवेदनादिः ।
तथैव मोक्षः समकर्मघातादुत्पद्यमानोऽपि भवेदनादिः ॥ २९ ॥

इहाऽस्मिन् लोके कालः समयादिरहोरात्रादिलक्षणो वा उत्पद्यमानोऽपि यथा प्रवाहरूपेण अनादिः आदिरहितो भवेत्, तथैव मोक्षः समेषां सर्वेषां कर्मणां यो घातो विनाशस्तस्मात् उत्पद्यमानोऽपि अनादिर्भवेत् ॥ २९ ॥

अथ मोक्षस्यैव वर्णनमाह—

तुच्छेन्द्रियज्ञानमपि स्वदेहाद्धिमस्य यस्यास्ति गुणप्रकाशः ।
समस्तबोधावरणक्षयेण स तत्र तस्य प्रतिभात्यनन्तः ॥ ३० ॥

तुच्छं सम्पूर्णज्ञानापेक्षयाऽल्पं यदिन्द्रियज्ञानं चक्षुरादीन्द्रियजन्यज्ञानं तदपि, आस्ताम् सम्पूर्णज्ञानमित्यपेरर्थः, यस्यात्मनः स्वदेहाद्धिमस्य सतोऽस्ति विद्यते तस्याऽऽत्मनः समस्तबोधावरणक्षयेण सकलज्ञानानां छादककर्मविनाशेन तत्र मुक्तौ स गुणानां ज्ञानादीनां

१ 'स्थितेः' इति बोध्यम् ।

प्रकाश उद्योतो अनन्तः प्रतिभाति भासते । मुक्तौ देहाद्भिन्नस्यैवाऽवस्थानादनन्तज्ञानसद्भावाचेति भावः ॥ ३० ॥

अन्यच,—

त्रिभागहीनस्वशरीरमाने क्षेत्रे स्थितिर्यस्य स विश्वमौलौ ।
विश्वेश्वरश्चिन्मयमूर्त्तिरेव स्पृष्टो निराबाधमनन्तमुक्तैः ॥ ३१ ॥

विश्वस्य सर्वलोकस्य मौलिर्मुकुटमिव विश्वमौलिस्तस्मिन् लोकाग्रवर्तिनीत्यर्थः । तथा तृतीयो भागस्त्रिभागस्तेन हीनं न्यूनं यत्स्वशरीरं तन्मानमुन्मानं यस्य तस्मिन् एवंविधे क्षेत्रे सिद्धक्षेत्रे इत्यर्थः, यस्य देहाद्भिन्नस्याऽऽत्मनः स्थितिरवस्थानं विद्यते इति शेषः । स आत्मा विश्वेश्वरस्त्रैलोक्यनाथः । कुतः ? चिद् ज्ञानमेव स्वरूपमस्या इति चिन्मयी सा मूर्त्तिर्यस्य स तथोक्त एव, यतश्चिन्मयमूर्त्तिस्तत एव विश्वेश्वर इति भावः । पुनः अनन्ता एव मुक्ताः सिद्धास्तैर्निराबाधं परस्पराबाधारहितं यथा स्यात्तथा स्पृष्टः, 'यत्रैकः सिद्धः तत्रानन्ताः सिद्धा' इति वचनात् । निराबाधत्वं तु सिद्धानां सर्वपुद्गलसङ्गपरित्यागेन अरूपिणि स्वस्वरूपे एवाऽवस्थानादवसेयम् ॥ ३१ ॥

इह पुनर्भगवान् प्रभासस्य संशयं निराकर्तुं प्रादुष्कुर्वन्नाह—

चेत्पुण्य-पापक्षयतस्तु मुक्तिस्तदा सुखं दुःखमुभे न तत्र ।
मुक्तस्ततो निस्सुख-दुःख एव व्योमेव सोऽम्येति मतिं विमुञ्च ३२

तुशब्द एवार्थे, 'चेद्यदि पुण्यपापक्षयतस्तु पुण्यपापयोः क्षयादेव मुक्तिर्भवति तदा तत्र मुक्तौ सुखं दुःखं उभे द्वे अपि न स्तः, ततो व्योम इव आकाशवत् मुक्तो मुक्तात्मा निष्क्रान्तः सुख-दुःखाभ्यामिति निस्सुखदुःखः, सुख-दुःखवर्जित एव अभ्येतीति शेषः । अयं

भावः—पुण्यात्सुखमुपजायते, पापाच्च दुःखमिति भवतामपि सम्मतम् । ततश्च कारणभूतयोः पुण्य-पापयोः क्षये तत्कार्यरूपयोः सुख-दुःखयोरपि क्षयान्निःसुखदुःख एव मुक्तात्मा प्राप्नोति, तत्कारणाभावात् आकाशवत्', इति हे सौम्य! हे प्रभास! त्वं इत्युक्तप्रकारां मतिं बुद्धिं विमुञ्च परित्यज एतद्बुद्धिं मा कुर्या इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

अथात्रोत्तरमाह—

यदस्ति देहेन्द्रियजं सुखं त-
दुःखानुषङ्गान्ननु दुःखमेव ।
निरीहताख्यं च यदात्मसौख्यं
निरीहसाधोरिव तत्र तत्स्यात् ॥ ३३ ॥

ननु इत्यामन्त्रणे, हे प्रभास! देहेन्द्रियजं औदारिकादिशरीर-स्पर्शनादीन्द्रियजन्यं यत् सुखमस्ति तत् दुःखानुषङ्गात् दुःखस्यानुसम्बन्धात् दुःखमेव ज्ञेयमिति शेषः, यच्च निरीहता निःस्पृहता आख्या नाम यस्य तन्निरीहताख्यं आत्मसौख्यं आत्मनः स्वाभाविकं सुखं तत् निरीहसाधोर्निःस्पृहमुनेरिव तत्र मुक्तौ स्यात् । अयमर्थः—पुण्यकर्मफलं देहेन्द्रियजं सुखमस्ति तच्च लोकव्यवहारात्सुखतया रूढमपि वस्तुतो मरणादिदुःखानुषक्तत्वात्सर्वं दुःखमेव, दुःखं तु पापफलत्वान्निर्विवादं दुःखमेव । एवं च सति सर्वं दुःखमेवास्ति संसारे न सुखं, तच्च दुःखं सिद्धस्य सर्वथा क्षीणमतस्तद्विरहात्सिद्धस्य स्वाभाविकं निरुपममनन्तं युक्तिसिद्धमन्यदेव सुखमस्तीति न कश्चिद्दोषः ॥३३॥

अथ सिद्धसुखमेव वर्णयति—

अनिष्टसंयोग-भयाऽभिलाप-रोगाद्यभावेन च यत्प्रसिद्धम् ।
यत्सर्वविद्येश्वरतोपलभ्यं तदक्षयं सौख्यमनन्तमत्र ॥ ३४ ॥

अनिष्टसंयोगश्च अनभिलषितवस्तुसंसर्गः भयं च भीतिः अभिलाषश्च इच्छा रोगश्च मान्द्यं ते आद्यो येषां जन्मजरामरणादीनां तेऽनिष्टसंयोगभयाभिलाषरोगाद्यस्तेषां योऽभावस्तेन यत्सौख्यं प्रसिद्धं वर्तते, च पुनर्यत् सौख्यं सर्वविदः सर्वज्ञस्य भावः सर्वविता सर्वज्ञत्वं तया युक्ता ईश्वरता ऐश्वर्य्यम्, यद्वा सर्वविता एव ईश्वरता तया उपलब्धं भासमस्ति तत् अक्षयमविनश्वरमनन्तमनन्तपर्यायोपेतं सौख्यं अत्र मुक्तौ विद्यते इति शेषः ॥ ३४ ॥

तस्यानन्तत्वमेव स्पष्टयति—

समस्तसौख्यं तु जगत्त्रयस्य
यदेकराशीक्रियते कथंचित् ।
तथापि नानन्ततमेऽपि भागे
तन्मुक्तसौख्यस्य तुलां विदध्यात् ॥ ३५ ॥

तु इति विशेषे, जगत्त्रयस्य त्रैलोक्ये विद्यमानं समस्तसौख्यं सकलसुरासुरनरसुखं यदि कथंचित् केनापि प्रकारेण एकराशीक्रियते एकपुञ्जीक्रियते, तथापि तद्राशीकृतं त्रैलोक्यसुखं मुक्तसौख्यस्य सिद्धसुखस्य अनन्ततमे भागेऽपि तुलां सादृश्यं न विदध्यात् न कुर्यात्, तदपेक्षयाऽत्यल्पत्वात्तदनन्ततमभागतुल्यमपि न स्यादित्यर्थः ॥ ३५ ॥

तदेवं भगवता छिन्नसंशयः प्रभासः किं कृतवानित्याह—

जगद्गुरोर्वक्त्रसरोजगर्भा-
द्विनिर्गतानीति वचोऽक्षराणि ।
निशम्य सम्यक् परिपीय सत्त्वं
शिवोत्सुकोऽभून्मतिमान् प्रभासः ॥ ३६ ॥

१ अत्र 'तद् मुक्तसुखस्य तुलां' इति काशीमुद्रितपाठश्छन्दोऽनुरोधात्प्रामादिकः ।

इति इत्थं जगद्गुरोः श्रीवीरप्रभोः वक्त्रसरोजगर्भान्मुखकमलमध्याद्विनिर्गतानि वचोऽक्षराणि वचसः सम्बन्धीनि वर्णानि निशम्य श्रुत्वा तत्त्वं तद्गतपरमार्थं सम्यक् परिपीय पीत्वाऽवधार्येत्यर्थः, मतिमान् बुद्धिमान् प्रभासः शिवे मुक्तौ यद्वा मुक्तिकारणे भगवद्गदिते मार्गे उत्सुकोऽभूदित्यर्थः ॥ ३६ ॥

ततः समं शिष्यशतत्रयेण प्रव्रज्य सावद्यविधेर्विरक्तः ।
पूर्वप्रबुद्धर्षिसमाजराजौ दर्भासनं मेध्यमलञ्चकार ॥ ३७ ॥

ततस्तदनन्तरं शिष्याणां शतत्रयेण समं सह प्रव्रज्य भगवत्पार्श्वे प्रव्रज्यां गृहीत्वा सावद्यविधेः सपापव्यापारतः विरक्तो विरतः प्रभासः पूर्वं प्रबुद्धाः प्रबोधं प्राप्ता ये ऋषयो गौतमाद्या मुनयस्तेषां समाजः परिषत् तद्रूपा या राजिः पङ्क्तिः तस्यां मेध्यं पवित्रं दर्भासनं कुशमयमासनं अलञ्चकार शोभमानं कृतवान्, तत्रोपविष्टवानित्यर्थः । तदानीं दर्भासनं भवतु वा मा भवतु, परं साधूनां प्रायस्तत्संभवात्तद्ग्रहणमित्यवसेयम्, समाजेति । "समाजः परिषत् सद" इति हैमः । 'पवित्रं पावनं पूतं पुण्यं मेध्य'मिति च ॥ ३७ ॥

अथ समग्रग्रन्थोक्तार्थोपसंहारमाह—

इत्थं मनःसंशयमार्जनेन श्रीवीरदत्तत्रिपदीसुबीजात् ।
शास्त्राङ्गपूर्वाणि गणाधिनाथा एकादशापि प्रथिता बभूवुः ३८

इत्यमुक्तप्रकारेण मनस्सु गौतमादीनां हृदयेषु ये संशया सन्देहास्तेषां मार्जनेन शोधनेन श्रीवीरेण दत्ता या त्रयाणां पदानां समाहारस्त्रिपदी 'उपन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वे'त्येतत्स्वरूपा पदत्रयी सा एव सुशोभनं बीजं, तस्मात् अङ्गानि च आचारादीनि अङ्गपूर्वाणि तानि

क्रुत्वा । क्रुत्वेति । क्रुपूधातोः पूर्वकाले क्त्वा उदितात्वश्चे नेट् । अङ्गेत्यादि । 'अजाद्यदन्तम्' (२।२।३३) इति द्वन्द्वेऽङ्गशब्दस्य पूर्वनिपातः ॥ ३८ ॥

ततस्ते गणभृतः किं कृतवन्त इत्याह—

विहृत्य भूमौ प्रतिबोध्य सङ्घं चतुर्विधं वीरजिनाज्ञयैते ।
संप्रेषयामासुरिमं भवाब्धेर्निस्तार्य मुक्तिं त्रिदशालयं वा ॥३९॥

एते गणधरा वीरजिनस्य आज्ञया आदेशेन भूमौ पृथिव्यां विहृत्य विहारं कृत्वा चतुर्विधं चतुःप्रकारं सङ्घं साध्व्यादिसमूहं प्रतिबोध्य इमं सङ्घं भवाब्धेः संसारसमुद्रान्निस्तार्य, सन्मार्गप्रवर्तनादिनेति शेषः । मुक्तिं मोक्षं वाऽथवा त्रिदशानां देवानामालयो गृहं त्रिदशालयः स्वर्गस्तं सम्प्रेषयामासुः नियोजयामासुः, प्रापयामासुरिति यावत् । तत्प्रतिबोधिताः केचिन्मुक्तिं केचिच्च स्वर्गं जग्मुरिति भावः । संपपूर्वात् 'इष गतौ' इत्यस्माद्धेतुमण्यन्ताल्लिट् । आमि गुणे च कृते 'एङि पररूपम्' (६।१।९४) इति पररूपम् । इममिति । 'गतिबुद्धि–' (१।४।५२) इत्यादिनाऽणिकर्तुर्णौ कर्मत्वम् ॥ ३९ ॥

अथ भगवतः कृत्योपसंहारमाह—

इत्थं तीर्थपतिः समेत्य विदिताऽपापानगर्यन्तिके
रम्ये श्रीमहसेननामनि वने सन्दर्श्य विश्वेशताम् ।
मिथ्यात्वं परिमार्ज्य याज्ञिकनृणां छित्त्वा च तत्संशयान्
स्वीयं मुक्तिपथप्रचारचतुरं प्रावीवृतच्छासनम् ॥ ४० ॥

तीर्थपतिः श्रीवीरजिनेन्द्रः इत्थमुक्तप्रकारेण विदितायां लोके प्रसिद्धाया अपापानगर्या अन्तिके समीपे रम्ये मनोहरे श्रीः पुष्पादि-

लक्ष्मीस्तद्युक्ते महसेननामनि वने समेत्य आगत्य विश्वेशतां त्रैलोक्येश्वरत्वं सन्दर्श्य सम्यग् दर्शयित्वा याज्ञिकनॄणां यज्ञकर्तृमनुष्याणां गौतमादीनां मिथ्यात्वं परिमार्ज्य संशोध्य, च पुनस्तेषां संशयास्तत्संशयास्तान् छित्त्वा निराकृत्य मुक्तिपथे मोक्षमार्गे यः प्रचारो जनानां सञ्चारणं तत्र चतुरं निपुणं स्वस्य इदं स्वीयं शासनं आदेशं प्रावीवृतत् प्रवर्त्तयति स्म । प्रपूर्वात् 'वृतु वर्तने' अस्माद्धेतुमण्ण्यन्ताल्लुङि चङ् । उर्ऋत् (७।४।७) इति गुणापवादपाक्षिकऋदादेशः । शासनमिति । 'आज्ञाशिष्टिर्निराङ्भ्यो देशो नियोगशासने' इति हैमः ॥ ४० ॥

अथ कविरेतत्काव्यस्याऽविच्छेदप्रवृत्त्यर्थमाशीर्वादात्मकमन्तिममङ्गलमाह—

भव्याम्भोरुहबोधने दिनकरस्त्रिंशत्समा भूतले
मोहाज्ञानतमोभरं विघटयन् यो धर्मराज्यं व्यधात् ।
यश्चाद्धाय निनाय जन्तुनिकरं स्वर्गापवर्गालयं
स श्रीवीरजिनेश्वरो भवतु नः सङ्घस्य च श्रेयसे ॥४१॥

भव्या एव अम्भोरुहाणि कमलानि तेषां बोधने प्रबोधोत्पादने दिनकरः सूर्य इव यः स तथोक्तः, 'हलदन्तात्०' (३।६।९) इति सप्तम्या अलुक् पृथक्पदं वा, एवंविधो यः प्रभुर्भूतले पृथिव्यां मोहश्च मूर्च्छाऽज्ञानं च कुबोधो मोहाज्ञाने तद्रूपं यत्तमोऽन्धकारं तस्य भरमतिशयं विघटयन् दूरीकुर्वन् त्रिंशत्समास्त्रिंशद्वर्षाणि यावत् धर्मराज्यं धर्मसम्बन्धिसाम्राज्यं व्यधात् करोति स्म, च पुनर्यः प्रभुरद्धाय शीघ्रं जन्तुनिकरं भव्यजीवसमूहं स्वर्गापवर्गालयं त्रिदिवमोक्षस्थानं निनाय प्रापयति स्म । स श्रीवीरजिनेश्वरो नोऽस्माकं च पुनः सङ्घस्य साध्व्यादिसमूहस्य चतुर्विधस्य श्रेयसे कल्याणाय भवतु

सम्पद्यताम्। समा इति। 'वर्षं हायनोऽब्दं समाः शरत्' इति हैमः। 'कालाध्वनोः' (२।३।५) इति द्वितीया। अह्नायेति निपातोऽयं 'मङ्क्ष्वह्नाय च सत्वर'मिति हैमकोशोक्तेः। निनायेति। द्विकर्मकाण्णीञ् भूधातोः कर्त्तरि लिट्। श्रेयसे इति। 'क्लृपि संपद्यमाने च' (वा०) इति चतुर्थी, इहान्तिमं काव्यद्वयं शार्दूलविक्रीडितच्छन्दोऽलङ्कृतं, तल्लक्षणं तु प्रागुक्तमेवेति ॥ ४१ ॥

अथ कविः काव्यवर्णननामाख्यानपूर्वकं सर्गसमाप्तिं कथयति—

इति वाचनाचार्यश्रीदयासिंहगणिशिष्यकविरूपचन्द्रविरचिते गौतमीये महाकाव्ये मेतार्यप्रभासदीक्षाग्रहणवर्णनो नामैकादशः सर्गः ॥ ११ ॥

इति स्पष्टम्।

तत्समाप्तौ च समाप्तोऽयं ग्रन्थः ॥

इति वाचनाचार्यश्रीमदमृतधर्मगणिविनेयवाचनाचार्य-क्षमाकल्याणगणिनिर्मितायां गौतमीयप्रकाशाख्यायां गौतमीयमहाकाव्यव्याख्यायां एकादशः सर्गः, तत्समाप्तौ च समाप्तेयं व्याख्या ॥ ११ ॥

अथ ग्रन्थकृत्कृता प्रशस्तिः ।



अथ संवत्सरादौ यस्मिन् पुरे यद्राज्ये चेदं काव्यं यादृशेन च सता कविना निर्मितं तत्सर्वं स्वयमेव ग्रन्थकृदाह—

संवच्छैल-वियद्गजोडुप(१८०७)मिते मासे सहसा[1]ऽऽदिमे
पक्षे दक्षसुता[2]धिनाथदिवसे शुद्धे तृतीयातिथौ ।
श्रीमद्योधपुरे कर्म[3]ध्वजरवौ श्रीरामसिंहे नृपे
श्रीमच्छ्रीजिनलाभसूरिगणभृद्राज्ये पुनर्द्धार्मिके ॥ १ ॥
विद्याचारवरे गणे खरतरे श्रीक्षेमकीर्त्यन्वये
सञ्जाता भुवि शान्ति[4]हर्षगणयः श्रीवाचकाख्याभृतः ।
तच्छिष्या जिनहर्षनाममुनयो वैरङ्गिका[5]ग्रेसरा-
स्तच्छिष्याः सुखवर्द्धना अपि दयासिंहास्तदीयास्तथा॥२॥
तच्छिष्योऽभयसिंहनामनृपतेर्लब्धप्रतिष्ठो महा-
गम्भीराऽर्हतशास्त्रतत्त्वरसिकोऽहं रूपचन्द्राह्वयः ।
प्रख्याताऽपरनामरामविजयो गच्छे स दत्ताख्यया
काव्येऽकार्षमिमं कवित्वकलया श्रीगौतमीये श्रमम् ॥३॥
दोषाः शब्दसमुद्भवाः कतिपयालङ्कारदोषाः पुनः
पद्येष्वेषु मम प्रमादवशतश्चेत् सम्भवेयुः क्वचित् ।

---

१ मार्गशीर्षमासस्येत्यर्थः । २ चन्द्रवासरे इत्यर्थः । ३ राठोड इति । ४ 'शान्तहर्षगणयः' इति काशीमुद्रिते पाठः सोऽसंगतो ज्ञेयः । ५ 'वैरङ्गिको विरागार्हे' इति हैमकोशः ।

गीतार्थास्तु तथापि युक्तिकविताकार्ये श्रमं प्रेक्ष्य मे
'साधो ! साधु कृतं त्वये'ति ददतामुत्साहमेवेप्सितम् ॥४

एतत्पद्यचतुष्टयमपि स्पष्टार्थमिति न व्याख्यातम् ।

॥ इति ग्रन्थकृत्कृता प्रशस्तिः ॥

॥ अथ टीकाकृत्प्रशस्तिः ॥

बाहुज्ञानवसुक्षमा (१८५२) प्रमितिजे वर्षे नभस्युज्ज्वलै-
कादश्यां विलसत्तिथौ कुमुदिनीनाथान्वितायामिह ।
श्रीमज्जेसलमेरुनाम्नि नगरे श्रीमूलराजेश्वरे
राज्यं कुर्वति यादवान्वयरवौ सन्न्यायमार्गाश्रिते ॥ १ ॥
श्रीदेवार्यपदाब्जसेवनपटुश्रीमत्सुधर्मान्वये
पूज्यश्रीजिनचन्द्रसूरिमुनिपे गच्छेशतां बिभ्रति ।
श्रीमत्पाठकरूपचन्द्रवचसामर्थप्रकाशे क्षमा
रम्याऽसौ परिपूर्णतामभजत व्याख्या सदाख्यानभृत् ॥ २ ॥
मारभ्या निधिनेत्रसिद्धिवसुधा (१८२७) संख्ये सुसंवत्सरे
याऽऽसीत्सद्गुणभाजि राजनगरे श्रीगुर्जरत्रावनौ ।
पूज्यश्रीजिनलाभसूरिसुगुरौ सैद्धान्तिकानुचरे
सद्बुद्ध्या समयोचितेन विधिना गच्छावनं कुर्वति ॥ ३ ॥

त्रिभिर्विशेषकम् ।

---

१ भाद्रपदमासे । २ चन्द्रेण युक्तायाम् । ३ मूलकृद्वचसाम् अर्थप्रकाशने समर्था–क्षमा अत एव रम्या इत्यर्थः ।

7406

श्रीमन्तो जिनभक्तिसूरिगुरवश्चान्द्रे कुले जज्ञिरे
तच्छिष्या जिनलाभसूरिमुनिपाः श्रीप्रीतितः सागराः ।
३ तच्छिष्या गुणराजिराजितमहाप्रज्ञाः सुसंविग्नकाः
श्रीमन्तोऽमृतधर्मवाचकवरा जाता धराविश्रुताः ॥ ४ ॥

तच्छिष्यो वरधर्मवासितमतिः भाज्ञः क्षमापूर्वकः
६ कल्याणः कृतवानिमां कृतिजनस्वान्तप्रमोदाप्तये ।
बुद्धेर्मन्दतया प्रमादवशतो वा किंचिदुक्तं मया-
८ ऽत्राशुद्धं परिशोधयन्तु सुधियो मिथ्याऽस्तु मे दुष्कृतम् ॥५॥

॥ इति टीकाकृतां प्रशस्तिः ॥

॥ इति श्रीगौतमीयप्रकाशः सद्भिः पठ्यमानश्चिरं नन्दतात् ॥ श्रीः ॥

7406

इति श्रेष्ठी देवचन्द्र लालभाई जैनपुस्तकोद्धारे ग्रन्थाङ्कः ९०

गौतमीयकाव्यस्थश्लोकानामकारादिक्रमेण सूची ।

श्रीमन्तो जिनभक्तिसूरिगुरवश्चान्द्रे कुले जज्ञिरे
तच्छिष्या जिनलाभसूरिमुनिपाः श्रीप्रीतिवः सागराः ।
३ तच्छिष्या गुणराजिराजितमहाप्रज्ञाः सुसंविग्नकाः
श्रीमन्तोऽमृतधर्मवाचकवरा जाता धराविश्रुताः ॥ ४ ॥

तच्छिष्यो वरधर्मवासितमतिः प्राज्ञः क्षमापूर्वकः
६ कल्याणः कृतवानिमां कृतिजनस्वान्तप्रमोदाप्तये ।
बुद्धेर्मन्दतया प्रमादवशतो वा किंचिदुक्तं मया-
८ ऽत्राशुद्धं परिशोधयन्तु सुधियो मिथ्याऽस्तु मे दुष्कृतम् ॥५॥

॥ इति टीकाकृतः प्रशस्तिः ॥

॥ इति श्रीगौतमीयप्रकाशः सद्भिः पठ्यमानश्चिरं नन्दतात् ॥ श्रीः ॥

इति श्रेष्ठी देवचन्द्र लालभाई जैनपुस्तकोद्धारे ग्रन्थाङ्कः ९०

गौतमीयकाव्यस्यश्लोकानामकारादिक्रमेण सूची।

स

समाप्तेयं गौतमीयकाव्यस्य श्लोकसूची ।

इति श्रेष्ठी देवचन्द्र लालभाई जैनपुस्तकोद्धारे ग्रन्थाङ्कः ९०